

सातवलेकर

अभिनन्दन-ग्रंथ

सातवलेकर अभिनन्दन समिति, दिल्ली

अभिनन्दन समिति

१. श्री हंसराज गुप्त (अध्यक्ष)	१८. श्री अमृतलाल जिदल
२. श्री मौलिचन्द्र शर्मा	१९. श्री दलजीत सिंह
३. श्री जैनेन्द्रकुमार	२०. डा० गुरुवर्षा सिंह
४. श्री प्रकाशबीर शास्त्री	२१. श्री केदारनाथ साहनी
५. श्री रामगोपाल शालवाले	२२. श्री विजयकुमार मलहोत्रा
६. पं० दरियाव प्रसाद	२३. श्री लालचन्द्र अडवाणी
७. डा० लोकेशचन्द्र	२४. श्री बलराज मधोक
८. श्री प्रकाशदत्त भार्गव	२५. श्री ईश्वरचन्द्र गुप्त
९. श्री माधवराव मुले	२६. श्री हरिकृष्ण राठी
१०. डा० गोकुलचन्द्र नारंग	२७. श्री दीवान हरिकृष्ण दास
११. श्री मुरलीधर डालमिया	२८. श्री प्रभुदास डेमला
१२. श्री लक्ष्मणदास अग्रवाल	२९. श्री राजेन्द्रकुमार जैन
१३. श्री जयदयाल डालमिया	३०. श्री कृष्णकान्त चारला
१४. श्री दीनानाथ मलहोत्रा	३१. श्री प्रेमचन्द्र गुप्ता
१५. श्री गिरधरलाल सरफ़	३२. श्री सत्यनारायण बंसल
१६. श्री आनन्द प्रकाश गोयल	३३. श्री ओमप्रकाश जैन
१७. श्री रमेशचन्द्र जैन	३४. पं० त्रिलोक मोहन

३५. श्री देवेन्द्रकुमार कपूर (कोषाध्यक्ष)

३६. श्री वसन्तराव ओक (संयोजक)

परामर्शदाता-मण्डल

डा० सम्पूर्णानन्द	श्री गोविन्द इयम्बक माइनकर
श्री रत्नलाल जोशी	डा० मंगलदेव शास्त्री
आचार्य प्रियव्रत	श्री आचार्य वैद्यनाथ शास्त्री
वेदवाचस्पति	डा० वी० राघवन

सम्पादक
क्षितीश वेदालंकार

प्रकाशक : सातवलेकर अभिनन्दन समिति,
मण्डी हाउस, नई दिल्ली

मुद्रक : नवचेतन प्रेस प्रा० लि०, (लोजिज आफ अर्जुन प्रेस)
शहदानन्द बाजार, दिल्ली

मूल्य : पच्चीस रुपये

समर्पण

देव और देह
के बीच भैं
देश है—
इसे कभी
विस्मरण न करने वाले,
वेद-निष्ठ, वेद-पुरुष
श्री श्रीपाद दामोदर सातवलेकर
के श्री-वरशौं भैं
थह वाङ्मय-पूजा-पृष्ठ
सावदर सभावित है।

दो शब्द

विश्वगुरु भारत की वर्तमान हीनता का मुख्य कारण वे विदेशी विचार हैं, जिनके कारण हमारा समाज भारतीय संस्कृति तथा धर्म के आदिस्रोत वेद को भूल गया। पिछले २० वर्षों में तो पाइचात्य विचारवारा का इतना व्यापक प्रभाव पड़ा है कि आज के शिक्षितवर्ग की चिन्तन-शक्ति कठित हो गई है, आत्मविश्वास लगभग जा चुका है और पराजित मनोवृत्ति के कारण राष्ट्रीयता के सम्बन्ध में भी विचार डांवाडोल हो गये हैं।

ऐसी विषम परिस्थिति से समाज को ऊपर उठाने वाले और अम्बुदय एवं निःश्रेयस का अहितीय मार्ग प्रतिपादन करने वाले वैदिक बाड़मय को पुनः अपने धर्मार्थरूप में प्रतिष्ठित करने का जो प्रयास आचार्य शंकर और महर्षि दयानन्द जैसे विद्वान् सुधारकों ने प्रारम्भ किया था उसी को वर्तमान युग में आगे बढ़ाने का बीड़ा जिस महापुरुष ने उठाया है, वे हैं : श्री पण्डित श्रीपाद दामोदर सातवलेकर। पिछले ५० वर्ष के अपने जीवनकाल में लगभग ४०० पुस्तकें प्रकाशित करके उन्होंने वैदिक साहित्य को जनसाधारण के समक्ष सरल और सुबोध भाषा में प्रस्तुत किया है।

ब्रह्मणि सातवलेकर अपनी जीवन-साधना के १०० वर्ष पूरे करके १०१वें वर्ष में पदार्पण कर चुके हैं। ऐसे निःस्वार्थ, देशभक्त, विद्वान् के प्रति अपना सम्मान प्रकट करना प्रत्येक सहृदय देशवासी का पुनीत कर्तव्य है। इसी हृष्टि से दिल्ली के नागरिक पण्डित सातवलेकर अभिनन्दन समिति का गठन करके सभी वैदभक्त श्रद्धालुजनों की ओर से पण्डितजी का सार्वजनिक सम्मान कर रहे हैं और उन्हें यह अभिनन्दन-ग्रन्थ भेंट कर रहे हैं।

इस ग्रन्थ के सम्पादन में जिन विद्वानों ने सहयोग दिया है उनके प्रति हम कृतज्ञता ज्ञापन करते हैं। हम विशेषतः श्री कितीश वेदालंकार के श्राभारी हैं, जिन्होंने इस ग्रन्थ के लिए सामग्री चयन की और सम्पादन का मुख्य भार अपने ऊपर लिया। उन विद्वान् लेखकों के भी हम कृतज्ञ हैं जिन्होंने पण्डितजी के सम्बन्ध में अपने लेख इस ग्रन्थ के लिए भेजे हैं। सम्पादन एवं प्रकाशन में सहायता देने के लिए श्री बीरेन्द्रसिंह पमार एवं श्री विनोदकुमार बजाज तथा मुख्य पृष्ठ के चित्रकार श्री नाना वाघ भी धन्यवाद के पात्र हैं। नवचेतन प्रेस के कर्मचारी तथा उसके मुख्य अधिकारी श्री छोटेलाल जैन के प्रति हम आभार प्रदर्शित करना नहीं भूल सकते, क्योंकि उन्होंने की तत्परता के कारण यह ग्रन्थ इतने थोड़े समय में प्रकाशित किया जा सका है।

अभिनन्दन-ग्रन्थ एवं समारोह को सफल बनाने में दिल्ली के सैकड़ों वेदानुरागी एवं भारतीय संस्कृति के प्रति निष्ठावान् व्यक्तियों और संस्थाओं ने जो सहयोग तथा आर्थिक सहायता प्रदान की है उसके लिए उन सबके हम विशेष रूप से कृतज्ञ हैं और आभार प्रदर्शित करते हैं। जिन संस्थाओं से हमें उल्लेखनीय सहयोग प्राप्त हुआ है उनके नाम इस प्रकार हैं :

सार्वदेशिक आर्य प्रतिनिधि सभा, सनातन धर्म प्रतिनिधि सभा, भारतीय साहित्य परिषद्, प्रादेशिक रामायण सत्संग मण्डल, नवधार्मिक रामलीला कमेटी, प्रादेशिक हिन्दी साहित्य सम्मेलन और राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ।

समिति के अध्यक्ष महापौर श्री हंसराज गुप्त का मार्गदर्शन सदा सुलभ रहा है इसलिए उनके प्रति भी आभार व्यक्त करना हम अपना कर्तव्य समझते हैं।

वसन्तराव ओक

संयोजक

सातवलेकर अभिनन्दन समिति

अभ्यर्थना

अब से लगभग पचास वर्ष पहले सातवलेकर जी ने बातचीत के किसी प्रसंग में कहा था कि वेद ने मनुष्य की आयु सौ वर्ष बताई है, मैंने वेद के अनुसार अपना जीवन बिताना प्रारम्भ कर दिया है, अब यदि सौ वर्ष से पूर्व मेरा प्राणान्त हो जाए तो मैं मरने से पहले लिख जाऊंगा कि वेद भूले हैं। बात यद्यपि विनोद में कही गई थी, किन्तु उससे भी उनके हड़ आत्म-विश्वास, परीक्षण-प्रैम और वेद के प्रति आस्था का परिचय हो जाता है। अब वे अपने जीवन के १०१वें वर्ष में 'जीवेम शरदः शतम्' ही नहीं, प्रत्युत 'भूयश्च शरदः शतात्' के प्रतीक बनकर वेद की सत्यता को ही चरितार्थ कर रहे हैं। वेद के साथ अपने जीवन को एकाकार कर देने वाला ऐसा अन्य व्यक्ति दुर्लभ है।

इसी वेद-पुरुष के स्वागतार्थ जब अभिनन्दन-समिति का निर्माण हुआ और इस अवसर पर अभिनन्दन-ग्रन्थ प्रकाशित करने की योजना बनी तब ग्रन्थ के सम्पादक का भार मुझे सौंपा गया जिसे मैंने गुरुपूजा का अलभ्य अवसर मान कर सहर्ष स्वीकार कर लिया।

अभिनव वेदव्यास, ब्रह्मिंशु श्री सातवलेकर के जीवन की तीन भागों में बांटा जा सकता है : (१) चित्रकला का व्यवसाय, (२) राष्ट्रीय आनंदोलन में भाग, और (३) वेद का स्वाध्याय। इन तीनों दिशाओं में ही उन्होंने अपने कर्तृत्व द्वारा विशेष मानदण्ड स्थापित किए हैं। यीवनकाल में चित्रकला के व्यवसाय द्वारा वे पांच हजार ६० मासिक तक अर्जित करते रहे हैं। राष्ट्रीय आनंदोलन में सक्रिय भाग लेकर और्ध रियासत में उन्होंने जिस प्रकार स्वराज्य के स्वर्ण को साकार कर दिखाया, वह अपने आप में अत्यन्त अद्भुत और प्रेरणादायक ऐतिहासिक घटना है। गंगा, यमुना और सरस्वती में से जैसे सरस्वती नदी त्रिवेणी संगम में अदृश्य रहती है, वैसे ही जीवन के उत्तरार्ध में सातवलेकर जी की जीवन-त्रिवेणी में चित्रकला तो अदृश्य हो गई, किन्तु वही सुख्ती बनकर वेद-स्वाध्याय के भागीरथी-प्रवाह में अपना आत्म-दान कर गई।

स्वाध्याय की इस पतित-पावनी भगवती वेद-भागीरथी के विपुल प्रवाह का बया कहना ! समस्त अग-जग आप्यायित। उसी का यह परिणाम है कि वैदिक वाङ्मय के सम्बन्ध में अब तक चार सौ से ऊपर ग्रन्थ इस वेद-पुरुष द्वारा प्रणीत और प्रकाशित हो चुके हैं। और भगवती जाह्नवी का यह प्रवाह इस आयु में भी अविश्वान्त गति से जारी है।

ऐसे वेद-पुरुष का अभिनन्दन-ग्रन्थ अन्य अभिनन्दन-ग्रन्थों से भिन्न होना आवश्यक था। वैसा ही प्रयत्न यहां किया गया है। पृष्ठ पलटकर अलमारी में सजाकर रख दिया जाए, यह प्रयोजन इसका नहीं है। वेद के स्वाध्याय से और मनोमन्थन से जो नवनीत इस ब्रह्मिंशु ने निकाला है उसका आस्वाद बारम्बार उन विचारों का स्वयं अध्ययन और मनन करने से ही सम्भव है। तभी यह विदित हो सकेगा कि यह नवनीत व्यक्ति, समाज और राष्ट्र के लिए कितना पुष्टिकारक है।

ग्रन्थ तीन खण्डों में विभक्त है। प्रथम खण्ड में पण्डितजी की संक्षिप्त जीवनी है। द्वितीय खण्ड में उनकी विचारधारा को स्पष्ट करने के लिए कुछ छुने हुए उन्होंने के लेख दिए गए हैं। सैन्य-रचना और सैन्य-व्यवस्था सम्बन्धी दो लेखों को एक लेख बना दिया है। तीसरे खण्ड में पण्डितजी के सम्बन्ध में कुछ अन्तरंग संस्मरण तथा उनके कार्य के मूल्यांकन सम्बन्धी लेख दिए गए हैं।

परामर्शदाता-मण्डल में सुग्रहीत-नामधेय कृतविद्या विद्वानों ने अपने परामर्श से उचित सहयोग देकर कृतार्थ किया है, इसके लिए उन सबका अतिशय आभारी है। वेद-पुरुष की इस अभ्यर्थना का अवसर मिलने से कौन अपने आपको गौरवान्वित नहीं समझेगा ?

क्षितीश वेदालंकार

सम्पादक

अनुक्रम

खण्ड—१

[जीवनी : पृष्ठ ८ से पृष्ठ ५०]

१. जन्म और बाल्यकाल	६
२. शिक्षा और दीक्षा	११
३. चित्रकला से प्रेम	१३
४. महानगरी बस्ती में	१४
५. दो विशिष्ट घटनाएं	१५
६. हैदराबाद में	१७
७. विवेकविधिनी	१८
८. तिलक और सूरत कांग्रेस	२१
९. पशुबलि-विरोध	२२
१०. भुतहा महल	२३
११. गुरुकुल कांगड़ी में	२५
१२. गिरफतारी और मुकदमा	२६
१३. लाहौर के लालागृह में	३२
१४. आंध रियासत में	३६
१५. कांग्रेस में	३८
१६. रियासत में लोकतंत्र	३९
१७. संघ-निष्ठा	४०
१८. वेद-साधना	४३

खण्ड—३

[अभिभासा : पृष्ठ २०३ से २५०]

१. वेद-व्याख्या के मार्ग को फिर से प्रशस्त करने वाला महापुरुष	
२. वेद के लिए संन्यास	
३. ज्ञान-सागर के छीटे	
४. कुछ प्रेरक प्रसंग	
५. पंडित जी की सहृदयता	
६. मेरे चित्रकार पिता	
७. दाम्पत्य जीवन के कुछ कटु-मधु प्रसंग	
८. हमारे आशुतोष वाबा	
९. मैं अपनी भावना कैसे व्यक्त करूँ ?	
१०. यमराज के सिर पर पांव	
११. धीर और ज्ञानी पं० सातवलेकर	
१२. वैदिक पुरुष	
१३. सातवलेकर के प्रेरणा-स्रोत	
१४. सातवलेकर का जीवन-दर्शन	
१५. बृहस्पति-सम व्यक्तित्व	
१६. सातवलेकर जी की वैदिक विचारधारा	
१७. ब्रह्मसत्रस्याहत्तरि:	
१८. अर्वाचीन कृषि	
१९. विभूति-पुरुष	
२०. दिव्यज्योति	
२१. सदा पात्र तु वेदविद्	
२२. श्रद्धा प्रसूनोच्चयः	

१६. स्वाध्यायमण्डल	४३
२०. पुरुषार्थ बोधिनी	४४
२१. आजादी के बाद	४६
२२. पारडी की गोद में	४७
२३. धन्यो गृहस्थाश्रम :	४७
२४. लोक गौरव	४८
२५. पण्डितजी के समकालीन	४९

खण्ड—२

[विचारधारा : पृष्ठ ५१ से २०२]

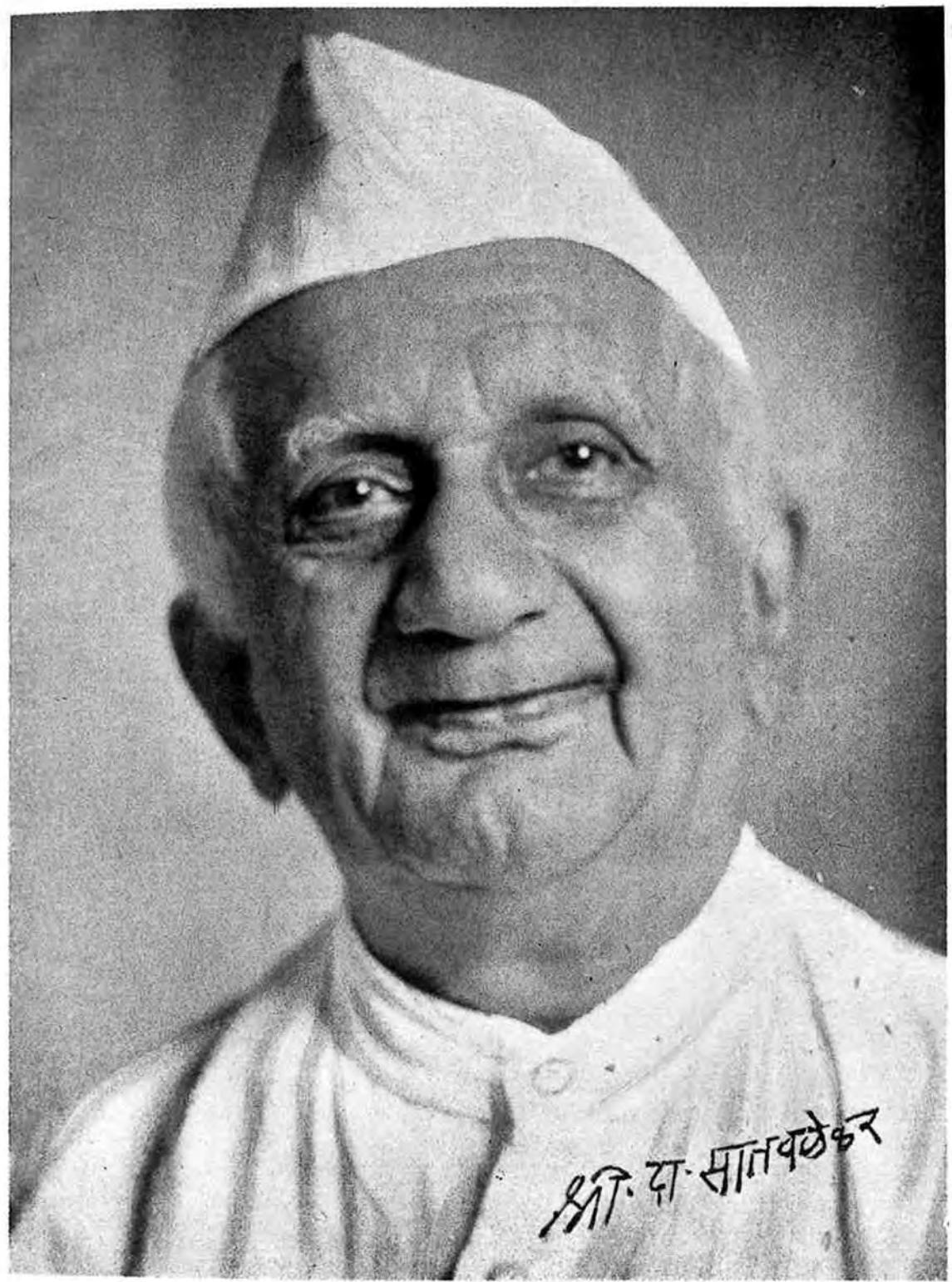
१. वैदिक राष्ट्रगीत	५३
२. वैदिक प्रार्थनाओं की श्रोजस्विता	७१
३. वैदिक राज्य-शासन	७६
४. वैदिक सैन्य-व्यवस्था	८३
५. वैदिक अर्थ-व्यवस्था	११६
६. वैदिक समाजवाद	१३२
७. वैदिक 'स्व'-राज्य	१४६
८. ऋषियों के तप से राष्ट्र का निर्माण	१६६
९. अध्यात्म ज्ञान से व्यक्तिक और राष्ट्रीय उन्नति	१८२

१०. सम्पूर्णानन्द	२०५
११. आचार्य प्रियश्रत वेदवाचस्पति	२०८
१२. श्री प्रह्लाद केशव अत्रे	२१०
१३. श्री नारा० स० करंदीकर	२१२
१४. आचार्य वैद्यनाथ शास्त्री	२१४
१५. श्री माधव सातवलेकर	२१५
१६. श्रीमती सरस्वती बाई सातवलेकर	२१८
१७. सौ० लतिका सातवलेकर	२२१
१८. श्री वसन्त सातवलेकर	२२३
१९. आचार्य अभयदेव	२२८
२०. श्री धर्मदेव विद्यामार्तण्ड	२२९
२१. श्री हरिशरण सिद्धांतलंकार	२३१
२२. श्री वीरेन्द्रसिंह पमार	२३३
२३. श्री रा. टिकेकर	२३६
२४. डा० सुधीर कुमार	२४०
२५. श्री श्रुतिशील शर्मा	२४२
२६. श्री युधिष्ठिर भीमांसक	२४५
२७. श्री कन्हैयालाल माणिकलाल मुंशी	२४७
२८. श्री माधवसदाशिव गोलवलेकर	२४७
२९. श्री सत्यपाल शर्मा	२४८
३०. श्री सी. आर. स्वामिनाथन	२४९
३१. श्री आदित्यनाथ भा०	२५०

खण्ड—१
जीवनी

स्तुता मया वरदा वेदमाता
प्रचोदयन्तां पावमानी द्विजानाम् ।
आयुः प्राणं प्रजां पशुं कीर्ति इविणं
ब्रह्मवर्चसम् भृत्य दत्वा भजत भ्रह्मलोकम् ॥
(अथर्ववेद १६।७२।१)

द्विजों को पवित्र करनेवाली, वरदायिनी,
वेदमाता की मैने आराधना की है । वह
वेदमाता मुझको आयु, प्राणशक्ति अर्थात् बल,
प्रजा अर्थात् सन्तान, पशु, कीर्ति, धन और
ब्रह्मज्ञान देकर मोक्ष पद तक पहुंचावे ।



महात्मा गांधी

वेदमूर्ति

पं० श्रीपाद दामोदर सातवलेकर

सन् १८५७ की राज्यकान्ति जिस तीव्रता के साथ उठी थी उसी तीव्रता के साथ अंग्रेज सर-

कार उसका दमन करने पर तुल गई। इस राज्यकान्ति को गदर और विद्रोह का नाम देकर विदेशी हक्कमत को अपना दमन-चक्र और तेज करने का अवसर मिल गया। युगों से चली आई जड़गां कुछ समय के लिए दूर हुई थी, किन्तु आतंक और अत्याचार के सामने जनता का वह क्षणिक उत्ताल न ठिक सका और निर्लंजनता के साथ अट्टहास करता हुआ ब्रिटिश साम्राज्य पवित्र मारुभूमि पर अपने नाखून और दांत और तेजी से गाड़ने में सफल हो गया।

परन्तु एक दशक भी न बीत पाया था कि देश की प्रसुप्त मनीषिता फिर कुलबुलाने लगी। देश का जो राजनीतिक बातावरण सर्वथा अन्धकारमय हो चुका था और एकवार्षी तो लगता था कि इसका सौभाग्य-सूर्य कभी उदय नहीं होगा, उसीमें यत्न-तत्र ज्योति के स्फुलिंग चमकने लगे। भारतवासियों के शरीर और मन को पराधीनता के पास में पूरी तरह जकड़ने के लिए अंग्रेज जिस प्रकार अकुत्तोभय होकर प्रयत्न करते रहे थे उसी की प्रतिक्रिया-स्वरूप देश के विचारकों में स्वतंत्र-चिन्तन और नव-चेतना अंकुरित हो रही थी। आश्चर्य यह है कि भारत का जो पूर्वी तट और पश्चिमी तट विदेशियों के आधिपत्यमें सबसे पहले आया था, उसी में इस नव-चेतना के अंकुर सबसे पहले फूटने लगे। बंगाल और महाराष्ट्र इस नव-चेतना के आधार-स्तम्भ बने।

जन्म और बाल्यकाल

भारत का पश्चिमी तट और उसका निकटवर्ती प्रदेश इतिहास में अपनी गरीबी तथा पथरीली जमीन के लिए विख्यात रहा है। इसी भू-भाग में रत्नागिरि नाम का जिला है। इस रत्नागिरि जिले ने ऐसे कई नर-रत्नों को जन्म दिया जिन्होंने नए इतिहास का निर्माण किया है। सह्याद्रि के दक्षिण में हिरण्यकेशी नदी बहती है। इस पर्वत की उपत्यका में दक्षिण की ओर पग बढ़ाते ही प्रकृति का जैसा सुन्दर रूप दृष्टिगोचर होता है वह किसी भी व्यक्ति का मन मोह सकता है। इसी रमणीय प्रदेश में सावन्तवाड़ी रियासत थी। इसी सावन्तवाड़ी से डेढ़ मील दूर कोजगांव में दामोदर-भट्ट और लक्ष्मीबाई के घर भाद्रपद कृष्णा पाण्डी १७८६ शक संवत्, तदनुसार ११ सितम्बर १८६३ गुरुवार के दिन जिस कुलदीपक का जन्म हुआ, वही आगे जाकर पं० श्रीपाद दामोदर सातवलेकर के

नाम से विख्यात हुआ ।

बालक का मूल नाम है श्रीपाद, किन्तु महाराष्ट्र की परम्परा यह है कि मूल नाम के साथ पिता का नाम भी लगाया जाता है, इसलिए श्रीपाद के साथ दामोदर का नाम भी जुड़ गया । भट्ट दामोदर पन्त और लक्ष्मीबाई के कुल के साथ 'सातवलेकर' उपनाम कब और कैसे जुड़ गया, यह विदित नहीं हो सका । इसे भी एक संयोग ही समझना चाहिए कि जिस तिथि को श्रीपाद का जन्म हुआ उसी तिथि को गीता-जयन्ती पड़ती है और भागवत सम्प्रदाय वाले महाराष्ट्र भर में ज्ञानेश्वरी-जयन्ती के रूप में उसे सोत्साह मनाते हैं ।

दामोदर पन्त और लक्ष्मीबाई के जितने भी बच्चे हुए वे सभी अत्पवय में अकाल मृत्यु को प्राप्त हो गए । उनमें दो वर्ष से अधिक कोई भी जीवित न रहा । तब लक्ष्मीबाई ने नरसोबावाड़ी के भगवान् दत्तात्रेय की मनोती मानी कि यदि मेरा अगला बच्चा जीवित रहा तो उसका उपनयन तेरे ही चरणों में आकर कहंगी । उसी मनोती की स्मृति में, और बच्चा भावी जीवन में संस्कार सम्पन्न बने, इस भावना से बालक का नाम श्रीपाद रखा गया ।

सातवलेकर घराने को कोलगांव, कुणकेरी और सावन्तवाड़ी—इन तीन गांवों के पौरोहित्य का अधिकार प्राप्त था । यह कुल अपनी आचार-निष्ठा और वेद मंत्रों के शुद्ध उच्चारण के लिए विख्यात था । श्रीपाद के परदादा श्रीकृष्णराव अपने वसिष्ठ गोत्र की और कुल की वैदिक मर्यादा का पालन करते हुए अपना अधिकांश समय स्वाध्याय और जप आदि धार्मिक कार्यों में व्यतीत करते थे । परन्तु यह उस युग की विशेषता कहिए या अपने यजमानों के प्रति प्रेम कहिए, चार पैसे दक्षिणा प्राप्त करने के लिए उन्हें मीलों पैदल चलने में संकोच नहीं होता था । गांव में उनकी अच्छी प्रतिष्ठा थी । श्रीकृष्णराव के पुत्र और श्रीपाद के दादा श्री अनन्तराव ने भी अपनी कुल मर्यादा को अक्षुण्णा रखा । अनन्तराव के तीन पुत्र हुए, जिनमें ज्येष्ठ थे दामोदर पन्त । श्री दामोदर पन्त के चार पुत्रों के बाद श्रीपाद की प्राप्ति हुई थी ।

बालक श्रीपाद दो वर्ष का हो गया, पर उसका सिर सीधा खड़ा नहीं होता था । इस उम्र में अक्सर बच्चे अपना सिर सांप के फण के समान ऊंचा उठाकर जिज्ञासा भरी आंखों से इधर-उधर देखने लगते हैं, किन्तु श्रीपाद का सिर सीधा नहीं होता था, अलबत्ता स्थिर रहता था, भले ही धड़ इधर-उधर हिलता रहे । चौथे वर्ष तक सिर सामान्य स्थिति में आ गया । बालक ने इधर-उधर धूमना फिरना भी शुरू कर दिया । पांचवें वर्ष तक बालक में स्मृति और धारणा शक्ति के चिह्न स्पष्ट दीखने लगे । उसका उच्चारण अपनी आयु के अन्य बच्चों की अपेक्षा अधिक स्पष्ट था । वह इलोक और स्तोम बोलने लगा । सातवें वर्ष में उसने थोड़ा-बहुत पढ़ना लिखना शुरू किया ।

बालक के बाद बारहवें दिन जो जन्मपत्री बनाई गई उसमें सोलहवें वर्ष में मृत्यु का योग लिखा था । यह देखकर पिता दामोदर भट्ट को बहुत गुस्सा आया और क्रोध में आकर जन्मपत्री ही फाड़ डाली । 'हमारे भाग्य में भगवान् ने पुत्र-सुख निकाला ही नहीं' यह जानकर उन्हें बहुत दुःख हुआ ।

वैसे भी बालक श्रीपाद बचपन में बहुत बीमार रहता था । ऐसा शायद ही कोई संक्षम बीतता जब वह बीमार न पड़ता हो । जब वह बीमार पड़ता, घर के सभी सदस्य चित्तित होकर उसकी चारपाई के चारों ओर बैठ जाते । माता-पिता पूर्व पुत्रों की मृत्यु का स्मरण करके श्रीपाद

के जीवन के विषय में शंकाकुल हो उठते। परन्तु जब श्रीपाद सात वर्ष तक जीवित रहा तो पिता ने आठवें वर्ष में नरसोबाबाड़ी में जाकर बालक का उपनयन करने का निश्चय किया। माता पहले ही वैसी मनौती मान ढुकी थी।

श्रीपाद, उसकी माता, घर के दो बड़े आदमी बैलगाड़ी में बैठकर नरसोबाबाड़ी की ओर चले। पिता दामोदर भट्ट लालटेन हाथ में लेकर बैलगाड़ी के साथ पैदल ही चले। प्रतिदिन सवेरे आठ बजे यात्रा शुरू होती और रात के आठ बजे तक चलती रहती। इसके बाद किसी उपयुक्त स्थान पर विश्राम करते। इस प्रकार पांचवें दिन नरसोबाबाड़ी पहुंचे। वहां उपनयन हुआ और बालक को यज्ञोपवीत धारण करवा दिया गया। उसके बाद सब लोग कौल्हापुर गए और वहां अपनी कुलदेवता अम्बाबाई को चरणरूप लेकर कौलगाव लौट आए।

शिक्षा और दीक्षा

उपनयन के पश्चात् बालक की जिम्मेदारी पड़ गई। उसे दोनों समय संधा करनी पड़ती। अपने बर्तन स्वयं मांजने पड़ते और अपने कपड़े स्वयं धोने पड़ते। अपना विस्तर स्वयं विछाना और स्वयं लपेटना पड़ता। इस प्रकार स्वावलम्बन की शिक्षा अनायास मिलती गई।

उन दिनों वेदपाठी ब्राह्मण-कुल में बालक को पांचवां वर्ष लगते ही सवेरे स्नान कर बारह सूर्यनमस्कार करने पड़ते थे। सूर्यनमस्कार दस-बारह आसनों के समूह के रूप में किए जाने वाले व्यायाम का नाम है। बालक श्रीपाद को भी पांचवें वर्ष से ही सूर्यनमस्कार करना पड़ा। सूर्य की ओर देखकर जल छाने की जो प्रथा हिन्दुओं में प्रचलित है, यह कदाचित् उसी सूर्यनमस्कार वाली परम्परा का अवशेष है, जिसमें से व्यायाम वाला तत्व अब सर्वथा नष्ट हो चुका है।

आठवें वर्ष में पदार्पण करते ही बालक को सावन्तवाड़ी के मराठी स्कूल में प्रविष्ट करा दिया गया। बालक की योग्यता देखकर अध्यापक ने श्रीपाद को दूसरी श्रेणी में बैठने की अनुमति दे दी। उसी स्कूल में बालक छठी कक्षा तक पढ़ता रहा और अपनी कक्षा में कभी प्रथम और कभी द्वितीय आता रहा।

चौदह वर्ष का होते न होते बालक श्रीपाद ने छठी कक्षा पास कर ली। मराठी स्कूल में छठी तक ही पढ़ाई होती थी। इसके बाद इस स्कूल से छुट्टी हो गई। सावन्तवाड़ी में ही हाईस्कूल भी था। उसके मुख्याध्यापक थे श्री पाणन्दीकर। वे विद्यार्थियों की सदा सहायता किया करते थे। कई विद्यार्थियों की फीस वे अपने वेतन में से दिया करते थे और कइयों को पुस्तकें भी अपने खर्च से ही लाकर दिया करते थे। ये पाणन्दीकर ही आगे चलकर प्राच्य विद्याविशारद डा० राम-कृष्ण गोपाल भंडारकर के दामाद बने थे।

बालक श्रीपाद की भी हाईस्कूल में भर्ती होने की इच्छा हुई। श्रीपाद ने अपने पिता से कहा। परन्तु श्रीपाद के पिता ने कहा: "हमें अंग्रेजी शिक्षा की आवश्यकता नहीं है। हम तुम्हारे लिए इतनी फीस नहीं दे सकते।" यह ध्यान देने की बात है कि उस समय अंग्रेजी स्कूल की फीस केवल आठ आने मासिक थी।

इसके बाद श्रीपाद ने मुख्याध्यापक श्री पाणन्दीकर से मिलकर स्कूल की फीस माफ कर देने की प्रार्थना की। किन्तु इसकी गुंजाइश नहीं थी, इसलिए उन्होंने स्पष्ट कह दिया कि फीस

माक नहीं हो सकती। श्रीपाद अंग्रेजी स्कूल में केवल ६ दिन ही रह पाया था कि इसके बाद उसे वहाँ से हटना पड़ा।

उसने घर पर ही अंग्रेजी पढ़ने का निश्चय कर लिया। वह अपने मित्रों से अंग्रेजी की पाठ्य-पुस्तकें मांग लाता और उन्हीं से पूछ-पूछ कर पढ़ता रहता। सावन्तवाड़ी में ही एक विद्वान् सज्जन थे—श्री बलवन्तराय लुकतुके। बाद में उनके पास जाकर अंग्रेजी पढ़नी शुरू की। श्री लुकतुके की पढ़ने की शैली इतनी अच्छी थी कि श्रीपाद एक वर्ष में ही अंग्रेजी की चार रायल रीडरें खत्म कर गया। इसके बाद भी अंग्रेजी का स्वयं अध्ययन जारी रहा। इस प्रकार दो-तीन वर्ष में ही श्रीपाद को इतनी अंग्रेजी आ गई कि वह किसी भी विषय पर अंग्रेजी की पुस्तकें पढ़कर समझ सकता था और साधारण पत्रव्यवहार कर सकता था। पर अंग्रेजी में बातचीत करने या भाषण देने का न उसे अभ्यास था, न ही प्रवृत्ति थी।

घर पर ही कुछ कृत्यवैदिक सूक्त और पौरोहित्य में काम आने वाला कर्मकाण्ड सीख लिये। सावन्तवाड़ी के हाईस्कूल में चित्तामणि केलकर नामक संस्कृत के विद्वान् अध्यापक थे। उनसे संस्कृत व्याकरण के ग्रन्थ पढ़ने शुरू किए। धीरे-धीरे सिद्धांत-कौमुदी, मनोरमा और परिभाषेन्दु-शेखर जैसे प्रीढ़ ग्रन्थों और अन्त में महाभाष्य तक पढ़ने का नम्बर आ गया।

अब श्रीपाद बालक नहीं रहा था। वह किशोरावस्था को पार कर यौवन में पदार्पण कर चुका था। नव-उत्साह और नई उमंग से उसका हृदय आंदोलित हो रहा था। संस्कृत के प्रति अनुराग लगातार बढ़ रहा था। यौवन का वेग क्रियाशीलता में परिणत होना चाहता था। इसलिए श्रीपाद ने एक संस्कृत व्याख्यानमंडल की और संस्कृत वाग्विविधिनी सभा की स्थापना की। इसका उद्देश्य यह था कि सप्ताह में कम से कम एक दिन सब सदस्य मिलकर संस्कृत में व्याख्यान दें और संस्कृत में ही बादविवाद करें।

श्रीपाद के पिता केवल वेदपाठी ब्राह्मण ही नहीं थे, प्रत्युत कलाओं की ओर भी उनकी अभिरुचि थी और वे रवयं एक अच्छे चित्रकार थे। वही संस्कार श्रीपाद को भी मिला था। १८६७ में सावन्तवाड़ी में जब एक कला और उद्योग-शिक्षा का स्कूल खुला तो श्रीपाद उसमें प्रविष्ट हो गया और तब उसके कला-सम्बन्धी संस्कार को चरितार्थ होने का अवसर मिल गया।

चित्रकला से प्रेम

सावन्तवाड़ी में उन दिनों एक कमरे का किराया एक रुपया वार्षिक था। चित्रकला में निपुणता प्राप्त करने के लिए श्रीपाद ने सावन्तवाड़ी में आकर रहना उचित समझा। इसलिए कोलगांव से आकर वहाँ एक कमरा किराये पर लेकर रहने लगा। बेवल होली या गणेशोत्सव के अवसर पर ही कभी घर जाना होता था, वह भी दो-चार दिन के लिए। वहाँ भी अमराई में बैठकर प्राकृतिक दृश्यों का चित्रण करना ही श्रीपाद का मुख्य काम रहता था। चित्र बनाते-बनाते कभी-कभी वह इतना ध्यानमग्न हो जाता कि खाने-पीने की सुध भी भूल जाता। तब माँ लक्ष्मीबाई हाथ पकड़ कर भोजन के लिए ले जाती।

छठी कक्षा उत्तीर्ण करने के पश्चात् श्रीपाद के १६वें वर्ष की कल्पना मातापिता के मन में उद्विग्निता पैदा कर रही थी। जन्मकुण्डली में बताई गई अकाल मृत्यु की बात से वे अहर्निश बेचैन

रहते थे। पर दोनों को जगन्नियन्ता पर विश्वास भी कम नहीं था। श्रीपाद की दीर्घायु के लिए भगवान् से प्रार्थना करते रहते थे। जब श्रीपाद १६ वर्ष सकुशल पार कर गया और उसने संस्कृत वाचिकवर्धिनी सभा की स्थापना की तब माता-पिता को विश्वास होने लगा कि उनका बालक भगवान् का अमूल्य प्रसाद बनकर आया है। उन्हीं दिनों पिता ने सावन्तवाड़ी में सकेश्वर मठ के शंकराचार्य की उपस्थिति में श्रीपाद के मुख से 'धर्म' पर संस्कृत में धाराप्रवाह भाषण सुना और शंकराचार्य ने उसकी मुक्तकण्ठ से प्रशंसा की तो पिता का हृदय हर्ष से गदगद हो उठा और वे मन ही मन अपने सौभाग्य पर विभोर हो उठे।

धीरे-धीरे श्रीपाद घर के कामों में हाथ बंटाने लगा। रात को यदि कहीं पूजा-पाठ के लिए जाना होता तो पिता श्रीपाद को ही भेज देते। पिता चाहते थे कि श्रीपाद घर पर रह कर ही कुलक्रमागत पौरोहित्य की परम्परा का पालन करे। परन्तु पौरोहित्य का काम श्रीपाद की हृचि के अनुकूल नहीं था। उसे दक्षिणा के लिए किसी के आगे हाथ फैलाना अच्छा नहीं लगता था। यों भी उदरनिवाही की इष्टि से उस समय पौरोहित्य लाभदायक वृत्ति नहीं रह गई थी। जब चित्रकला की ओर श्रीपाद का रूपान हुआ और धीरे-धीरे इसमें वह बुन्दुपन्न होने लगा—तो उसने देखा कि चित्रकला अर्थ की दृष्टि से भी लाभदायक धन्वा बन सकता है। वह लघु आकार के फोटो के आधार पर बड़े रेखाचित्र बनाने लगा और ऐसे चित्रों पर उसे पांच से लेकर दस रूपये तक की प्राप्ति होने लगी। जिन दिनों एक रुपये का तीस सेर बढ़िया चावल मिलता हो, उन दिनों इस पांच या दस रूपये की छोटी राशि को भी छोटी नहीं कहा जा सकता।

सावन्तवाड़ी के रेजिष्टरेष्ट वेण्ट्राप द्वारा चित्रकला सिखाने के लिए खोले गए विद्यालय में श्रीपाद अपने शिक्षक श्री मालवणकर का प्रिय छात्र रहा। श्री मालवणकर प्राकृतिक दृश्यों को अंकित करने में बहुत कुशल थे। उन्होंने अपनी कला अपने प्रिय शिष्य को प्रेमपूर्वक सिखाई। तीन वर्ष तक चित्रकला सीखने के पश्चात श्रीपाद हस कला में इतना निपुण हो गया कि उसे लगने लगा—अब सावन्तवाड़ी में सीखने को कुछ शेष नहीं रहा और मुझे सावन्तवाड़ी की अपेक्षा किसी अन्य ऐसे बड़े स्थान पर जाना चाहिए जो चित्रकला का भी तीर्थ हो और जहां जाकर मैं अपनी इस कला का और विकास कर सकूँ। साथ ही श्रीपाद ने यह भी देखा कि वेदाध्यासी लोग 'अलक्ष्मीमें नश्तु' का पाठ करके दारिद्र्य को दूर भगाने की कामना तो करते हैं, परन्तु द्रोणाचार्य की तरह उनका ब्राह्मणत्व दारिद्र्य का पर्यायवाची ही बना रहता है। इस स्थिति से उबरने का भी एकमात्र उपाय यहीं था कि सावन्तवाड़ी के सीमित क्षेत्र से निकलकर किसी वृहत् क्षेत्र में इस कला की साधना की जाए और इसके अर्थकारिता वाले पहलू का भी परीक्षण किया जाए।

भारत के पश्चिमी तट के निवासियों में उन दिनों जो भी महत्वाकांक्षी तरुण होते थे, उन सबको अपने स्वप्नों की लीलास्थली के रूप में बम्बई नगर ही दृष्टिगोचर होता था। श्रीपाद को भी बम्बई की ललक लगी। पिता से इच्छा प्रकट की। पिता नहीं चाहते थे कि अपनी आँखों के आगे से अपनी आँखों के तारे को ओफल होने दें। पिता ने कहा : "यहीं रह कर घर का काम देखो। कहीं बाहर जाने की मत सोचो, क्योंकि जो भी इस घर से बाहर गया, वह किर कभी लौट कर घर नहीं आया।"

पिता का यह कथन अक्षरशः सत्य निकला।

महानगरी बम्बई में

सावन्तवाड़ी आठ स्कूल के अध्यापक भी चाहते थे कि श्रीपाद आगे की पढ़ाई के लिए बम्बई जाए। श्रीपाद स्वयं भी उत्सुक था ही, परन्तु घर की परिस्थिति इसकी अनुमति नहीं देती थी। श्रीपाद के पास आत्मविश्वास की कमी नहीं थी। परन्तु उसकी जरूरत तो जब पड़ती, तब पड़ती; इस समय जरूरत थी धन की। अक्सरात् एक उदार सज्जन ने श्रीपाद के पिता के पास पहुँच कर कहा : “मैं चाहता हूँ कि श्रीपाद जैसा होनहार युवक अधिक से अधिक योग्य बने। मैं उसे दस रु० मासिक भेजता रहूँगा। आप उसे बम्बई भेज दीजिए।” इस पर दामोदरपन्त श्रीपाद को बम्बई भेजने पर सहमत हो गए।

श्रीपादराव वेंगुर्ला बन्दरगाह से एक रुपया खर्च करके जहाज द्वारा बम्बई पहुँचे और बम्बई के ग्रांटरोड भाग के स्लीटर रोड पर अर्थंकर चाल में अपने पिता के मित्र श्री बालकृष्ण पंत बाबा जाभेकर (प्रसिद्ध उद्योगपति श्री लक्ष्मणराव किलोस्कर की पत्नी के भाई) के पास रहने लगे। श्री जाभेकर सदा निर्धन विद्यार्थियों की सहायता किया करते थे। श्रीपादराव घर की सीढ़ियों के नीचे एक तिकोने कमरे में रहते, परन्तु सदा इस बात के लिए जागलक रहते कि उनके किसी कार्य से जाभेकर परिवार के किसी सदस्य को कोई कष्ट न हो।

१८६० में श्रीपादराव बम्बई के जे० जे० स्कूल आफ आर्ट्स में दाखिल हुए। उस समय उनकी आयु २३ वर्ष की थी। स्कूल का अप्रेज प्रिसिपल उन्हें इनसे भी एक वर्ष छोटा था, नाम था उसका जॉन ग्रिफिथ। वाइस प्रिसिपल था ग्रीनबुड। श्रीपादराव स्कूल में जाने से पहले रोज सर्वेरे नित्यकर्म के पश्चात् चित्र बनाने के आडंड लेने के लिए चार-पांच घरों का चक्कर लगाया करते थे। फुरसत के समय संस्कृत में लेखन और पठन का काम भी जारी रहता।

उस समय उनके पास जो दस रु० का मनीआर्डर घर से आता था उसका खर्च इस प्रकार होता था : ६ रु० भोजन के लिए ढाबा, १ रु० रेलभाड़ा, १ रु० स्कूल फीस और २ रु० ऊपरी खर्च। इसके अलावा फोटो को एनलार्ज करके बनाए गए चित्रों से भी उन्हें पांच-दस रु० प्रतिमास मिल ही जाते थे। उस समय ६ रु० में जैसा उत्तम भोजन मिलता वैसा आज साठ रु० प्रतिमास देने पर भी सम्भव नहीं है। इसी ६ रु० में भरपूर दूध, दही और धी मिलता था और हर त्यौहार पर तथा रविवार के दिन विशिष्ट भोजन।

जे० जे० आर्ट्स स्कूल में दूसरे वर्ष से छात्रवृत्ति मिलने लग गई। फोटो को बड़ा करके चित्र बनाने से भी कुछ पैसे मिल ही जाते थे। इसलिए दूसरे वर्ष से भ्र से पैसा भंगवाना बन्द कर दिया और पूर्णतः स्वावलम्बी बन गए।

उन्हीं दिनों देश के कलाक्षेत्र में प्रथितयश चित्रकार राजा रवि वर्मा भी एक बार बम्बई आए थे। उनके नाम की ओर उनकी कला की देश में धूम थी। उनके आगमन की बात सुनकर श्रीपादराव अपने कुछ सहपाठियों के साथ राजा साहब के आवास स्थान पर पहुँचे। विद्यार्थियों की बड़ी इच्छा थी कि किसी प्रकार राजा साहब को चित्र बनाते देखें। श्रीपादराव ने डरते-डरते अपने साथियों की यह इच्छा राजा साहब के सामने प्रकट की। राजा साहब ने सहदयतापूर्वक विद्यार्थियों की इच्छा की पूर्ति की और उनके सामने एक लघुचित्र बनाकर दिखाया। पाश्चात्य

कला के प्रशंसक होते हुए भी राजा साहब ने विद्यार्थियों को भारतीय संस्कृति, भारतीय आख्यात और भारतीय प्रकृति को ही अपने चित्रों का विषय बनाने का परामर्श दिया। श्रीपाद तथा उनके साथी राजा साहब की चित्रकला-कुशलता तथा उनका अतुलनीय आत्मविश्वास देखकर बहुत प्रभावित हुए।

श्रीपादराव के अनेक साथी आगे चलकर उत्तम कलाकार सिद्ध हुए। इनमें से धुरंधर, पीठावाला, रांगरोकर और आगासकर का नाम उल्लेखनीय है। स्वयं श्रीपादराव को स्कूल में चित्रकला के लिए अनेक पुरस्कार और पदक मिले। बम्बई, पूना, मद्रास और शिमला में हुई चित्रप्रदर्शनियों में भी उनके चित्र पुरस्कृत हुए। स्कूल के छात्रों में मेयो मैडल की बड़ी धाक थी। यह मैडल एक बार जिस छात्र को मिल जाता था, साल भर तक सब साथियों में उसकी तूती बोलती थी। श्रीपादराव को यह मैडल दो बार मिला।

अब तो ग्रिफिथ और ग्रीनवुड की नजर में भी श्रीपादराव ऊचे चढ़ गए। स्वयं ग्रिफिथ को दो चित्र इतने पसंद आए कि उन्होंने ५०-५० रु० देकर उन्हें खरीद लिया। दो बार मेयो मैडल मिलने के कारण ख्याति तो उन्हें मिली ही, साथ ही जे० जे० आर्ट्स स्कूल में अध्यापन का प्रस्ताव भी। जिस स्कूल में स्वयं कभी शिष्य रहकर शिक्षा ग्रहण की हो, जब उसी स्कूल में गुरु के पद पर विराजमान होने का अवसर मिले तब आत्मगौरव की कैसी महिमामयी भावना प्रकट होती है, इसे सिवाय भुक्तभोगी के और कौन जाने !

जे० जे० स्कूल में शिक्षक के रूप में नियुक्त होने पर ५० रु० वेतन मिला जो उस समय के जीवन की सादगी और सरलता को देखते हुए थोड़ा नहीं था। आजकल के एक हजार रु० मासिक से भी उसकी तुलना शायद ही हो सके। परन्तु उस समय चित्रकारों की आर्थिक स्थिति जिस प्रकार सुधरती जा रही थी वह भी श्रीपाद की आँख से ओझल नहीं थी। चित्रकला के क्षेत्र में उनकी निपुणता, विद्यधाता और अर्जन-क्षमता से रिस्तेदार तथा मित्र भी परिचित हो चुके थे। उस समय एक पूरे पोर्ट्रेट का मूल्य एक हजार रु० तक लग जाता था और भारत के राजा-नवाबों तथा रईसों में अपने और परिवार के विशिष्टजनों के आदमकद चित्र बनवाने का फैशन-सा चल पड़ा था। आखिर श्रीपादराव ने अपने अंग्रेज प्रिसिपल के अत्यधिक आग्रह के बावजूद जे० जे० स्कूल की अध्यापकी का पद छोड़ दिया। जिसे प्रभु ने उन्मुक्त गगन में स्वैर विहार करने के लिए शक्तिशाली पंख दिये हों वह पक्षी एक वृक्ष की शाखा से कब तक बंधा रहता !

श्रीपादराव ने अपनी कला और भाग्य की परीक्षा के लिए हैदराबाद को चुना। हैदराबाद भारत की सबसे बड़ी रियासत थी और वहां के रईसों में कला-प्रेम भी था। इसके अतिरिक्त वहां के कुछ नवाबों में सुन्दर कलाकृतियों के संग्रह का भी अद्भुत शौक था। आज का सालारजंग म्यूजियम एक व्यक्ति के ही कला-प्रेम का और कलाकृतियों के संग्रह के प्रेम का परिणाम है।

दो विशिष्ट घटनाएं

श्रीपादराव के हैदराबाद जाने से पहले एक दो घटनाओं का उल्लेख करना आवश्यक है। श्रीपादराव के बम्बई के प्रवासकाल में ही एक योगी वहां आया और उसने एक इश्तहार निकलवाया कि अमुक थियेटर में योग के आसनों के साथ कुछ यौगिक चमत्कार भी दिखाए जाएंगे—जिनमें से एक होगा कपड़ा मुख से निगलकर योगबल द्वारा उसे गुदाढ़ार से निकाल कर

दिखाना। योग सम्बन्धी पुस्तकों के मुद्ययन से श्रीपादराव को पता लगा कि कपड़े को मुख से निगलकर गुदाढ़ार से निकालने का कहीं वर्णन नहीं है। इसलिए जब योगी ने योगासनों का प्रदर्शन किया तो श्रीपादराव ने उस चमत्कार को भी दिखाने की चुनौती दी जिसका इतना प्रचार किया गया था और जिसे देखने के लिए जनता उमड़ पड़ी थी। पहले तो योगी ने आनाकानी की, किन्तु बाद में उसने अपनी असमर्थता स्वीकार कर ली। श्रीपादराव ने योग के मन्थ के आधार पर जब यथार्थ स्थिति का विवेचन किया तो जनता के सामने योगी की कलई खुल गई और उसे अपना मुंह छिपा कर बम्बई से भागना पड़ा।

इस काण्ड से बम्बई की संस्कृतज्ञ-मंडली में और आम जनता में 'विद्वान् पण्डित' के रूप में श्रीपादराव की ख्याति हो गई। श्रीपाद को भी संस्कृत भाषा के प्रति पुनः नये सिरे से अनुराग पैदा हुआ और योगाभ्यास के प्रति रुचि बढ़ी। इसके बाद ही योगासन और प्राणायाम करना प्रारम्भ कर दिया। इसका प्रत्यक्ष फल भी तुरन्त दृष्टिगोचर होने लगा। जब श्रीपाद की आयु २५ वर्ष की थी तब उनका वजन था ८७ पौण्ड, किन्तु ३०वें वर्ष में पदार्पण करते समय आसन और प्राणायाम के कारण इनका वजन बढ़कर ११० पौण्ड हो गया।

बम्बई में रहते हुए ही औंध रियासत के प्रतिनिधि बाला साहेब पन्थ से (जो औंध नरेश के सुपुत्र के रूप में आगे जाकर स्वयं औंध के राजा बनने वाले थे और उन दिनों बम्बई के एक कालेज में पढ़ रहे थे) परिचय हुआ। बाला साहेब को भी चित्रकारी का शौक था और वे श्रीपादराव की चित्रकला के प्रशंसक भी थे। कभी-कभी श्रीधमावकाश में वे श्रीपादराव को औंध भी बुलाते और उनसे नाटकमंडली के पदे रंगवाने का तथा अन्य चित्रकारी का काम करवाते थे। सुना है कि उस समय के श्रीपाद के रंगे हुए कुछ पदे तो रियासत का विलीनीकरण होने (सन् १९४८) के बाद तक भी प्रयुक्त होते रहे।

१९४७ की बात है। श्रीपाद हुटियों में औंध गए हुए थे। अकस्मात् टाइकाइड ने धर दबाया। ६२ दिन तक लगातार १०४-१०५ डिग्री बुखार चलता रहा। कभी-कभी बेहोशी की अवस्था भी आ जाती थी। बाला साहेब और उनके पिता औंध नरेश भी अपने अतिथि की इतनी लम्बी बीमारी से चिन्तित थे। बीमारी के ६२वें दिन की बात है। श्रीमंत महाराज यमाई देवी की पूजा कर रहे थे। उन्होंने मन ही मन देवी से अपने अतिथि के रोग-निवारण की प्रार्थना की और पूजा के बीच में ही पंचतीर्थ का देवी का प्रसाद सोनवा (श्रीपादराव का बचपन का प्यार का नाम) के पास भिजवाया। यह पंचतीर्थ और कुछ नहीं, दूध, दही, धी, शहद, चीनी और केले का सम्मिश्रण था। सुबेरे पांच बजे के करीब यह पंचतीर्थ सोनवा को पिलाया गया। उसी दिन शाम को ६ बजे उसे बुरी तरह पसीना छूटा और उसके बाद बुखार एकदम उतर गया। पंचतीर्थ के इस चमत्कार से श्रीपाद भी चिकित रह गए। परन्तु चलने फिरने लायक स्वास्थ्य लाभ करने में उन्हें बारह दिन और लगे।

लौटकर बम्बई आए। किन्तु वहाँ फिर ज्वर ने आक्रमण किया। इस बार ज्वर का प्रकोप २६ दिन तक रहा। अन्तिम ६ दिन बिलकुल बेहोशी में बीते। डॉ० वैलेणकर की दवा चल रही थी। स्वयं डाक्टर साहेब रात-रात भर बीमार के पास बैठे रहते। ६ दिन के बाद होश आने पर आंखें खोलीं। इसी बीच एक स्वप्न आया: "आकाश में काले-काले बादल घिरे हुए हैं और उन बादलों के बीच में श्वेत वस्त्रों से आवृत एक कृषि आकृति बैठी है। उसकी सफेद दाढ़ी घुटनों को हूँ रही

है और सिर के लम्बे बाल पीठ पर लहरा रहे हैं। इस आकृति ने श्रीपाद के सिर पर अपना बरद हस्त रखा और कहा—‘पुत्र, डर मत। तू मरेगा नहीं। अभी तुझे बहुत काम करना है।’ हो भी एक चमत्कार हीं कहना चाहिए कि उसके बाद उन्हें आराम आने लगा।

१८६० से १९०० तक बम्बई का यह निवास-काल जहां चित्रकला की साधना का था वहां आगे के लिए कोई नया काम करने का प्रेरणा-बिन्दु भी था। आगे के उस विशिष्ट काम की अभी कोई रूपरेखा नहीं थी, किन्तु स्वप्न के द्वारा उसका आभास अवश्य मिल गया था। अब तक आयु के ३२ वर्ष पार हो गए थे। चित्रकला की साधना की यह अवधि काफी लम्बी रही, परन्तु जीवन में उतनी ही उपयोगी भी सिद्ध हुई।

हैदराबाद में

१९०१ में श्रीपादराव ने बम्बई से हैदराबाद आकर अपना स्टूडियो खोल लिया। अनेक प्रदर्शनियों में उनके चित्रों को मिली ख्याति हैदराबाद तक भी पहुंच चुकी थी। जल-रंगों (वाटर-कलर) और तेल-रंगों (आयल-पैटेस) दोनों में ही उनका हाथ बड़ी सफाई से चलता था। हैदराबाद मुस्लिम रियासत थी और मुस्लिम सम्पत्ति में नज़ाकत, नफासत और सौन्दर्य-प्रेम का जो स्थान है वह वहां के रईसों में पर्याप्त मात्रा में विद्यमान था। किसी चीज से खुश हो जाने पर उदारमन से बख्शीश देना भी उनकी कल्चर का अंग था। पर श्रीपादराव को किसी बख्शीश की जरूरत नहीं थी। उन्हें तो व्यक्ति-स्वातंत्र्य की और ऐसे वरतावरण की आवश्यकता थी जिसमें वे निर्द्वन्द्व होकर स्वाभिमान-पूर्वक अपनी जीविका चला सकें।

बम्बई में जल-रंगों से कुछ पोट्टें श्रीपाद ने तैयार किए थे और इन्हें एक अमेरिकन ने देखते ही खरीद लिया था। यों एक तरह से चित्रकला-सम्बन्धी ख्याति अमेरिका तक पहुंच गई थी। फिर हैदराबाद तो बम्बई के बहुत नजदीक था। रियासत के अनेक रईसों से परिचय हुआ। अनेक नवाबों ने पोट्टें तैयार करने के आड़े दिए। धीरे-धीरे ख्याति निजाम तक भी पहुंची और स्वयं उस्मान अली भी इनके बनाए चित्र देखकर इनके प्रशंसक हो गए। उन्होंने राज्य-परिवार के कई चित्र इनसे बनवाए। फिर क्या था, इनका चित्रकला का व्यवसाय जोरों से चल निकला।

अवकाश के क्षणों में स्वाध्याय का क्रम भी चलता था। सार्वजनिक कार्यकर्ताओं से परिचय हुआ। इसके अन्तर्गत दो व्यक्तियों का परिचय इनके जीवन पर काफी प्रभाव डालने वाला सिद्ध हुआ। एक थे वकील केशवराव कोरटकर और दूसरे थे श्री अघोरनाथ चट्टोपाध्याय। केशवराव कोरटकर स्वर्णीय विनायक राव विद्यालंकार के पिता थे और कट्टर आर्य समाजी थे। श्री अघोरनाथ चट्टोपाध्याय श्रीमती सरोजिनी नायडू के पिता थे और हैदराबाद में राजनीतिक जागृति के सूत्रधार थे।

केशवराव कोरटकर के कारण श्रीपादराव आर्यसमाज के समर्क में आए। आर्यसमाज उन दिनों देश की सर्वप्रमुख समाज-सुधारक संस्था थी। उसके कार्यकर्ताओं में देश, धर्म और जाति के उद्घार की जैसी ज्वाला थी वैसी किसी अन्य संस्था में दिखाई नहीं देती थी। वैदिक धर्म के पुनरुद्धार और राष्ट्र के पुनर्निर्माण के लिए महर्षि दयानन्द ने आर्यसमाज की स्थापना की थी और अपने अनुयायियों को ‘कृष्णतो विश्वमार्यम्’—सारे संसार को आर्य बनाने का स्वप्न दिया था।

श्रीपादराव को वैदिक धर्म सम्बन्धी ग्रन्थ हैदराबाद में अनायास मिल गए। उन्होंने उनका पारायण किया और जब ऋषि दयानन्द के रंग में पूरे रंग गए तो बाकायदा आर्यसमाज की सदस्यता ग्रहण कर ली और कभी-कभी आर्य-संस्कृत पर व्याख्यान भी देने लगे। संस्कृत के विद्वान् पहले से ही थे, वाणी में और हृदय में उत्साह की कमी नहीं थी, आर्य ग्रन्थों के अध्ययन से वाणी और सान पर चढ़ गई और व्याख्यानों के कारण आर्यसमाज के क्षेत्र में लोकप्रियता बढ़ चली। आर्यसमाजी स्वभाव से ही आलोचना-प्रिय होते हैं, इसलिए आचार-विचार-व्यवहार और विद्या में उच्चीस सिद्ध होने वाला व्यक्ति उनकी दृष्टि में यशोभाजन नहीं हो सकता। आर्यसमाज में उनकी यह लोकप्रियता वैयक्तिक और सामाजिक दृष्टि से उनसे चरित्र की निष्कलनकता का सर्टिफिकेट थी।

धीरेंधीर श्रीपादराव के बजाय पं० सातवलेकर के नाम से लोग इन्हें पुकारने लगे और इसी नाम से सार्वजनिक जीवन में उनकी प्रसिद्धि हुई। पं० सातवलेकर या 'पण्डित जी' ही उनका नाम रुढ़ हो गया, जो आज तक चला आ रहा है।

इन्हीं दिनों इन्होंने ऋषि दयानन्द कृत सत्यार्थ-प्रकाश' और 'ऋग्वेदादि भाष्यभूमिका' का मराठी में अनुवाद किया जिसकी बड़ौदा के महाराज सर सयाजी राव गायकवाड़ ने, जो स्वयं बहुत सुधारवादी विचारों के थे, प्रशंसा की और पण्डित जी को पुरस्कृत किया। इस कारण आर्यसमाज में पण्डितजी की प्रतिष्ठा और बढ़ी।

आगे चलकर आर्यसमाज के सिद्धान्तों के साथ पण्डितजी का थोड़ा-सा मतभेद भी हुआ, जो नगण्य है, और १९१८ के पश्चात् वे आर्यसमाज के सक्रिय सदस्य भी नहीं रहे, परन्तु आर्यसमाज और ऋषि दयानन्द के प्रति पण्डित जी की निष्ठा में कभी अन्तर नहीं आया। आज भी उनका यही विचार है कि आर्यसमाज का प्रचार यदि भारत भर में हो जाए तो यह देश सशक्त एवं विर्वामियों तथा विजातीयों के लिए अताधृत बन सकता है। आधुनिक युग में जिन महापुरुषों ने देश को नव-जागरण का मंत्र दिया है उनमें से किसी से भी कम वे ऋषि दयानन्द को मानने को तैयार नहीं और वेदों के प्रति जनता का ध्यान आकृष्ट करने की दृष्टि से तो ऋषि दयानन्द अतुलनीय हैं ही।

इन्हीं दिनों लोकमान्य तिलक के परम भक्त और 'मुझे रामायण' नामक प्रसिद्ध मराठी ग्रन्थ के रचयिता दत्तो अप्पाजी तुलजापुरकर से पण्डितजी का परिचय हुआ। उनका सम्बन्ध थियोसोफिकल सोसायटी से था। उनके संसर्ग के कारण पण्डितजी थियोसोफिकल सोसायटी की साप्ताहिक सभाओं में जाने लगे। योगविद्या से परिचित होने के कारण थियोसोफी वालों ने पण्डितजी को अपना परामर्शदाता मान लिया। कभी-कभी पण्डितजी उनके यहां व्याख्यान भी देने लगे। उनके सिद्धान्तों के पण्डितजी आज भी प्रशंसक हैं। इस सोसायटी के तीन घोषित उद्देश्य हैं : विश्वबन्धुत्व की भावना का प्रसार करना, धर्मग्रन्थों का तुलनात्मक अध्ययन करना और सुष्टुत तथा मानवीय रहस्यों का अनुसंधान करना। इनसे वे आज भी सहमत हैं। थियोसोफिकल सोसायटी में एक बार पण्डितजी ने 'विष्णु पूजा' के सम्बन्ध में अंग्रेजी में भी व्याख्यान दिया। परन्तु थियोसोफिकल सोसायटी की अंग्रेजीभक्ति पण्डितजी को कभी पसंद नहीं आई और स्वयं भी फिर कभी अंग्रेजी में भाषण नहीं दिया। हैदराबाद के आर्यसमाजियों ने पण्डितजी का थियोसोफिकल सोसायटी में आना-जाना पसंद नहीं किया। इस बात का विरोध भी किया। परन्तु पण्डितजी का एक जीवन-

सूत्र रहा है—जहाँ जो बात अच्छी लगे, उसे ग्रहण करना। इस जीवन सूत्र को आज तक उन्होंने नहीं छोड़ा। उनका कहना है कि थियोसोफी कोई सम्प्रदाय या अर्वाचीन धर्म नहीं है, उसका अर्थ है—ग्रध्यात्म ज्ञान। सूषिट के समस्त प्रयत्न के पीछे एक अदृश्य चेतनाशक्ति है, उसकी खोज ही सब धर्मों का सार है और यही ग्रध्यात्मविद्या है।

इतना सब होने पर भी तुलजापुरकर ने या पं० सातवलेकर ने अपने आपको कभी थियो-सोफिस्ट नहीं माना। १९०२ से १९०७ तब उनका थियोसोफिकल सोसायटी से सम्बन्ध रहा, उसके बाद वह भी नहीं रहा। पर थियोसोफिकल सोसायटी के सम्पर्क काल में ही इनका सोसायटी की अन्यतम नेता डा० एनी बीसेण्ट से, जो बाद में कांग्रेस की ग्रध्यक्षा के रूप में इस देश के अंग्रेजी पढ़े-लिखे लोगों के लिए राष्ट्रीयता की प्रेरणा-स्रोत रहीं और बनारस में हिन्दू कालेज की संस्थापक बनीं, परिचय हुआ।

विवेकवर्धिनी

कतिपय अन्य देशभक्त लोगों के सहयोग से पं० सातवलेकर ने हैदराबाद में 'विवेकवर्धिनी' नाम से एक संस्था खोली। इस संस्था के अन्तर्गत तीन काम मुख्य रूप से चलते थे—एक व्यायाम-शाला, एक लड़के-लड़कियों का स्कूल और एक व्याख्यान-मण्डल। इस काम में भी केशवराव कोरटकर और वामनराव नाईक ही प्रमुख रूप से सहायक थे।

विवेकवर्धिनी व्यायामशाला में ३००-४०० तक नवयुवक रोज व्यायाम करने के लिए आने लगे। वहाँ उन्हें व्यायाम के साथ क्रांतिकारी विचारों की भी दीक्षा मिलती। बंगाल और मध्य-प्रांत आदि से भी क्रांतिकारी युवक इस व्यायामशाला में आया करते। एक तरह से यह अखाड़ा क्रांतिकारियों का शरणस्थल बन गया। ब्रिटिश भारत से भागकर इस देसी रियासत में आकर छिप जाना जीवन-रक्षा प्रौद्योगिकी-संचालन दोनों की दृष्टि से सुविधाजनक था। ब्रिटिश भारत की अपेक्षा हैदराबाद में जीवन-यापन सस्ता भी था। उन दिनों वहाँ एक रूपये का ३२ सेर चावल मिलता था। लोग वहाँ सम्पन्न थे और क्रांतिकारियों के कार्यों में सहायक भी। कुछ सहायक ऐसे भी थे जो एकमुश्त दस-दस हजार रु० आवश्यकता पड़ने पर तुरन्त दे दिया करते थे। स्वयं हैदराबाद में भी उत्साही तरुणों की कमी नहीं थी। बाहर से आने वाले क्रांतिकारियों के सहयोग से अंग्रेजों को मार भगाने की तित नई योजनाएँ बना करती थीं। 'युगांतर' नामक क्रांतिकारी संस्था के भी महस्य हैदराबाद में आंकर रहे। एक बार तो ऐसा अवसर आया कि वहाँ देश भर के १,२०० क्रांतिकारी एकत्र हो गए। ब्रिटिश भारत में उन दिनों किसी भी स्थान पर इतने क्रांतिकारियों का एकत्र होना असम्भव था। पर यहाँ देसी रियासत होने के कारण अंग्रेज उनका कुछ नहीं बिगड़ सकते थे। कुछ युवक गोलाबारूद बनाने में सिद्धहस्त थे और वे अन्य युवकों को बम बनाना सिखाया करते थे। १९०६ में जो जैक्सन हत्याकाण्ड हुआ था उसमें शामिल अनन्त कान्हेरे और पूना में सवारगेट के पास रहने वाले सन्त स्वामी शिवानन्द इसी व्यायामशाला की उपज थे।

पूना और नासिक आदि स्थानों पर क्रांतिकारियों भी जो योजना क्रियान्वित होती थी उसकी रूपरेखा प्रायः हैदराबाद में ही बनती थी। रियासत में यातायात के साधनों का अभाव था। आस पास के गांवों में या जंगलों और पहाड़ी प्रदेशों में कौन कितने दिन आकर रह गया, इसका

पता नहीं लग पाता था। मराठवाड़ा के कई पुराने घर उन क्रांतिकारियों की सहायता करने को सदा तैयार रहते थे। इटली और जर्मनी आदि से गुप्त रूप से पिस्तौल तथा अन्य हथियार रियासत में मंगवाए जाते थे और वे यथास्थान पहुंचा दिए जाते थे। बाहर से आने वाले क्रांतिकारी अक्सर बड़े शहरों की बजाय किसी छोटे देहात में रहते थे। पर उन सबका केन्द्र विवेकवर्धनी संस्था ही थी। धीरे-धीरे यह संस्था कालेज के रूप में परिणत हो गई। आगे जाकर पंडित जी के तीसरे भाई डा० सीताराम पत्न इस कालेज के प्रिंसिपल और संचालक बने।

व्याख्यान-मंडल के कार्य के रूप में निजाम राज्य के बड़े-बड़े गांवों में सातवलेकर जी ने स्वदेशभक्ति पर व्याख्यानों की भड़ी लगा दी। इन सभाओं और अध्यक्षता किया करते थे सरोजिनी नायडू के पिता डा० अधोरनाथ चट्टोपाध्याय। सभाओं के आयोजन तथा अन्य व्यवस्था की जिम्मेदारी उठाते थे केशवराव कोरटकर और व्याख्याता होते थे प० सातवलेकर। दत्तो अप्पाजी तुलजापुर कर भी इस काम में इनके सहयोगी रहते थे।

इन्हीं दिनों प० सातवलेकर ने वेद की ऋचाओं के आधार पर एक लेख लोकमान्य तिलक के पास भेजा। तिलक ने उस लेख को 'केशरी' के सम्पादकीय लेख के रूप में स्थान दिया। इससे सातवलेकर में जहां आत्मविश्वास बढ़ा, वहां लोकमान्य की गुण-ग्राहकता के प्रति आस्ता भी बढ़ी। उन्हीं दिनों तिलक ने देश के सामने अपनी स्वराज्य सम्बन्धी चतुः-सूत्री योजना प्रस्तुत की थी। इस योजना के चार सूत्र थे : (१) स्वराज्य, (२) स्वदेशी, (३) बहिष्कार और (४) राष्ट्रीय शिक्षा। इस चतुः-सूत्री योजना में यद्यपि विदेशी आविष्पत्य के प्रतिकार के सम्बन्ध में कुछ नहीं कहा गया था, परन्तु इसका वही अन्तिम लक्ष्य है, यह सब समझते थे। डा० पटुभि सीतारामया ने एक स्थान पर ठीक ही लिखा है : "लोकमान्य लोगों के सामने अपने मनोगत भाव का आधा भाग ही रखते थे, बाकी का आधा भाग जनता उनके बिना कहे ही समझ जाती थी।" यों भी सातवलेकर को हैदराबाद में जितने भी सहयोगी मिले वे सब के सब विचारों में तिलक के अनुयायी थे। अधोरनाथ चट्टोपाध्याय भी, केशवराव कोरटकर भी और तुलजापुरकर भी। १८६७ में भारत में ध्लेग और अकाल दोनों महामारी की तरह फैले थे, परन्तु महारानी विक्टोरिया के राज्यारोहण के उपलक्ष्य में भारत की जनता पर और नए कर लाद दिए गए। उस समय पूना के कलकटर रैड साहब ने वहाँ की जनता पर जैसी ज्यादती की उसके दण्डस्वरूप जिन चाफेकर बन्धुओं ने श्री रैंड को अ-समय में ही स्वर्ग भेज दिया था उनमें से एक — श्री बालकृष्ण चाफेकर — हैदराबाद में ही आकर छिपे थे और लोकमान्य के संकेत पर उनकी देखरेख का दायित्व केशवराव कोरटकर ने अपने उपर ले रखा था। सातवलेकर और केशवराव तो एक प्राण दो शरीर थे ही। फिर चाफेकर का परिचय सातवलेकर से कैसे न होता। इन्हीं चाफेकर बन्धुओं के पक्ष का समर्थन करने के कारण लोकमान्य तिलक की दो साल का कारावास देकर वर्षा की मांडले जेल भेजा गया था। लोकमान्य तिलक ने उसी जेल में अपना अमर गन्थ 'गीता-रहस्य अथवा कर्मयोग' लिखा था।

इस सब परिस्थिति में सातवलेकर लोकमान्य के अनुयायी न बनें, यह सम्भव नहीं था और उस समय ऐसा कीनसा शिक्षित किन्तु प्राणवान् भारतीय था जो लोकमान्य का अनुगामी न हो। उत्तर से लेकर दक्षिण तक और पूर्व से लेकर पश्चिम तक सर्वत्र लोकमान्य तिलक तेजस्वी देश-भक्तों के के मानस-पटल पर छाए हुए थे और 'स्वराज्य हमारा जन्मसिद्ध अधिकार है'—के मंत्रदाता के

इशारे पर युवक अपना तन-मन-धन निछावर करते को तैयार थे।

कांग्रेस के राजनीतिक मंच पर उस समय जो दूसरा दल था वह 'मिश्न डेहि' वर्ग का था। दादाभाई नौरोजी और गोखले अंग्रेजों की सदाशयता पर विश्वास करते थे और अंग्रेजों के कृपा-कठाक्ष में ही वे भारत का कल्याण देखते थे। उस समय स्वराज्य या पूर्ण स्वाधीनता जैसे शब्दों का प्रयोग भी कांग्रेस के मंच पर बर्जित था। इस प्रकार के लोग उदारवादी या नरमदलीय कहलाए और तिलक के अनुयायी गरमदलीय। तिलक की ही विचारधारा के ये पंजाब के लाला लाजपतराय और बंगाल के विपिनचंद्रपाल। लाल-बाल-पाल की यह विमूर्ति ही नवयुवकों का प्रेरणास्रोत थी। इसी स्थिति में सन् १९०७ में सूरत में कांग्रेस का अधिवेशन हुआ।

तिलक और सूरत कांग्रेस

लोकमान्य की चतुर-सूत्री योजना के पक्षपाती पं० सातवलेकर हन्हीं दिनों हैदराबाद में विदेशी वस्तु बहिष्कार और स्वदेशी-प्रचार के पक्ष में अपनी ओजस्वी वाणी से जन-जागरण का शब्द फूंक रहे थे। स्वदेशी का यह प्रचार इतना आकर्षक था कि बड़े-बड़े सेठ साहूकर भी अपने कीमती विदेशी कपड़े छोड़कर सादे स्वदेशी कपड़े पहनने लगे थे। हजूर रामचन्द्रराव के सुपुत्र ने अपनी जरी की टोपी फेंककर चार आने की सादी टोपी पहन ली थी। हजूर रामचन्द्रराव उन दिनों निजाम के रीडर थे।

व्याख्यानों की इस शृंखला से अंग्रेज रेजिडेण्ट के कान खड़े हो गए। उसने निजाम से कहा कि हाँ बटोपाध्याय, केशवराव कोरटकर, सातवलेकर और तुलजापुरकर को रियासत से निकाल दो। निजाम इनमें से किसी भी व्यक्ति पर कुछ नहीं था। सातवलेकर से तो खास कर, क्योंकि स्वयं उसके राजदरबार तक उसके बनाए चित्रों की पहुंच थी। परन्तु निजाम की रेजिडेण्ट के आगे नहीं चलती थी। तब उसने अपने रीडर रामचन्द्रराव की मार्फत पं० सातवलेकर के पास यह व्यक्तिगत सन्देश भेजा : "आप यहां रहकर सहर्ष चित्रकारी से घनार्जित करें, पर स्वदेशी के सम्बन्ध में व्याख्यान देना छोड़ दें। इन व्याख्यानों से रेजिडेण्ट वहुत नाखुश है। वह हमसे बार-बार कहता है कि सातवलेकर को रियासत से निकाल दो। यदि आपने व्याख्यान देना जारी रखा तो हमें न चाहते हुए भी आपको निर्वासित करना पड़ेगा।"

इस पर सातवलेकर ने उत्तर दिया : "हम तो स्वदेश प्रेम और स्वदेशी वस्तुओं के सम्बन्ध में ही व्याख्यान देते हैं, इससे रियासत की ही व्यापार-वृद्धि होती है और यहां की जनता भी समृद्ध होती है। देश का धन भी देश में ही रहता है। जनता के इतने हितकारी काम को हम कैसे छोड़ सकते हैं। सरकार की जो इच्छा हो, करने को वह स्वतंत्र है।"

केशवराव कोरटकर के साथ सातवलेकर अक्सर कांग्रेस के वार्षिक अधिवेशनों में जाया करते थे। सूरत के ऐतिहासिक अधिवेशन में तो जाना जरूरी था ही। वहां नरम और गरम दल का निरणायक युद्ध होना था। उन दिनों प्रसिद्ध क्रांतिकारी और बाद में योगिराज अरविन्द धोष बड़ौदा कालेज में पढ़ाते थे। वे भी विचारों में तिलक के अनुयायी थे। गुजरात में वैसे नरम दल का जोर था। इसलिए अधिवेशन से कुछ दिन पहले अरविन्द धोष और तिलक विभिन्न स्थानों पर सभाएं करके जनता को अपने मत का समर्थक बनाने का प्रयत्न कर रहे थे। दादा साहेब खापड़े अधिवेशन से एक मास पहले ही गुजरात में आकर और गुजराती सीखकर अपने भाषणों से लोगों

को तिलक के समर्थन के लिए तैयार कर रहे थे। उस समय की राजनीतिक स्थिति और राजनीतिक नेताओं तथा युवक वर्ग की मनः स्थिति का कन्हैयालाल माणिकलाल मुश्ती ने अपने 'स्वप्नद्रष्टा' नामक उपन्यास में अच्छा चित्रण किया है। श्री मुश्ती उन दिनों बड़ीदा कालेज में पढ़ते थे, अरविन्द-धोष के छात्र थे और समस्त घटनाचक्र को उन्होंने एक नवयुवक की आंखों से प्रत्यक्ष देखा था।

सूरत-कांग्रेस के पंडाल में दक्षिण भारत के प्रतिनिधियों को सबसे आगे बैठने का स्थान दिया गया, क्योंकि उन्हें नरमदल समर्थक समझा जाता था। दक्षिण भारतीयों के साथ ही सातवलेकर और केशवराव को भी अगली पंक्ति में कुर्सियों पर बैठने का अवसर मिला। तिलक भी इसलिए अगली पंक्ति में ही आकर बैठ गए कि अध्यक्ष पद का प्रस्ताव होते ही उसका विरोध करने लिए तुरंत मंच पर जा सके। स्वयं अध्यक्ष के भाषण के बाद अध्यक्ष-पद का प्रस्ताव होते ही तिलक इसका विरोध करने के लिए कूदकर मंच पर पहुंच गए। तुरंत उनके विरोधियों ने मंच पर जूते फेंकने प्रारम्भ कर दिए। जबाब में कुर्सियां फेंकी गईं। पंडाल के बांसों से भी आपस में खूब ले-दे हुईं। सातवलेकर को भी डंडे का प्रसाद मिला। भारत के राजनीतिज्ञों के मुख पर कालिमा पोतती हुई उस दिन की सभा इसी मारपीट और अव्यवस्था में समाप्त हो गई। अगले दिन गोखले पक्ष-पातियों ने अधिवेशन के समय से पहले ही सभास्थल को चारों ओर से घेर लिया और किसी भी पक्षपाती को अन्दर नहीं आने दिया। केवल गोखले पक्ष वालों की ही सभा हुई। गरम दल वालों ने कांग्रेस पर कब्जा करने की जो जोर-आजमाई की थी उसमें उन्हें सफलता नहीं मिली और उसके बाद जैसे गरम दल की विचारधारा कांग्रेस से सदा के लिए निष्कासित हो गई। नरम दल सदा के लिए कांग्रेस पर हावी हो गया। अरविन्द धोष तो इस अधिवेशन के बाद कांग्रेस से इतने निराश हो गए कि उसके बाद फिर कभी इन्होंने कांग्रेस के किसी अधिवेशन में भाग नहीं लिया। 'भिकां देहि' की वही प्रवृत्ति स्वातंत्र्योत्तर काल में भी ज्यों की त्यों परिलक्षित होती है।

पशुबलि विरोध

सत्र १९०६ के आसपास की बात है। रायचूर में कुछ पौराणिक पंडितों ने सोमयाग की व्यवस्था की और उसमें पशुबलि देने का भी खूब जोरदार से प्रचार किया। आर्यसमाजी युवकों को यह बात कैसे वर्दित होती। पं० सातवलेकर अपनी मंडली लेकर रायचूर पहुंचे और वहां जाकर पौराणिक पंडितों को शास्त्रार्थ के लिए ललकारा। परन्तु पौराणिक पंडित भी हठी थे। शास्त्रार्थ की चुनौती तो उन्होंने स्वीकार नहीं की। परन्तु जनता के अज्ञान और अन्धवशद्वा का लाभ उठाकर यह व्यवस्था अवश्य कर ली कि सातवलेकर की मंडली उसके यज्ञ-कार्य में बाधा उत्पन्न न कर सके। यज्ञ किया गया और उसमें तीन ब्रह्मणों की बलि-भी दी गई। आर्यसमाजियों की नहीं चली। पं० सातवलेकर ने यज्ञों में यजुञ्जलि के विरोध में सार्वजनिक सभाएं करके व्याख्यान देना प्रारम्भ कर दिया और समाचार-पत्रों में उत्तर-पश्युत्तर के कारण लिखित शास्त्रार्थ प्रारम्भ हो गया और उसने एक भारी लेख-युद्ध का रूप धारण कर लिया। जब सातवलेकर के तर्कों के आगे पशुबलि समर्थकों की न चली तब वाचिक शास्त्रार्थ की चुनौती स्वीकार करने के अलावा और कोई चारा नहीं रहा। आर्यसमाजी तो तैयार थे ही। उत्तर भारत से भी पंडित बुलाए गए। सनातनी और आर्यसमाजी दोनों ओर के पंडितों का जमघट लगने लगा।

शास्त्रार्थ की तिथि आने से पहले दोनों पक्ष अपनी-अपनी सभाएं करके जनमत तैयार करने लगे। इन सभाओं में पांच-पांच हजार तक लोगों की भीड़ होती थी। इससे पहले हैदराबाद में कभी किसी सभा में इतनी बड़ी भीड़ की बात नहीं सुनी गई। जनता को इतना उत्तेजित देखकर निजाम ने सार्वजनिक सभाओं पर पाबन्दी लगा दी और शास्त्रार्थ की भी अनुमति नहीं दी। शास्त्रार्थ तो नहीं हो सका, परन्तु जनता यह समझ गई कि यज्ञों में पशुबलि की बात वेद-विरुद्ध है। इसी के बाद रियासत में आर्यसमाज की लोकप्रियता बड़ी तेजी से बढ़ी। आज भी दक्षिण भारत में आर्यसमाज वहीं सबसे अधिक लोकप्रिय है और शिक्षा, समाजसुधार और राजनीति — इन सभी क्षेत्रों में उसके कर्तृत्व की छाप है।

इसके बाद सातवलेकर ने 'वैदिक यज्ञसंस्था' नाम की पुस्तक तीन भागों में हिन्दी में लिखी। इन्हीं दिनों 'ज्ञान प्रकाश' नामक पत्र में जाति-व्यवस्था, वर्णव्यवस्था और अस्पृश्यता-निवारण पर लेख लिखे जिनमें धार्मिक ग्रन्थों के आधार पर वस्तुस्थिति का विवेचन किया। ये लेख बड़ौदा-नरेश की नजरों में भी पड़े और उन्होंने 'ज्ञानप्रकाश' के सम्पादक की मार्फत पत्र भेजकर पण्डितजी से इस विषय पर एक विस्तृत ग्रन्थ लिखने का आग्रह किया। इसी प्रेरणा से 'स्पर्शस्तिष्ठ' ग्रन्थ लिखा गया जिस पर बड़ौदा सरकार की ओर से ५०० रु० पारितोषिक मिला। सायाजीराव के ही आग्रह से कुछ अन्य आर्यसमाजी ग्रन्थों का भी मराठी में सातवलेकर ने अनुवाद किया।

भुतहा महल

एक घटना का उल्लेख करता आवश्यक है। बम्बई छोड़कर जब हैदराबाद आए तब रहने के लिए मकान की आवश्यकता पड़ी। एक नवाब का मकान खाली था परन्तु १५ साल से उसमें कोई रहता नहीं था। लोगों का कहना था कि रात को आग जलाकर भूत उस मकान में नाचते हैं और मेजें तथा अलमारियां इधर-उधर फेंक कर घमा-चौकड़ी मचाया करते हैं। वर्षों से उस मकान का दरवाजा नहीं खुला था और अन्दर घास-पात तथा जंगल उग आया था। सातवलेकर ने जब नवाब के पास जाकर मकान किराये पर देने को कहा तो नवाब भी चकित हुआ और खुद उसने इन्हें समझाया। पर सातवलेकर ने कहा : "मैं गायत्री मंत्र का जप करता हूं, मेरे पास मंत्र-सामर्थ्य हैं, इसलिए भूत मेरा कुछ नहीं बिगाढ़ सकते।" आखिर वह मकान २० रु० मासिक किराये पर मिल गया। वह मकान क्या था, पूरा महल था। उसमें ३० कमरे थे और हजार बारह सौ आदमी एक साथ रह सकते थे। आज उतना बड़ा मकान ५ हजार ८० प्रतिमास खर्च करने पर भी नहीं मिल सकता। बड़ई बुलवाकर उस मकान का दरवाजा खुलवाया गया। दरवाजा इतना बड़ा था कि हाथी पर बैठकर उसके अन्दर से गुजर सकते थे। लगातार १५ दिन तक उसकी अन्दर से सफाई होती रही। सफाई और पुताई करवाने में ही ६०० रु० डठ गए, जो किराये में मुजेरा हो गए। उस मकान में तीन परिवार रहे। बाद में उसी में गलीचे का एक कारखाना भी खोला गया। विवेकवर्धिनी व्यायामशाला के सिलसिले में जो कान्तिकारी आते, उनके लिए भी इस मकान में खबर खुली जगह थी। स्त्रियां, बच्चे और अतिथि सभी उसी में रहते थे, परन्तु भूत ने कभी किसी को परेशान नहीं किया। सातवलेकर के हैदराबाद से आ जाने के बाद भी उनके मित्रों के पास वह मकान रहा। तेरह वर्ष बीत जाने पर स्वयं नवाब को भी विश्वास हो गया कि इस मकान

में भूत-प्रेत कुछ नहीं है, और त ही इसमें रहना विपत्ति को निमंत्रण देना है। तब उसने स्वयं उसमें रहना शुरू कर दिया।

क्या भूत निरा ढकोसला ही था या सातवलेकर के गायत्री मंत्र के जप के आगे भूत भाग गए—इसका निर्णय कौन करे? परन्तु सातवलेकर उस भूत के लिए सदा क्रतज्ञ रहेंगे क्योंकि उसी की कृपा से वह महल उन्हें केवल २० ह० किराये पर मिल सका था।

परिचित अमीर-उमरावों के रियासत से निर्वासित हो जाने के कारण चित्रकारी का व्यवसाय मन्द पड़ गया था। आर्यसमाज और कांग्रेस के प्रचार तथा स्वाध्याय में ही अधिकांश समय बीतता था। उन्हीं दिनों कोलहापुर से निकलने वाले 'विश्ववृत्त' (मराठी) मासिक पत्र में 'वैदिक राष्ट्रगीत' नाम से एक लेख लिखा।* उस लेख को तरफ तो सरकार का ध्यान नहीं गया, किन्तु जब उसे पुस्तकाकार छपवाया तब सरकार का ध्यान गया। मराठी पुस्तक छपी बम्बई में और उसका हिन्दी अनुवाद छपा प्रयाग में। उस पुस्तक की कुछ ही प्रतियां छपकर लेखक के पास पहुँच पाई थीं और सातवलेकर अपने कुछ मित्रों में ही वह पुस्तक वितरित कर सके थे कि सरकार ने दोनों पुस्तकें जब्त कर लीं।

इधर निजाम की ओर से चेतावनी मिल चुकी थी। चट्टोपाध्याय, केशवराव, तुलजापुरकर और सातवलेकर चारों पर निर्वासन की घमकी की तलवार लटक रही थी। पर चट्टोपाध्याय, केशवराव और तुलजापुरकर का अपराध केवल इतना था कि वे सातवलेकर के सक्रिय सहायक थे। व्याख्यानों और लेखों से धूम मचाने का मुख्य काम तो सातवलेकर का ही था। चट्टोपाध्याय और केशवराव के सामने व्यावहारिक समस्या थी। दोनों बाल-बच्चेदार आदमी थे। कई पीढ़ियों से हैदराबाद में रह रहे थे। निर्वासित होकर कहां जाते? सातवलेकर के कारण ही बाकी तीनों मित्रों पर संकट था। चारों मित्रों ने आपस में विवार विनिमय किया और तब सातवलेकर ने खुद निजाम द्वारा निर्वासन का आदेश मिलने से पहले ही हैदराबाद छोड़कर चले जाने का निश्चय किया।

१६०७ में हैदराबाद छोड़ दिया। तुलजापुरकर बम्बई में जाकर वकालत करने लगे। एसली झगड़े की जड़—सातवलेकर—के चले जाने के बाद निजाम ने चट्टोपाध्याय और केशवराव को निर्वासित करने की आवश्यकता ही नहीं समझी।

अपने मित्रों को संकट से बचाने के लिए हैदराबाद तो छोड़ दिया, पर अब जाएं कहां? बम्बई छोड़ा था तो हैदराबाद का नाम मन में था और चित्रकला व्यवसाय के रूप में सहायक थी। परन्तु जब हैदराबाद छोड़ा तब मन में किसी स्थान का नाम नहीं था और देश की राजनैतिक परिस्थिति ने जीवन को जिस मोड़ पर पहुँचा दिया था उसमें वह भी आशा नहीं थी कि अब राजामहाराजा या अमीर-उमराव ऐसे व्यक्ति से अपने पोट्टौट बनवाना पसंद करेंगे जो अंग्रेज सरकार की आँख का कांटा बन चुका हो।

इसी बीच सातवलेकर का धपान स्वामी श्रद्धानन्द की ओर और स्वामी श्रद्धानन्द का धपान सातवलेकर की ओर गया। 'समानशीलव्यसनेषु सद्यम्'—कहावत है ही। स्वामी श्रद्धानन्द तब तक संन्यासी नहीं बने थे। महात्मा मुंशीराम के रूप में उन्होंने गंगा के पार चण्डी पर्वत की उपत्यका में गुरुकुल कांगड़ी की स्थापना (सन् १६०० में) करके राष्ट्रीय शिक्षा-प्रणाली का

* यह लेख ग्रन्थ के दूसरे खण्ड में पढ़ें।

अभूतपूर्व परीक्षण प्रारम्भ किया था। सातवलेकर भी लोकमान्य की चतु: सूत्री योजना के अन्तर्गत राष्ट्रीय शिक्षा प्रणाली के मनसा, वाचा कर्मणा समर्थक थे। आर्यसमाज से सम्पर्क के कारण गुरुकुल के प्रति मन में अनुराग था। महात्मा मुंशीराम सातवलेकर के हैदराबाद के कार्य से परिचित थे और इस ओजस्वी व्यक्तित्व के प्रशंसक भी। साथ ही उनकी यह भी इच्छा रहती थी कि अधिक से अधिक योग्य, सदाचारी और राष्ट्र के प्रति दीवाते अध्यापकों को गुरुकुल में लाया जाए। दोनों का पत्र व्यवहार हुमा और अनायास ही यह निश्चय हो गया कि सातवलेकर गुरुकुल में रह-कर ब्रह्मचारियों को चित्रकला की शिक्षा देंगे।

गुरुकुल कांगड़ी में

महात्मा मुंशीराम जालन्धर में वकालत करते थे। रहन-सहन, ठाठबाट और मिजाज सब में आभिजात्य और रईसी की भलक थी। उनको फरशी (एक प्रकार का हुक्का) बहुत कीमती थी और उसकी नली इतनी लम्बी थी कि कई गज दूर से वे उसे आराम से गुडगुड़ाया करते थे। जीवनी के दिनों में बिगड़े रईसों के सभी लक्षण उनमें मौजूद थे। पर क्रृषि दयानन्द के सम्पर्क और उपदेश से उनके जीवन में अद्भुत परिवर्तन आ गया था। इस परिवर्तन की रोमांचक कहानी स्वयं उन्होंने 'कल्याण-मार्ग का पथिक' नामक अपनी जीवनी में लिखी है। 'कल्याण-मार्ग का पथिक' आज भी जीवनी साहित्य की बेजोड़ कृति है।

क्रृषि दयानन्द के विचारों से प्रभावित होकर मुंशीराम ने गुरुकुल की स्थापना की थी। पर्वत की उपत्यका में गंगा के तट पर स्थित इस गुरुकुल में पहुंचकर सातवलेकर के सामने "उपह्लरे गिरीणां संगमे च नदींगं धिया विश्रो अजायत" —का आदर्श सूतिमात्र हो उठा। गुरुकुल क्या था, सबमुव कृपियों का आश्रम था। ब्रह्मचारी गण सबेरे चार बजे उठते। नित्यकर्म से निवृत्त होकर गंगा के हिमशीतल जल में स्नान करके वेद-पाठ करते। जब सूर्योदय और सूर्यास्त के समय वे संध्याहवन करते और वेद मंत्रों के धोष से वन्य प्रकृति का वातावरण गूंज उठता तब ऐसा लगता कि यह भूखण्ड इस आधुनिक भारतभूमि का भाग न होकर किसी अन्य लोक का खण्ड है।

रात के समय योगिजन-मुलभ नीरवता का गहन साम्राज्य होता। अक्सर जंगली जानवर गुरुकुल भूमि में आया करते। कभी-कभी बाघ, शेर, जंगली हाथी और जंगली भैंसे के भी दर्शन हो जाते। सियार और भेड़िये तो प्रायः प्रतिदिन ही आते थे। गुरुकुल के चारों ओर कोई चहारदीवारी नहीं थी। इस भयप्रद वातावरण में रहकर भी ब्रह्मचारियों के मन में भय का नाम नहीं था। कई ऐसे अवसर आए जब ब्रह्मचारियों ने लाठियों और हाकियों से ही शेर या बाघ को भगा दिया या मार दिया।

ब्रह्मचारियों और अध्यापकों के निवास के लिए कुटियानुमा सारे मकान थे। इस प्रकार की एक कुटिया में सातवलेकर भी रहने लगे। ब्रह्मचारियों को चित्रकला सिखाते और स्वयं वैदिक वाङ्मय का स्वाध्याय करते या योगाभ्यास में समय बिताते। चालीस साल की आयु पार करके लगभग १६०८ के प्रारम्भ में ही गुरुकुल में आए थे। नागरिक सम्मति की चक्र-चौथ और छल-कपट की दुनिया से दूर आश्रम का यह सरल सुसंकृत जीवन मन को बहुत भाया। विद्यार्थियों

की साहसी वृत्ति और स्वातन्त्र्य-प्रेम भी बहुत अच्छा लगा ।

लोकमान्य तिलक ने जब राष्ट्रीय शिक्षा पर जोर दिया था तब उनके मन में उसे क्रियान्वित करने के लिए कौनसी रूपरेखा थी, यह स्पष्ट नहीं है । अरविन्द घोष और उनके भाई वारीन्द्र घोष बंगाल के क्रान्तिकारियों के प्रतिनिधि बनकर भारत माता के प्रतीक के रूप में किसी पर्वत-शिखर पर भवानी के मन्दिर की स्थापना करके देश भर में क्रान्ति की ज्वाला सुलगाने वाले अविवाहित संन्यासियों का जाल बिछाने की जो योजना बना रहे थे उसका भी क्रियात्मक रूप क्या होता, यह भी केवल कल्पना का विषय है । बंकिमचंद्र चटर्जी ने अपने 'आनन्दमठ' नामक उपन्यास में 'वन्दे मातरम्' गीत से देवी की उपासना करने वाले जिन विप्लवी संन्यासियों का वर्णन किया है उसने कल्पनाशील मनों को तरंगायित बेशक किया हो, किन्तु श्रौपन्यसिकता से उत्तरकर यथार्थ के धरातल पर उसकी व्यावहारिक परीक्षा अभी शेष थी । परन्तु ऋषि दयानन्द और उनके अनुयायियों के मन में राष्ट्र की नई पीढ़ी को वैदिक धर्म, राष्ट्रीय शिक्षा, स्वराज्य प्रेम और सेवाचार से ओतप्रोत करने का जो स्वप्न था उसे उन्होंने गुरुकुल कांगड़ी के रूप में चरितार्थ किया था ।

सातवलेकर और उनकी पत्नी को यह बात बेशक अखरी कि हैदराबाद में वे धन-पति बन कर रहे किन्तु गुरुकुल में उन्हें बेतनभोगी बनकर रहना पड़ा । परन्तु वहां स्वामी-सेवक का भाव कहुं था । वह तो एक 'कुल' था और अध्यापक और ब्रह्मचारी सब एक परिवार के सदस्यों की भाँति परस्पर प्रेम से सहयोगपूर्वक रहते थे । सातवलेकर ने अपने पुत्र नारायण को भी आश्रमवासी बना दिया । वह भी अन्य ब्रह्मचारियों के साथ विद्याध्ययन करने लगा । गुरुकुल में उसका नाम नरदेव रखा गया ।

महात्मा मुंशीराम का उत्तर भारत पर, और खासकर पंजाब पर, प्रभाव भी अद्वितीय था । उन्होंने बड़ी जल्दी जनता का मन गुरुकुल की तरफ आकेपित कर लिया । गुरुकुल का वार्षिकोत्सव तो जैसे उत्तर भारत का बहुत बड़ा मेला बन गया था । एक-एक दो-दो लाख तक की भीड़ इकट्ठी होती और पुलिस या किसी सरकारी साधन के बिना ही वार्षिकोत्सव की व्यवस्था की जाती । बड़े-बड़े धनपति भी आते और फूस की भोंपिड़ियों में ही ठहरते । हजारों रु० का दान करने वाले भी किसी विशेष व्यवस्था की मांग न करते । बड़े-बड़े सरकारी अधिकारी भी उत्सव पर दर्शनार्थी बन कर आते । महात्मा मुंशीराम इनके लिए भी कोई विशेष व्यवस्था न करते । वे भी अन्य यात्रियों की तरह झोंपिड़ियों में ही रहते थे । महात्मा जी कहते थे—'यह आश्रम है, यहां राजा और रंक सब बराबर हैं ।'

ब्रिटिश सरकार ने महात्मा मुंशीराम पर कई बार डोरे डाले । उन्हें तरह-तरह के प्रलोभन भी दिए । सरकार की ओर से संस्था को धनादि की सहायता के अनेक आश्वासन दिए । महात्मा मुंशीराम ने न कभी उन्हें प्रश्न दिया और न कभी किसी अधिकारी को बुलाया । वे तो विदेशी सरकार के सर्वथा बहिष्कार की भावना से अपनी संस्था चला रहे थे । उन्होंने सब विषयों को पढ़ाने का माध्यम भी हिन्दी रखा, जिसे ऋषि दयानन्द ने आर्यभाषा का नाम दिया था । संयुक्त प्रान्त (उत्तरप्रदेश) के गवर्नर और भारत के वायसराय भिन्न अवसरों पर गुरुकुल आये । उनकी प्रार्थना पर ही महात्मा जी ने उन्हें आमन्त्रित किया था । उनका सर्कार गुरुकुल की प्रथा के अनुसार ही हुआ, उन्हें आश्रम का भोजन खिलाया गया, तुलसी की चाय पिलाई गई और केले के पत्ते में

लपेटकर संस्कृत में लिखित मानपत्र भेंट किया गया। जाते समय वायसराय ने गुरुकुल में टांगने के लिए ब्रिटिश सचिवाद् और साम्राज्ञी का चित्र भेंट में दिया। कुछ दिन तक वह चित्र गुरुकुल के पुस्तकालय में टंगा भी रहा। अन्त में उस चित्र को महत्वहीन और अपदस्थ करने के लिए यह उपाय सोचा गया कि धार्मिक नेताओं के खूब बड़े-बड़े चित्र बनाकर वहाँ टांगे जाएं।

यह काम सातवलेकर के ही जिम्मे पढ़ा। सातवलेकर ने खूब उत्साह से ऋषि दयानन्द, स्वामी विरजानन्द, महात्मा मूर्शीराम और लोकमान्य तिलक के चित्र बनाए। ये चित्र इतने भव्य और बड़े बने कि पुस्तकालय में घुसते ही प्रत्येक व्यक्ति का ध्यान उन्हीं की ओर जाता। यों इंग्लैण्ड के राजा-रानी का चित्र कुछ दिन तक टंगा रहकर भी केवल उपेक्षा का ही पात्र बना रहा। हाथ से बिना छुए ही रेखा को छोटा कर देने के लिए उसके सामने बड़ी रेखा खींचने की चतुराई यहाँ भी बरती गई। सातवलेकर के हाथ से बने वे चित्र आज पचास साल से अधिक बीत जाने पर भी ज्यों के लिये गुरुकुल के पुस्तकालय की शोभा बढ़ा रहे हैं। उनमें से लोकमान्य तिलक का चित्र तो इतना जीवन्त और भव्य है कि यदि कुर्सी पर रख दिया जाए तो दूर से प्रत्येक यही समझे कि साक्षात् लोकमान्य सशरीर ही कुर्सी पर विराजमान हैं।

उन्हीं दिनों दीनबन्धु के नाम से विल्यात श्री सी० एफ० एफ्झूज गुरुकुल में आए। वे अंग्रेज सरकार के इशारे पर ही आए लगते थे। वे पादरी थे और दिल्ली के एकमात्र क्रिश्चियन कालेज सेंट स्टीफेंस में अंग्रेजी के प्राध्यापक बनकर आए थे। गांधीजी के आश्रम में और टैगोर के शान्ति निकेतन में रहकर तथा अपने आपको सर्वधर्म समभाव की गांधी-शिक्षा से प्रभावित बताकर भी ईसाइयत के प्रति दीनबन्धु का आग्रह कम नहीं हुआ था और भारत के तथाकथित आदिवासियों का धर्म परिवर्तन करके उन्हें ईसा का अनुयायी बनाना पुण्य का काम है, इस भावना को वे तिलांजलि नहीं दे पाए थे। इस विषय में किसी को शंका हो तो उसे ज्ञान वैरियर ऐलिवन की स्वलिखित जीवनी में एफ्झूज के साथ हुआ ऐलिवन का पत्र-व्यवहार पढ़ना चाहिए।

दीनबन्धु गुरुकुल में आकर ब्रह्मचारियों के साथ रहे। उन्हीं के साथ खाना-पीना और उठना-बैठना और खेलना-कूदना। सब तरह से आश्रमवासियों का जीवन। कहने को वे ब्रह्मचारियों को अंग्रेजी पढ़ाते थे पर रात को छिपे-छिपे थाहे जब ब्रह्मचारियों के आश्रम का चक्कर लगाया करते थे। उनका असली मिशन क्या था, यह गुरुकुल के ऋषिकारी भी क्या जानते थे! यों भी गुप्तचर विभाग के कर्मचारी नाना वेष धारण करके गुरुकुल में आते रहते थे। दीनबन्धु गुरुकुल में साल भर रहे। और इसे भावान की दया ही समझी चाहिए कि ब्रह्मचारियों की कोई राजद्रोहात्मक गति-विधि इस अवधि में उनके सामने नहीं आई। जब उन्होंने अपनी रिपोर्ट में गुरुकुल को राजनीतिक गतिविधियों से शून्य केवल धार्मिक संस्था का सटिफिकेट दे दिया तब अंग्रेज सरकार का सर दर्द कम हुआ।

पर यह स्थिति अधिक देर तक नहीं ठिक पाई। इन्हीं दिनों बम बनाने वाले क्रान्तिकारियों के दल देश के विभिन्न भागों-में फैल गए थे। इनमें से अधिकांश बंगाली नौजवान थे। इनका एक अहुा हरिद्वार में भी था। इस अड्डे से क्रान्तिकारियों के संकेत और साहित्य ब्रह्मचारियों के पास भी पहुंच गए थे। गुरुकुल के सब विद्यार्थी नहीं, किन्तु महाविद्यालय के पांच-दस विद्यार्थी इस दल में शामिल थे और उन तक बम बनाने का समस्त साहित्य पहुंच चुका था।

पुलिस को इसे बात का सुराग मिल गया और गुरुकुल पर छापा मारने का निश्चय किया गया। परन्तु गुरुकुल के हितैषी एक खुफिया व्यक्ति ने ही समय पर ब्रह्मचारियों को इस छापे की सूचना दे दी। ब्रह्मचारियों ने अपने कमरों की सफाई करके समस्त आपत्तिजनक साहित्य जमीन में गड़ दिया।

गुरुकुल में विद्यमान जिन अध्यापकों के सम्बन्ध में क्रान्तिकारी और राजद्रोहात्मक विचार रखने का सन्देह होता। उनकी सूचना गुप्त चर लोग सरकार को देते रहते थे। उस काली सूची में पं० सातवलेकर का नाम भी जुड़ गया था। पर क्रान्ति जिसका धर्म और स्वभाव का अंग बन चुकी हों, वह उसके बिना जीवित कैसे रहे। फिर जब वातावरण उसके अनुकूल हो तब तो मन को मथने वाले विचार बाहर आएंगे ही। उन्होंने दिनों सातवलेकर ने एक लेख लिखा: 'वैदिक प्रार्थनाओं की ओजस्विता।'* यह लेख भी कोल्हापुर के 'विश्ववृत्त' में छपा। इस लेख के छपते ही बम्बई सरकार का ध्यान इसकी ओर गया। पहले इसी लेखक की 'वैदिक राष्ट्रगीत' नामक पुस्तक जब्त की जा चुकी है, यह बात सरकार भूली नहीं थी। इस लेख में बड़ोदा के महाराज सर सत्याजीराव गायकवाड़ का कुछ प्रशस्त प्रकर उल्लेख था। इसलिए पहले सरकार ने महाराज का ध्यान इस लेख की ओर खींचा। परन्तु जब इस पर महाराज ने कोई कार्यवाही करने से इन्कार कर दिया तब बम्बई सरकार ने कोल्हापुर के नरेश शाह महाराज को लिखा। शाह महाराज दबू और डरपोक प्रवृत्ति के थे। इसके अलावा इन दिनों उनकी रियासत में क्रान्तिकारियों की हलचल जिस तेरी से बढ़ रही थी, उससे भी परेशान थे। उन्होंने इस लेख के लेखक, पत्र के सम्पादक और मुद्रक तथा प्रकाशक—इन चार व्यक्तियों के नाम वारण्ट जारी कर दिए। सम्पादक थे प्रो० वीजापुरकर, मुद्रक थे विनायक नारायण जोशीराव और प्रकाशक थे श्री वामन मल्हार जोशी। लेखक को छोड़कर वार्की तीनों व्यक्ति स्वयं हाजिर हो गए और उन पर मुकदमा चलना प्रारम्भ हो गया। लेखक का पता-ठिकाना किसी को मालूम नहीं था, न ही उक्त तीनों व्यक्तियों में से किसी ने पं० सातवलेकर का पता बताया।

जब सातवलेकर को पता चला कि उसके लेख के कारण उक्त तीनों व्यक्ति हवालात में हैं और उन पर मुकदमा चल रहा है तो उनकी आत्मा को बड़ा बलेश हुआ और सोचा कि मुझे भी स्वयं अदालत में हाजिर हो जाना चाहिए। इसके अतिरिक्त मन में यह भावना भी थी कि जिस संस्था ने संकट के समय आश्रय दिया उसके ऊपर मेरे कारण कोई आंच आई तो यह शोभा की बात नहीं होगी। यह सोचकर सातवलेकर कोल्हापुर की ओर चले। परन्तु जाते-जाते भी शाह महाराज को शंखासुर सिँद्ध करते हुए एक लेख लिख मारा जो बम्बई के 'इन्दु प्रकाश' में छपा। इससे शाह महाराज और चिढ़ गए। बम्बई सरकार ने इन्हें फरार घोषित कर दिया। रास्ते में अहमद नगर, पूना और वेलगांव में अपने पुराने परिचित मित्रों से मिले। अपने मित्रों को बताया कि मैं कोल्हापुर में स्वयं हाजिर होने के लिए जा रहा हूं तो उन्होंने इस विचार का विरोध किया और कहा कि 'आ बैल, मुझे मार' ऐसा करने में कौन-सी बुद्धिमानी है। फिर इस समय जैसी अध्येर नगरी का राज्य चल रहा है उसमें क्या मालूम तुम्हें कितने वर्षों के लिए जेल

* यह लेख पाठक ग्रन्थ के दूसरे खण्ड में पढ़ें।

में सड़ा-सड़ाकर मार दिया जाए। जनता में जीवन और जोश बनाए रखने के लिए भी तुम्हारा जेल से बाहर रहना बहुत आवश्यक है। मित्रों के परामर्श के अनुसार सातवलेकर बेलगांव के पास अनगोल गांव में एक जर्मीदार के घरां नाम बदलकर रहने लगे।

बेलगांव के पास तीन-चार रियासतों की सीमाएं मिलती थीं—इसलिए ब्रिटिश सरकार की सब हूलचलों की जानकारी मिलती रहती थी। बीजापुरकर आदि पर ६ मास तक मुकदमा चला और उन्हें तीन-तीन वर्ष की सजा हो गई। तब तक सातवलेकर कभी अनगोल और कभी हंगिरगे गांव में गुप्त रूप से रहते रहे। इस बीच रामायण और महाभारत का पारायण करते रहे।

इसके बाद मद्रास की ओर जाने का निश्चय करके कोकिनाडा से ६ मील दूर पीठापुरम् पहुंचे। वहां के राजा से मिले। अपनी चित्रकारी के नमूने दिखाए। पीठापुरम् के राजा गुणग्राहक भी थे और सम्पन्न भी। उन्होंने अपने पिता और पितामह आदि के चित्र बनाने का काम दिया। पीठापुरम् में जितना काम किया उससे कुल मिलाकर करीब ५-६ हजार रुपये मिले। परन्तु पिछले काफी समय से फरारी का जीवन बिताने के कारण कर्ज इतना अधिक हो गया था कि वह सब चुकाने के पश्चात् केवल ३०० रुपये बाकी बचे।

उन्हीं दिनों फिर गुरुकुल याद आया। कलकत्ता होते हुए गुरुकुल पहुंचे। सब ब्रह्मचारी और अध्यापक तथा महात्मा मुंशीराम इन्हें सकुशल वापिस आया देखकर गदगद हो गए—जैसे बिछुड़े हुए परिवार के सदस्य से मिले हों।

गिरपतारी और मुकदमा

गुरुकुल में डाक बांटने वाला डाकिया सरकारी भेदिया था। उसने सातवलेकर के गुरुकुल आने की सूचना कलटर को दी। कलटर के जारी किए वारेण्ट को लेकर ३०० सिपाही, १० घुड़सवार और ५० बन्दूकधारी पुलिस के आदमियों ने गुरुकुल को चारों ओर से घेर लिया। स्टेशन की ओर जाने वाली सड़क पर धुर स्टेशन तक सिपाही खड़े कर दिए गए। दुपहर के लगभग एक बजे पूरी तरह नाकाबन्दी करके पुलिस कप्तान थोड़े पर बैठकर गुरुकुल के अन्दर आया और उसने गुरुकुल के संचालकों से सातवलेकर को पुलिस के हवाले कर देने को कहा। यह सब काण्ड इतनी जल्दी हुआ कि सब गुरुकुलवासी हवके-बवके रह गए। गुरुकुल पर सरकार का रोप तो पहले से ही था। अब सातवलेकर के बहाने से उस रोप को पूरा करने का अवसर मिल गया।

गुरुकुल पर सरकार का रोप होने के कारण ही आर्यसमाज को भी राजद्रोही संस्था समझा जा रहा था। इस सबके इतिहास में न जाकर यहां एक गुप्त सरकारी लेंगे की कुछ पंचितयां देना उचित होगा।

"आर्यसमाज के संगठन में जो अभी घटना-विकास हुआ है वह सरकार के लिए बहुत बड़े संकट का स्रोत है। वह विकास है—गुरुकुल शिक्षा प्रणाली। निष्ठा और बलिदान की उच्च भावना से प्रेरित जीशीले व्यक्तियों का दल तैयार करने का यह सबसे मुगम साधन है। क्योंकि यहां सात-आठ बरस की उम्र में ही बालकों को माता-पिता के प्रभाव से बिल्कुल दूर रखकर द्याग-तपस्या के वायुमंडल में उनके जीवन को कुछ निश्चित सिद्धांतों के अनुसार ढाला जाता है जिससे उनकी रग-रग में आत्मोत्सर्ग की भावना घर कर जाती है। इस पद्धति से तैयार युवक सरकार के लिए अत्यन्त

भयानक सिद्ध होंगे । उनमें वह शक्ति होगी जो इस समय के आर्यसमाजी प्रचारकों में नहीं है । व्यक्तिगत दृढ़ आस्था, कष्ट सहन की क्षमता और समय आने पर प्राणों तक को न्यौद्धावर कर देने की भावना का जनता पर गहरा असर पड़ेगा । इससे उनको अनायास ऐसे अनगिनत साथी मिल जाएंगे जो उनके मार्ग पर उनसे भी अधिक उत्साह से चलने को तैयार होंगे । उनका उद्देश्य एक ऐसे राष्ट्र धर्म की स्थापना करना होगा जिससे समस्त भारतवासी भ्रातृ-भाव की शृंखला में बंध जाएंगे ।"

इसी सरकारी लेख में आगे गुरुकुल कांगड़ी के विषय में कहा गया है : "सरकार के लिए सबसे अधिक विचारणीय प्रश्न यह है कि गुरुकुल में शिक्षा प्राप्त करके निकले नवयुवकों का सरकार के प्रति क्या रुख होगा । वे वर्तमान आर्यसमाजी उपदेशकों की अपेक्षा किसी और सांचे में ढले होंगे । जिस धर्म का वे प्रचार करेंगे उसका आधार व्यक्तिगत श्रद्धा होगी, जिससे जनता पर सहज में ही बहुत प्रभाव पड़ेगा । पुलिस की रिपोर्ट में दर्ज है कि जब महात्मा मुंशीराम सियालकोट और गुजरांवाला का दौरा करते हुए गुरुकुल के लिए धन-संग्रह कर रहे थे तब उन्होंने सरकार की निन्दा में कठाक करते हुए कहा था कि सिपाही कितने मूर्ख हैं जो सत्रह-अठारह रुपये में भर्ती होकर अंग्रेजों के लिए अपना सिर कटवाते हैं ।" गुरुकुल के उत्सवों की लोकप्रियता और जनता का उत्साह आश्चर्यजनक है । विचारणीय बात यह है कि गुरुकुल से निकले इन युवक संन्यासियों का राजनीति के साथ क्या सम्बन्ध होगा ? "...आर्यसमाजियों की बाहिविल सत्यार्थप्रकाश है जो देशभक्ति के भावों से ओतप्रोत है । गुरुकुल में इतिहास भी इस ढंग से पढ़ाया जाता है जिससे ब्रह्मचारियों में उत्कट देशभक्ति की भावना पैदा हो । गुरुकुल में यत्नपूर्वक ऐसे राजनीतिक संन्यासी तैयार किए जाते हैं जिनका मिशन सरकार के अस्तित्व के लिए भयानक संकट पैदा करना होगा । गुरुकुल की दीवारों पर अंग्रेजों के राज से पहले की अवस्था बताने वाले चित्र लगाए गए हैं । लखनऊ के सन् १८५७ के गदर के चित्र भी लगे हैं । विजनौर के जिला मणिस्ट्रोट श्री एफ० फोर्ड ने जोत आफ आर्क का वह बड़ा चित्र गुरुकुल में लगा देखा है जिसमें वह अंग्रेजों के विश्व युद्ध का संचालन कर रही है ।" [स्व० श्री सत्यदेव विद्यालंकार द्वारा लिखित 'स्वामी श्रद्धानन्द' नामक पुस्तक से उद्धृत, पृष्ठ संख्या ३४१ से ३४६]

जब गुरुकुल के ब्रह्मचारियों को स्थिति का पता लगा तो सबने एक स्वर से कहा कि हम प० सातवलेकर जी को किसी भी हालत में पुलिस को नहीं सौंपेंगे । सातवलेकर को इस सबके बारे में कुछ भी पता नहीं था, वह ऊपर के एक कमरे में आराम कर रहा था । वहीं से उसने पुलिस और घुड़सवारों को देखा । इतने में ही उसे पता लगा कि उसी की तलाश में सरकार का यह सारा सरंजाम है ? उसने नीचे उतरकर ब्रह्मचारियों से कहा : "मैं स्वयं पुलिस के हवाले होता हूँ । तुम्हें से कोई भी पुलिस को मत रोको, न कुछ कहो ।" विद्यार्थियों ने अनुगत शिष्य की तरह अपने गुह के आदेश का पालन किया । सब एक और हटकर खड़े हो गए । पुलिस ने सातवलेकर के हाथ में हृथकड़ी और भुजाओं में रस्ती डाल दी और कलकटर के दफ्तर में ले गए । उस पर करत और राज-द्रोह का आरोप लगाया गया । रात भर थाने में रखकर अगले दिन विजनौर की सेन्ट्रल जेल में ले जाया गया और वहां पावों में बोड़ियां लगाकर खूनी कैदियों के बाड़ में बन्द कर दिया गया ।

विजनौर जेल में उस समय लगभग सात सौ कैदी थे । जिन खूनी कैदियों के बीच में सातवलेकर को रखा गया, उनकी रात के आठ बजे गिनती होती थी, फिर सबकी बोड़ियों में एक सोटी

लोहे की जंजीर पिरोकर दोनों तरफ बड़े-बड़े ताले ठोक दिए जाते थे। एक जंजीर में ३०-३० कैदी पिरोये जाते थे और रात भर उन्हें उसी तरह बांधकर रखा जाता था। पेशावर टटी के लिए मिट्टी के बर्तन रखे होते थे। एक भी कैदी के हिलने पर तीसों कैदियों को हिलना पड़ता था। हर तीन घंटे बाद कैदियों की गिनती होती थी। रात को १। बजे सबको खड़ा करके गिना जाता था। इतना कड़ा बन्दोबस्त होने पर भी कई कैदी लोहे के सींखचे तोड़कर और दीवार फांदकर भाग जाने में सफल होते थे। सातवलेकर को एक मास तक इन्हीं कैदियों के बीच रहना पड़ा।

सातवलेकर को पहचानने के लिए कोल्हापुर से एक आदमी बुलाया गया। उसने सातवलेकर को पहचान लिया। तब कोल्हपुर ले जाने की तैयारी हुई। बेड़ियां पांवों में से निकाल दी गईं, पर हथकड़ी और पांवों में रस्सी पड़ी रही। तीन सिपाही साथ चले। हवा की तरह जनता में खबर फैल गई कि गुरुकुल का एक अध्यापक राजद्रोह के अभियोग में पकड़ा गया है। हरेक स्टेशन पर लोग फूलमाला लेकर स्वागत के लिए उपस्थित रहते। पता नहीं, आगे के स्टेशन पर खबर कैसे पहुंच जाती। सभी स्टेशनों पर स्वागतार्थी भीड़ मौजूद रहती। सिपाही भी इतना स्वागत देखकर चकित रह गए। पर जनता द्वारा सत्कार के लिए लाए गए फल-फूल में उनका भी हिस्सा रहता था, इसलिए लोगों को वे रोकते नहीं थे।

कोल्हापुर के थाने में पहुंचने पर हथकड़ी और बांह की रस्सी हटा दी गई। तीसरे दिन शाहूमहाराज ने अपने राजमहल में सातवलेकर को बुलाया, शिष्टा और सौजन्य का बर्ताव किया, चाय और विस्कुट खाने की दिए और अन्त में सलाह दी कि कोई वकील करके अपना बचाव करो। सातवलेकर का यही चायेपान प्रथम और अन्तिम था।

बाद में पता लगा कि सातवलेकर के थिप्रोसोफिकल सोसायटी का अन्तरंग परामर्शदाता होने के कारण श्रीमती एनी बीसेण्ट ने अपने हस्ताक्षर से युक्त एक पत्र शाहू महाराज के नाम लिख कर सातवलेकर के साथ सहानुभूति-पूरण बर्ताव का आग्रह किया था। यह बात भी शाहू महाराज के ध्यान में थी कि ग्रन्थ लिखने के कारण सयाजीराव से भी सातवलेकर का परिचय है। यह जानकर कि इस आदमी की बड़े-बड़े लोगों से जान-पहचान है, उन्होंने ऐसी व्यवस्था कर दी कि हवालात में किसी तरह का कोई भी कष्ट न हो।

भास्कर राव जाधव की अदालत में हत्या का अभियोग चला, पर वह प्रमाणित न हो सका। तब सेशन जज पण्डितराव की अदालत में राजद्रोह का अभियोग चला, पर वह भी प्रमाणित नहीं हो सका। अपने बचाव में बयान देते हुए सातवलेकर ने अदालत में कहा था : “न्यायमूर्ति, मैं बेदों का पुजारी हूँ। बेदों की प्राज्ञा है कि यदि देश परतंत्र हो जाए तो क्षत्रिय को जागृत करके देश को परतंत्रता से मुक्त करना ही सच्चे ब्राह्मण का कर्तव्य है। मैं ब्राह्मण हूँ। आप जो कहते हैं, वह सब मैंने लिखा है। पर ऐसा मैंने क्षत्रिय को जागृत करने के लिए ही किया है। अतः उसे लिखने के बारे में न मुझ पश्चात्ताप हुआ, न है और न होगा। अतः आप मेरे बारे में जो उचित निर्णय हो, खुशी से दें।”

सेशन जज पण्डितराव ने न केवल सातवलेकर को सर्वथा निर्दोष करार दिया, बल्कि प्रो० बीजापुरकर आदि को संस्तु कैद की सजा देने वाले अग्रेज न्यायाधीश किंकेड़ साहब के निर्णय की भी तीव्र आलोचना की। इसका परिणाम यह हुआ कि पण्डितराव को न्यायाधीश पद से ही हटा

दिया गया। सातवलेकर के मन में अंग्रेजी-राज्य के इस अन्याय के विश्वद्व रौप ही बढ़ा होगा !

परन्तु इस मुकदमे का फैसला होने में भी एक साल लग गया। कोल्हापुर से निवटने के बाद फिर समस्या पैदा हुई कि अब कहाँ जाएं।

उस समय देश की राजनीतिक परिस्थिति काफी शिथिल थी। लोकमान्य मांडले जेल में बन्द थे। अरविन्द धोष राजनीति से संन्यास लेकर पाण्डीचेरी में बैठ गए थे। अनेक क्रान्तिकारी काला पानी भेज दिए गए थे। १६०६ में नासिक में जैसन की हत्या के बाद महाराष्ट्र में बड़े पैमाने पर घरपकड़ जारी थी। केवल पंजाब में ही एक ज्योति जगमगा रही थी—वह थी पंजाब के तरी लाला लाजपतराय। पंजाब आर्यसमाज का भी गढ़ था। इसलिए वेद के स्वाध्याय और वेद के प्रचार का उद्देश्य वहाँ बड़ी आसानी से पूरा हो सकता था। गुरुकुल कांगड़ी जाते तो स्वामी श्रद्धानन्द और गुरुकुलवासी सहर्ष हार्दिक स्वागत करते। पर सातवलेकर को भय था कि मेरे कारण फिर गुरुकुल पर कहीं कोई आंच न आए। इसलिए अन्त में स्वामी श्रद्धानन्द की सम्मति से लाहौर ही जाने का निश्चय किया।

लाहौर के लाज्जागृह में

बीसवीं सदी के प्रारम्भ से ही अनेक देशभक्त नेताओं ने लाहौर को अपना कार्यसेत्र छुना था। सुप्रसिद्ध संगीत-शिरोमणि पं० विष्णु दिगम्बर पलुस्कर ने लाहौर में गत्थर्व महाविद्यालय की स्थापना की थी*। सर्वथी सप्ते और आठवले ने भी 'हिन्दू केसरी' नामक अखबार निकाल कर पंजाब में लोकमान्य तिलक के राजनीतिक विचारों का प्रचार प्रारम्भ किया था।

और सबसे बढ़कर बात यह थी कि लाहौर उत्तर समय आर्यसमाज का गढ़ था। आर्यसमाज ने चतुर्दिक् क्रान्ति की लहर फैला दी थी। देशभक्ति के समुद्र में ज्वार आया था और उत्तर भारत में आर्यसमाज ही उसका सही प्रतीक था। विटिश सरकार को शुरू से ही कृषि दयानन्द और उनके भिन्नन में राजद्रोही की गन्ध आती थी। इस राजद्रोही प्रवृत्ति के कारण सरकार सिखाने के लिए सरकार ने १६०२ में इलाहाबाद में और १६०५ में करांची में आर्यसमाजियों पर मुकदमा भी चलाया। आर्यसमाज के सर्वमान्य ग्रन्थ 'सत्यार्थ प्रकाश' को राजद्रोहियों की बाइबिल और राजद्रोह को भड़काने वाला ग्रन्थ सिद्ध किया गया। यद्यपि सरकार-परस्त, बाबू टाइप के, सरकारी सेवा से जीविका कमाने वाले, आर्यसमाजियों ने आर्यसमाज को राजभक्त संस्था सिद्ध करने में भी कसर नहीं उठा रखी, तथापि विटिश सरकार जानती थी कि कृषि दयानन्द के पट्टशिष्य श्री इयामजी कृष्ण वर्मा ही भारतीय क्रान्तिकारियों के दादा गुरु हैं। उन्होंने ब्रिटेन और फ्रांस में रहकर जो कुछ किया उसे सरकार कैसे भुला सकती थी।

* देश के विभाजन के पश्चात् वही गान्धर्व महाविद्यालय दिल्ली में पुनः सक्रिय है और उत्तर भारत में कुछ अन्य स्थानों पर उसकी शाखाएं खुली हैं। संगीत के माध्यम से उत्तर तथा दक्षिण की एकता को साधने वाले विष्णु दिगम्बर की उसी परम्परा के अनुयायी, अन्तर्राष्ट्रीय ख्याति के धनी, संगीत-सम्मान श्री ओंकारनाथ ठाकुर का कुछ मास पहले दिल्ली के ही अस्पताल में स्वर्गवास हुआ है।

सरकार सोचती थी कि सोलहवीं सदी के प्रारम्भ में गुरु नानक ने सिख मत के रूप में जो धार्मिक आनंदोलन शुरू किया था, वह आगे जाकर गुरु गोविन्दसिंह के समय में सैनिक और राजनैतिक आनंदोलन बन गया, वैसे ही आर्यसमाज भी भविष्य में राजनैतिक आनंदोलन बन जाएगा। उसे विश्वास था कि जिस प्रकार पंजाब सिख मत के लिए बीरभूमि सिद्ध हुई है, उसी प्रकार हिन्दुओं के सुधार के लिए जन्मे आर्यसमाज के लिए भी एक दिन वह उतनी ही उपजाऊ भूमि सिद्ध होगी।

पटियाला और रावलपिण्डी आदि में जहां-जहां आर्यसमाजियों पर राजद्रोह में शामिल होने के आरोप लगाकर मुकदमे चलाए गए थे, उन सबमें आर्यसमाजी निर्दोष सिद्ध हुए थे, किन्तु सरकार का कोप आर्यसमाज पर, उसकी संस्थाओं पर और उसके कार्यकर्ताओं पर कम नहीं हुआ था। एकान्त जंगल में गुरुकुल की स्थापना और लाहौर के डी० ए० बी० कालेज में एक बंगाली क्रान्ति-कारी प्राध्यापक की नियुक्ति सरकार के सन्देह को और बढ़ाने वाली बात थी।

इसीलिए सरकार ने आर्यसमाजियों का दमन करने की नीति अपनाई और लाला लाजपत-राय को देश-निर्वासन का दण्ड दिया, भाई परमानन्द को काले पानी की सजा दी और लाला हरदयाल को भारत से निर्वासित किया। प्रसिद्ध क्रान्तिकारी सरदार भगतसिंह के चाचा सरदार अंजीतसिंह को केवल इसीलिए आर्यसमाजी मान लिया गया क्योंकि उन्होंने औपनिवेशिक स्वराज्य के प्रस्ताव का विरोध किया था।

पर सातवलेकर को तो आर्यसमाज की लगत थी। महर्षि दयानन्द का 'आदर्श'—'समुद्र-पर्यन्तायाः पृथिव्या एकराट्' अर्थात् आर्यों का चक्रवर्तीं साम्राज्य—उनके मन में चक्रकर काटता रहता था। वे चाहते थे कि धर्म के अनुसार ही राज्यशासन में परिवर्तन हो और गुरुकुलों की स्थापना करके तस्हणों की ऐसी पीड़ी तैयार की जाए जो वैदिक धर्म के इस तेजस्वी आदर्श से अनु-प्राणित हो। गुरुकुल कांगड़ी में रहकर सातवलेकर उस आदर्श को क्रियान्वित होता भी देख आए थे।

इस मनःस्थिति में श्री सातवलेकर पहुंचे लाहौर—सन् १९०६ में। और वहां जाकर चिन्नकला और फोटोग्राफी का काम शुरू किया। लाहौर के सर्वप्रसिद्ध बाजार अनारकली के मार्ग पर उन्होंने 'सातवलेकर आर्ट स्टुडियो' खोला। जिस बंगले में रहते थे उसका नाम रखा 'मुख प्रकाश'। न प्रतिभा की कमी थी, न परिश्रम की। जब दोनों साथ मिल जाएं तो मणिकांचन संयोग समझिए। अमेरिका और यूरोप में फोटोग्राफी के सम्बन्ध में जो नई पत्रिकाएं और पुस्तकें प्रकाशित होतीं, उनका पारायण करते और अपने व्यवसाय में नियत नए टैक्नीक और नए कौशल का प्रयोग करते। पंजाबी स्वभाव से ही दिलदार और जो चीज़ उन्हें पसंद आ जाए उस पर मुझी लोलकर खर्च करने वाले होते हैं। चिन्नकार की लगाती बढ़ी, काम भी बढ़ा। दो सहायक भी रखने पड़े। लड़की की कृपा हुई। अच्छे रहस्यों के अनावा पटियाला और कश्मीर जैसी रियासतों के राजाओं से भी आर्द्ध लिलने लगे। उस समय सातवलेकर की मासिक आमदानी और सतन डेढ़ हजार रु० तक होने लगी। उस समय के डेढ़ हजार की तुलना आज के कितने हजार से की जाए?

परन्तु हुताशन से पहले जैसे यज्ञ-धूम की सुगन्धि दिशाओं में फैल जाती है वैसे ही हैदराबाद में यज्ञविषयक शास्त्रार्थ के कारण सातवलेकर का यशः सौरभ पंजाब के आर्यसमाजी क्षेत्र तक

पहले ही पहुंच चुका था। मन में तो लगन थी ही। लाहौर की सर्वप्रमुख मानी जाने वाली बच्छो-वाली आर्यसमाज में जाना प्रारम्भ किया। प्रथम व्याख्यान में ही धूम मच गई। वेद के सम्बन्ध में एक नया दृष्टिकोण जनता के सामने आया। बच्छोवाली समाज के साप्ताहिक सत्संग में जहाँ पहले केवल ४०-५० ही नरनारी उपस्थित होते थे, वहाँ अब उपस्थिति ४००-५०० तक पहुंच गई। आर्यसमाज बच्छोवाली और गुरुकूल कांगड़ी के वाषिकोत्सवों पर आर्यसमाजी जनता सबसे अधिक संख्या में उपस्थित होती थी। कभी-कभी यह संख्या एक लाख तक भी पहुंच जाती थी। उस युग में लाउडस्पीकर नहीं थे। हजारों की भीड़ को जो व्यक्ति अपनी ओजस्वी वाणी से मंत्रमुग्ध कर सके, उसकी ख्याति का कथा कहना। देखते ही देखते पंजाब भर में उत्तम वेदज्ञ पण्डित के रूप में सातवलेकर की अनायास धूम मच गई।

सातवलेकर की सदा एक विशेषता रही। उसने कोरी राजनीति पर कभी भाषण नहीं दिया। वेदों के स्वाध्याय से उनके सामने यह रहस्य खुला कि वेदों में राज्यशासन, समाजशासन, राज्यकान्ति, प्रजा की उन्नति, राजा को पदच्युत करना और विजय के लिए अभियान आदि विषयों पर मंत्रों की भरमार है। उन्हीं मंत्रों के आधार पर सातवलेकर सर्वथा नए ढंग से लोगों के सामने विषय का प्रतिपादन करते। इस कारण वेद सम्बन्धी व्याख्यानों में भी लोगों की सच्चि बढ़ने लगी।

आग्नेय क्रान्तिकारी के रूप में लाला लाजपतराय पंजाब के सर्वमान्य नेता थे। भाई परमानंद अन्दर और बाहर से एक, इतने स्पष्टवक्ता और सत्यवक्ता थे कि उनके अनुयायियों का पृथक् दल न बन सका। लाला हरदयाल और अम्बाप्रसाद सूकी अलग-अलग क्रान्तिकारी दलों से सम्बद्ध थे और देश में अराजकता फैलाकर उसी में से नई राज्य व्यवस्था निकालने के उद्देश्य से उत्तेजक भाषा में जनसमुदाय को जगाया करते थे। परन्तु सातवलेकर ने अपने राजनीतिक विचारों के प्रचार का आधार सदा वेद और धर्म को ही रखा, जिससे उसका असर भारत जैसे धर्मप्राण देश में और अधिक दूरगमी हो। और यह प्रचार-यज्ञ पेशावर से जालन्धर तक अखण्ड रूप से चलता रहा।

उन दिनों पंजाब में बैंक तथा बीमा कम्पनियां खोलकर तथा अन्य औद्योगिक कारखानों का विस्तार कर जनता का जीवन-स्तर उन्नत करने में जो लोग सचेष्ट थे उनमें लाला हरकिशनलाल का बहुत बड़ा स्थान था। पर सरकार उनसे इसीलिए नाराज थी कि वे सरकार का कोष भरने के बजाय जनता का पेट भरने की अधिक चिन्ता करते थे। डा० सत्यपाल भी प्रसिद्ध कांग्रेसी नेता थे। वे डा० किल्लू के साथ मिलकर हिन्दू-मुस्लिम एकता के लिए जी-जान से जुटे थे। सरकार को यह काम भी पसंद नहीं था। इस प्रकार सरकार विभिन्न कारणों से इन सबसे नाराज थी।

सन् १९१२ की बात है। लाहौर में एक विशाल सभा हुई। सबेरे ६ बजे का वक्त था। कोई दो घण्टे तक सभा चली होगी। इसमें उस समय के प्रसिद्ध नेताओं की शोले बरसाने वाली तकरीरें हुईं। इन तकरीरों को सुनकर जनता इतनी उत्तेजित हो गई कि सभा-स्थल से आते ही उसने सबसे पहला काम यह किया कि निकट के एक मिशन स्कूल को आग की भेंट कर दिया। जब इतने पर भी जनता का क्रोध शात्त न हुआ तब युरोपियनों की डुकानें जलानी शुरू कर दीं। करीब ५० हजार लोगों की भीड़ दुपहर के दो बजे तक वैसे ही विघ्नंस करती रही जैसे लंका में

रावण की अशोक वाटिका का किया गया था। अन्त में पुलिस ने गोली चलाकर जनता को निर्ममता से भूतना प्रारम्भ कर दिया, तब कहीं जाकर शान्ति स्थापित हुई। इस दौरान यूरोपियनों का करीब पन्द्रह लाख रु० का नुकसान हुआ था।

इन्हीं दिनों मोर्ले-मिष्टो सुधार सामने आए और प्रेस एकट के अन्तर्गत जनता के अभिव्यक्ति-स्वतंत्र्य पर कई तरह के नए-नए प्रतिबन्ध लगाए गए। बंग-भंग के प्रस्ताव के कारण जनता काफी उत्तेजित थी। सरकार की राजधानी कलकत्ता से दिल्ली लाई गई। १९११ में दिल्ली का दरवार हुआ। १९१२ में लार्ड हार्डिंग ने वायसराय के रूप में दिल्ली में प्रवेश किया और चांदनी चौक के भरे बाजार में उन पर बम फेंका गया। सरकार ने अपनी ओर से भरसक दमन किया, किन्तु जनता कितनी उत्तेजना-प्रवण थी, यह स्पष्ट है।

सातवलेकर चित्रकारी और फोटोग्राफी करते, खाली समय में वैदिक ग्रन्थों का स्वाध्याय करते और आर्यसमाज का प्रचार करते। अगस्त और सितम्बर मास में हिमालय के विभिन्न स्थानों की यात्रा करने जाते और वहाँ के सुन्दर प्राकृतिक दृश्यों के चित्र बनाते। कांग्रेस के अधिवेशन में प्रतिवर्ष जाते ही थे। तभी १९१६ में लखनऊ में कांग्रेस का अधिवेशन हुआ। लोकमान्य तिलक बैरिस्टर मुहम्मद अली जिन्ना को समझा-बुझाकर रास्ते पर ले आए थे और लखनऊ पैकड़ को कांग्रेस ने स्वीकार कर लिया था। राजसिंहान पर भले ही उस समय सम्राट् पंचम जार्ज आसीन थे, परन्तु जनता के हृदयासन पर तो स्वतंत्रता-संग्राम के नेताओं का ही गायथा। उस अधिवेशन में लोकमान्य ने जब तरहों का प्राह्वान किया तब अनेक तरहों ने देश-सेवा में अपना जीवन लगा देने का प्रण किया। वहीं सातवलेकर की भेंट तिलक से हुई।

पंजाब का गवर्नर था उस समय ओडायर। उसने सातवलेकर की गतिविधियों की जानकारी के लिए गुप्तचर तैनात कर रखे थे। हालांकि सातवलेकर ने प्रत्यक्ष रूप में राजनीतिक आन्दोलनों में इससे अधिक कोई भाग नहीं लिया कि वे कांग्रेस के अधिवेशनों में शारीक होते थे। लाला लाजपतराय से प्रायः विचार-विनिमय भी होता, परन्तु दोनों का ध्येय राष्ट्रोन्नति होने पर भी कार्य-पद्धति अलग-अलग थी। राजनैतिक आन्दोलनों में हिस्सा न लेने पर भी सातवलेकर ओडायर की आंखों का कांटा बने बिना न रहे। ओडायर समझता था कि धर्म-प्रचार की आड़ में ये जनता को राजद्रोह के लिए उकसाते हैं। फिर वस्त्रई में उनकी पुस्तकों की जब्ती और कोलहापुर में राजद्रोह के अभियोग में मुकदमा चलने की बात से भी वह अनभिज्ञ नहीं था। फलतः उसने सन् १९१७ के अक्टूबर में इनके निवासस्थान और स्टूडियो पर पहरा बिठा दिया। जैसे कभी हैदराबाद में किंवदं विर्धनी के अखाड़े में कान्तिकारियों का तांता लगा रहता था, उसी तरह अब पंजाब कान्तिकारियों का केन्द्र बनता जा रहा था और सातवलेकर के यहाँ उनका आना जाना रहता था। हर तीन घण्टे बाद पहरा बदल दिया जाता और हर आने जाने वाले पर कड़ी निगरानी रखी जाती। इसी प्रकार का पहरा लाला लाजपतराय, लाला हरकिशनलाल, डा० सत्यपाल और डा० किंचलू के निवास स्थान पर भी लगा दिया गया। लालाजी तो पंजाब के अनभिज्ञत राजा थे और राजनैतिक आन्दोलन के प्राण थे। परन्तु हरकिशनलाल का तो राजनैतिक आन्दोलनों से दूर का भी वास्ता नहीं था। उनीं थे और पंजाब को उद्योगों की दुष्टि से अपने पांव पर खड़ा करने के पक्षपाती थे। सातवलेकर को तो आर्यसमाज के वार्मिक आन्दोलन के सिवाय और किसी चीज

में सचि ही नहीं थी। पर सरकार के लिए सब धान बाईस पंसेरी। जब देशभक्ति का कोई भी काम राजद्रोह में ही गिना जाना हो तो इससे भिन्न स्थिति हो भी नहीं सकती थी।

लाला लाजपतराय अमेरिका चले गए और वाकी चारों को गिरफ्तार करके नजरबन्द करने की तैयारी हो गई। जब सातवलेकर को इसकी भनक पढ़ी तो मन में एक चिन्ता सवार हो गई। यदि नजरबन्दी में घर लिये गए तो पता नहीं कितने साल जेल में सड़ना पड़े? तब बीबी-बच्चों की देख-भाल कौन करेगा? गृहस्थी का उत्तरदायित्व सामने था। समस्या का समाधान कोई था नहीं। अन्त में सातवलेकर ने खुद ही पंजाब छोड़ देने का निश्चय किया।

जब सातवलेकर के मित्रों को इस निश्चय का पता लगा तब उन्हें बड़ा दुःख हुआ। परन्तु समस्या का समाधान उनके पास भी नहीं था। उन्होंने भी जी कड़ा करके सातवलेकर को पंजाब छोड़ने का ही परामर्श दिया।

सातवलेकर को पंजाब की बीर-भूमि पसंद थी। लोगों की दरियादिली, उनकी अध्यवसायी प्रृथक्ति, और मित्रों के लिए जान तक हाजिर कर देने वाला स्वभाव, उन्हें पंजाब की ऐसी विशेषता लगी थी कि वे स्थायी रूप से वहां बसने की इच्छा लेकर ही लाहौर आए थे। जीवन में भौतिक सुख-सुविधा की दृष्टि से आवश्यक सभी कुछ उन्हें वहां उपलब्ध था। लक्ष्मी और सरस्वती की उन पर कृपा थी। परन्तु ओडायरी पद्यन्त्रों के कारण उन्हें भारी मन से पंजाब छोड़ना पड़ा। सहस्रों पंजाबी मित्रों ने इस समय उन्हें जो भाव-भीनी विदाई दी थी उसकी स्तिरधता जीवन के सौ वस्तु पार कर लेने पर आज भी उनके हृदय को तरंगित किए बिना नहीं रहती।

हस्तिनापुर से निकलकर पांडव वारणावत के लाक्षागृह में जाकर रहे थे। कौरवों ने उसमें आग लगा दी। परन्तु पांडव वहां से सुरक्षित बच निकले। ठीक उसी तरह सातवलेकर बम्बई से हैदराबाद, हैदराबाद से गुरुकुल और गुरुकुल से लाहौर जाकर रहे। अंग्रेज सरकार ने चाहा कि वह उन्हें गिरफ्तार करके नजरबन्द कर ले, परन्तु वे उससे पहले ही वहां से सुरक्षित निकल आए।

आंध रियासत में

जब बम्बई के आर्ट्-स स्कूल में चित्रकला का अध्ययन कर रहे थे तभी सातवलेकर का आंध-नरेश से परिचय हुआ था। वे उस समय बम्बई के एक कालेज में पढ़ रहे थे। वही परिचय धीरे-धीरे स्नेह में परिणत हो गया था। आंधनरेश कला-रसिक थे और गुणग्राहक भी। १८६२ से १८६७ तक सातवलेकर को उन्होंने कई बार बम्बई से आंध बुलवाया था और उनसे नाटकों के पर्दे रंगवाए थे। वही परिचय अब काम आया। इसी परिचय के कारण लाहौर छोड़ने पर भटकना नहीं पड़ा। आंध में बस गए और वहां वेदों के अनुवाद का काम प्रारम्भ कर दिया। उस समय लेखन-कार्य तो आंध में होता, किन्तु छपाई होती बम्बई के निर्णय सागर प्रेस में। पंजाब और उत्तर प्रदेश में आर्य-समाज के प्रचार के कारण सातवलेकर के मित्रों और भक्तों की कमी नहीं थी। उत्तर भारत में उन पुस्तकों की अच्छी खपत हो जाती थी।

पंजाब सरकार को पता नहीं चला कि सातवलेकर कहां गए। वह उनकी खोज कर रही थी। ६ मास के बाद उसे पता चला कि सातवलेकर आंध में है। तब बम्बई सरकार की मार्फत

आंध्र दरबार से पूछताछ हुई। तब तक लाला हरकिशनलाल, डा० सत्यपाल और डा० किचलू गिरफ्तार किए जा चुके थे। सातवलेकर पहले निकल आए, इसलिए बच गए। आंध्र दरबार केवल इतना ही जानता था कि सातवलेकर वेदों का भाष्य करते हैं और पुस्तकें छपाते हैं। दरबार की ओर से अंग्रेज सरकार को उत्तर गया : “पं० सातवलेकर यहाँ रहकर केवल वेदों का अनुवाद करके प्रकाशित करते हैं, इसके अलावा और कोई कार्य नहीं करते।” बम्बई सरकार सातवलेकर के हैदराबाद-निवास, कोल्हापुर-कांड और लाहौर की गतिविधियों से अनभिज्ञ नहीं थी। पर उस समय तो उस उत्तर से वह प्रकरण बहीं शान्त हो गया।

महात्मा गांधी १९१४ में अफीका से लौटकर भारत को अपना कार्यक्षेत्र बना चुके थे। परन्तु उनका विशेष प्रभाव नहीं था। सातवलेकर पर तिलक का रंग था। देश में सशस्त्र आंदोलन के द्वारा किसी बहुत बड़ी क्रान्ति की कल्पना उन दिनों उनके मन को घेरे रहती थी। १९१५ और १९१६ में महात्मा गांधी दो बार गुरुकुल कांगड़ी गए और दो-दो दिन तक रहे। संयोग की बात, सातवलेकर भी उन दोनों अवसरों पर गुरुकुल में ही थे और गांधीजी की देखभाल का काम उन्हें ही सौंपा गया। उस समय गांधीजी लोगों से यही कहते—“हमें शस्त्र हाथ में लेकर किसी गुप्त षड्यन्त्र की आवश्यकता नहीं है। हमें तो गुरुकुल जैसी संस्थाएं स्थापित करके तरुण पीढ़ी को देशभक्ति के विचारों से भर देना है। हम अपने दृढ़निश्चय के द्वारा ही त्रिटिश सरकार को भुका देंगे और एक दिन स्वराज्य प्राप्त कर लेंगे।” तिलक के रंग से ओतप्रोत सातवलेकर के मन को लगा कि इस वाणी में भी कुछ नवीन तेज अवश्य है। एक दिन गुरुकुल में ही गांधीजी से पूछा : “आपके विचारों से तिलक सहमत हैं या नहीं ?” गांधीजी ने खरेपन से कहा : “मैंने उन्हें समझाने की बहुत कोशिश की, परन्तु उन्हें मेरी कार्यपद्धति पसन्द नहीं है, न उस पर विश्वास है।”

१९२० में लोकमान्य दिवंगत हो गए तो राष्ट्र की बागडोर महात्मा गांधी के हाथ में आ गई और उन्होंने अहिंसा पर आधारित सत्याग्रह को अपने आन्दोलन का मूल बनाया। पंजाब में लाला लाजपतराय पहले कुछ प्रतिकूल थे, किन्तु बाद में वे भी गांधीजी के अनुकूल हो गए। उत्तर-भारत पर उस समय स्वामी शद्वानन्द का बड़ा प्रभाव था। जलियांवाला बाग के हत्याकांड के बाद अमृतसर में कांग्रेस के अधिवेशन को सफल बनाने का सर्वाधिक श्रेय उन्हीं को था। जब लालाजी और स्वामीजी जैसे नेता गांधीजी के अनुकूल हो गए तब अन्य आर्यसमाजी भी घड़ाघड़ कांग्रेस में शामिल होने लगे।

तब सातवलेकर गांधी की गांधी में न बहते, यह कैसे सम्भव था। उत्तर भारत में आर्य-समाज की कीमत पर कांग्रेस फलने-फूलने लगी और आर्यसमाज क्षीण होने लगा। आर्यसमाज की यह क्षीणता अंग्रेजों को बहुत अच्छी लगी, क्योंकि आर्यसमाज की महबिद दयानन्द प्रेरित ओजस्विता को पचाना उनके बस का नहीं था। कांग्रेस के इस अहिंसक रूप के विस्तार को अंग्रेजों ने अपने लिए प्रचलन वरदान समझा। अपनी राजसी शान-शौकत के लिए प्रसिद्ध नेहरू-परिवार पूर्णतया गांधीजी का अनुयायी बन गया। धीरे-धीरे बंगाल में भी गांधीजी के अहिंसात्मक आंदोलन की लहर चली। सन् १९३० तक तो यह स्थिति हो गई कि देश के सब भागों में सशस्त्र क्रांति की चेष्टा सर्वथा प्रसुप्त हो गई।

कांग्रेस में

सतारा जिला कांग्रेस के अध्यक्ष के रूप में जब सातवलेकर ने गांव-गांव घूमकर लोगों में जागृति का शंख फूंकना प्रारम्भ किया और महात्मा जी के द्वारा बताए गए दिलितोद्धार खादी, चर्खा, हाथकरथा और ग्राम पंचायतों के सुधार का रचनात्मक कार्य प्रारम्भ किया तो अंग्रेज सरकार को यह शिकायत दुई कि स्वयं औंध के राजा साहब सातवलेकर के आश्रयदाता बनकर अपनी रियासत में तथा उससे बाहर अंग्रेजी इलाकों में कांग्रेस का आनंदोलन फैलाने में सहायक हो रहे हैं। हालांकि इस सब काम से राजा साहब का कोई वास्ता नहीं था, किन्तु जब बम्बई के गवर्नर ने बुलाकर उनसे जबाब-तलब किया, तब उनके पास भी ऐसा कोई उत्तर नहीं था जिससे अंग्रेज गवर्नर का समाझान हो सके।

बम्बई से लैटेकर राजा साहब ने सातवलेकर को एक सप्ताह के अन्दर औंध से बाहर निकल जाने का नोटिस दे दिया। तब सातवलेकर ने उन्हें लिखित आश्वासन दिया कि मैं औंध रियासत के बाहर के किसी आनंदोलन में हिस्सा नहीं लूंगा और जो कुछ करना होगा, रियासत की प्रजा की उन्नति के लिए ही करूंगा। इस प्रकार यह आपसी संधि हो गई। इस संधि के कारण सातवलेकर का कार्यक्षेत्र बेशक सीमित हो गया, किन्तु इस सीमित क्षेत्र में भी करने को कम काम नहीं था।

प्रजा परिषद् की स्थापना करके दक्षिणी रियासतों की परिषद् को फिर से सजीव करना और राजनीतिक चेतना की दृष्टि से औंध रियासत के ७२ गांवों को एकता के सूत्र में बांधना सातवलेकर का ही काम था। इससे जब उनकी लोकप्रियता बढ़ गई तब औंध दरबार ने इन्हें अपना मुख्य पंडित नियुक्त कर दिया और रियासत की असेम्बली का सदस्य भी बना दिया।

ज्यों-ज्यों प्रजा परिषद की शक्ति बढ़ती गई त्यों-त्यों ग्राम पंचायतों के अधिकारों में वृद्धि होती गई और वे ग्राम पंचायतें अपने प्रतिनिधि चुनकर रियासत की प्रतिनिधि सभा में भेजने लगीं। जब गांधीजी ने नमक सत्याग्रह प्रारम्भ किया तब उनसे अनुमति लेकर औंध रियासत में भी नमक बनाया जाने लगा। नमक बनाने का नया काम मिल जाने से लोगों की बेकारी के कारण जो कई गांव उजड़ चुके थे, वे पुनः आवाद हो गये और इस प्रकार जब नमक सत्याग्रह के कारण लोगों को स्पष्ट लाभ मिला तो गांधीजी के रचनात्मक कार्यों के प्रति उनकी अद्वा और बढ़ गई। स्कूलों में खादी-निर्माण का कार्य प्रारम्भ हुआ। दरबार को पोशाक खादी नियत हो गई। राजा साहब स्वयं खादी के सिवाय और कोई कपड़ा न पहनते।

दक्षिण की रियासतों में औंध काफी प्रगतिशील रियासत मानी जाती थी। उसका कारण स्वयं औंध न रेशे तो थे ही, क्योंकि उन्होंने प्रजा के प्रतिनिधियों के परामर्श से राजकाज चलाने की प्रथा डाली थी, परन्तु उसमें सातवलेकर का योग भी कम नहीं था। रियासत के विधिमंडल के परामर्शदाता के रूप में राजा साहब को इस तरह की सलाह देना उन्होंने का काम था। राजा साहब के सुपुत्र अप्पा साहब पन्त विलायत से बैरिस्टरी पास करके आए तो उनके मन में भी देशभक्ति की तरंग थी। वे ब्रिटेन की जनत त्रीय संसदीय पद्धति से प्रभावित होकर आए थे और स्वयं अपनी रियासत में इंग्लैंड के संसदीय लोकतंत्र का परीक्षण करने को उत्सुक थे। साथ में मिल

गए सातवलेकर जैसे दीवान। फिर क्या था, औंध रियासत राजकीय सुधारों की दृष्टि से आप्ते बढ़ने लगी।

परन्तु दक्षिण की इन रियासतों में प्रतिगामी और प्रतिक्रियावादी रियासतों की भी कमी नहीं थी। इनमें सबसे प्रमुख थी भोर रियासत। वहां जनता का आनंदोलन और उसका दमन दोनों जोरों पर थे। जिला कांग्रेस के अध्यक्ष के रूप में सातवलेकर ने इन सब रियासतों का दौरा किया था। भोर में हुए प्रजा परिषद् के अधिवेशन में इस बात की मांग की गई थी कि रियासत के कार्य का निरीक्षण करके उसकी रिपोर्ट दी जाए। इस मांग से रियासत के शासक काफी घबराये और उन्होंने सातवलेकर को इस काम से विरत होने के लिए काफी प्रलोभन भी दिए। परन्तु इन प्रलोभनों से डिगने वाले वे नहीं थे। अन्त में बाला साहब खेर और श्री मावलंकर के सहयोग से वह रिपोर्ट तैयार हुई और प्रकाशित भी हुई। उस रिपोर्ट से अन्य रियासतों के शासक भी चौकन्ते हो गए।

रियासत में लोकतन्त्र

ओंध के राजकुमार अप्पा साहब पन्त के बैरिस्टर बनकर आने और अपनी रियासत में प्रजा के प्रतिनिधियों की सलाह से राज्य चलाने के प्रति उत्साह के कारण सातवलेकर को और बल मिला और अन्त में ओंध में पूर्ण स्वराज्य स्थापित करते की रूपरेखा लेकर सातवलेकर, मौरिस फीडमैन और अप्पा साहब पन्त तीनों परामर्श के लिए गांधीजी के पास वर्षा गए। गांधीजी ने कहा कि इस रूपरेखा में राजा साहब के लिए जितने खर्च की व्यवस्था की गई है उसमें कमी करो, तब मैं तुम्हारे साथ बात करूँगा। महाराजा साहब को इस बात की भी सूचना दी गई तो वे स्वयं वर्धा पहुँचे और गांधीजी के परामर्श के अनुसार अपने ऊपर होने वाला खर्च निर्धारित किया। इससे, गांधीजी प्रसन्न हुए और अन्ततः १९३६ में ओंध रियासत में पूर्णतः प्रतिनिध्यात्मक शासन पद्धति लागू हो गई। १९२१ से रियासत में राजकीय सुधारों की जो परम्परा प्रारम्भ हुई थी, अन्त में वह इस रियासत में जनता के पूर्ण स्वराज्य के रूप में प्रतिफलित हुई। इस कार्य के पूरा होने में लगभग १७-१८ साल बेशक लग गए, पर भारत की सात सौ से अधिक रियासतों के इतिहास में यह अभूतपूर्व, ऐतिहासिक और अविस्मरणीय घटना थी। इस सफलता का श्रेय सातवलेकर को था।

उस समय ओंध नरेश ने अपनी प्रजा को निम्नलिखित अधिकार देने की घोषणा की :

- (१) प्रत्येक गांव में प्रजा द्वारा नियुक्त ग्राम पंचायत की स्थापना;
- (२) ग्राम पंचायत में ही सब झगड़ों का निर्णय;
- (३) प्रत्येक ग्राम में ग्रामरक्षक दल की स्थापना;
- (४) गांव को स्वच्छ रखकर आरोग्य के साधनों द्वारा जनता को स्वस्थ बनाना;
- (५) ग्राम की रक्षा तथा विवादों के निपटाने का ग्रामरक्षक दल को अधिकार।

प्राचीन भारत में जिस गणराज्य की कल्पना की गई थी उसका मूल आधार ग्राम पंचायतें ही थीं, गणराज्य की उसी प्राचीन कल्पना को यों क्रियात्मक रूप दिया गया।

५ अप्रैल १९३६ को सतारा में हुए जिला परिषद् के अधिवेशन के अध्यक्ष-पद से भाषण करते हुए सातवलेकर ने कहा था कि “देशभक्तों के लिए कभी-कभी कानूनभंग भी आवश्यक होता

है। पर हमें उन्हीं कानूनों को तोड़ना चाहिए जिन्हें हम स्वराज्य प्राप्ति के बाद जनता के लिए अवांछनीय समझते हैं, अन्य कानूनों को नहीं। जैसे नमक, शराब और विदेशी वस्त्र सम्बन्धी कानून स्वराज्य के बाद रहने वाले नहीं हैं, इसलिए हमें इनको भंग करने में संकोच नहीं करना चाहिए।” तब किसी को क्या पता था कि स्वतन्त्र भारत में भी इन कानूनों का वैसे ही उल्लंघन करना आवश्यक होगा, जैसे पर्तन्त्र भारत में था!

उसी वर्ष आटपाड़ी में मई मास में हुए आंध्र प्रजा परिषद् के प्रथम अधिवेशन के स्वागताध्यक्ष पद से भाषण करते हुए सातवलेकर ने मांग की थी कि (१) वेकारों को काम मिले और मजदूरों को उचित वेतन मिले; (२) बेरोजगार व्यक्तियों के पालन के लिए प्रजा पर टैक्स न लगे; (३) न्याय-प्राप्ति के लिए किसी को रिश्वत न देनी पड़े; (४) सबके लिए शिक्षा की व्यवस्था हो; (५) प्रजा यह न समझे कि अधिकारियों की प्रसन्नता में ही उसकी रक्षा है; (६) विदेशी कपड़े पर रियासत में प्रतिबन्ध लगाया जाए।

आंध्र रियासत में जिस स्वराज्य का सातवलेकर परीक्षण कर रहे थे उसके सम्बन्ध में उनके मन में क्या विचार थे, यह इन भाषणों से पता लगता है। अपने विचारों को क्रियान्वित करने के लिए ही उन्होंने आंध्र में ग्रामरक्षक दल की स्थापना की।

संघ-निष्ठा

इस ग्रामरक्षक दल की व्यवस्था इस प्रकार थी : १३ वर्ष से ४५ वर्ष तक की आयु के सब व्यक्ति इसमें शामिल होते। सबेरे और शाम उनकी परेड होती, जिससे सब में अनुशासन, व्यायाम और संवशक्ति के प्रति अनुरुग्ग पैदा होता। लाठी आदि चलाने का सब अभ्यास करते। इस दल के स्वयंसेवक रात को गांवों में पहरा देते। हरेक गांव की चौपाल में और स्कूल में एक-एक घंटा लटका होता था। जब कभी किसी गांव में रात-विरात चोरों या डाकुओं का आतंक उपस्थित होता तो खास ढंग से घंटे बजाए जाते और देखते देखते आधी रात को भी मिनटों में ३००-४०० स्वयंसेवक एकत्रित हो जाते और इस सामूहिक शक्ति के सामने चोरों और डाकुओं को उलटे लेने के देने पड़ जाते। जब रियासत के प्रत्येक गांव में इस प्रकार के रक्षक दल स्थापित हो गए तो पुलिस और सेना अन्यथासिद्ध हो गई, उसकी जरूरत ही नहीं रही। सारी रियासत दंगों, उपद्रवों और चोरी-डाकों से सर्वथा मुक्त हो गई। जनता का जानमाल सुरक्षित हो गया। रियासत में इस प्रकार की व्यवस्था से कई अंग्रेज परिवार भी इतने प्रभावित हुए कि वे सपरिवार आंध्र में आकर रहने लगे।

ब्रिटिश हकूमत के सबसे बड़े हथियार—पुलिस और सेना—जब इस प्रकार रियासत में ग्रामरक्षक सिद्ध हो गए तब वायसराय के भी कान खड़े हुए। यह कैसा स्वराज्य है—यह देखने के लिए वायसराय ने अपना एक अंग्रेज निरीक्षक आंध्र भेजा। जब उसने रियासत भर में ग्रामरक्षक दल की इस प्रकार की स्थापना देखी, तब उसकी कार्यशीलता की जांच करने के लिए रियासत के एक सीमावर्ती गांव पर ब्रिटिश इलाके से बनावटी डाकुओं का हमला करवाया। आधी रात के सन्नाटे में गांव का घटा घहरा उठा और देखते-देखते सैकड़ों स्वयंसेवकों ने एकत्र होकर डाकुओं के छक्के छुड़ा दिए।

उस अंग्रेज निरीक्षक ने वायसराय को रिपोर्ट दी : “इस रियासत को न हमारी पुलिस की जरूरत है, न सेवा की। यदि सारे भारत में इसी प्रकार ग्रामरक्षक दल स्थापित हो जाएं तो प्रश्नों को यहाँ से भागना पड़ेगा, एक दिन भी उनका यहाँ टिकना मुश्किल हो जाएगा।”

ऐसे ग्रामरक्षकदल की स्थापना की प्रेरणा सातवलेकर को राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ में कार्य करने से मिली थी। स्वेच्छा से राष्ट्र की सेवा के लिए अपना तन-मन-धन लगाने वाले युवकों की नई गीढ़ी तैयार करने के लिए डा० केशव बलीराम हेडगेवार (१८६०-१९४०) ने सन् १९२५ में विजयादशमी के अवसर पर इस संस्था की स्थापना की थी। धीरे-धीरे यह अंकुर अपने आत्मबल से ही विशाल बटवृक्ष बनने की ओर अग्रसर था। सातवलेकर सन् १९३६ में ही इसके सदस्य बन गए थे और आंध्र रियासत में शाखा-प्रमुख और शाखा संचालक के रूप में कार्य कर रहे थे। इसके आदर्श उनके मन के अनुकूल थे और इसके माध्यम से वे देश में अनुशासन और देश-भवित की भावना भरना चाहते थे। १६ वर्षों तक वे संघ के बाकायदा सदस्य रहे और उन्होंने इसके प्रमुख कार्यकर्ता के रूप में पंजाब, बिहार, बंगाल, मध्यप्रदेश, राजस्थान, काठियावाह, गुजरात, महाराष्ट्र और कर्नाटक आदि राज्यों का दौरा करके संघ की शाखाओं का निरीक्षण किया जिससे उनके मन में यह विश्वास बढ़मूल हो गया कि भारतवासियों की वर्तमान भयातुरता और स्वार्थपरता को मिटाकर उन्हें निर्भक और निःस्वार्थ रूप से राष्ट्र की सेवा में लगाने वाली और कोई संस्था इस समय देश में नहीं है। “संघ शक्तिः कलीयुगे” का उन्होंने साक्षात्कार किया। नेतृत्व का जन्मजात गुण उनमें था ही। संघ की कार्यधुरा का वहन करते हुए उसे वैदिक ऋचाओं का आधार भी उन्होंने ही दिया।

संघ के प्रति उनकी निष्ठा का अनुमान इस बात से लगाया जा सकता है कि आंध्र जैसे ढाई-तीन हजार की आबादी के गांव में भी वे संघ की तीन बड़ी-बड़ी शाखाओं का नियमपूर्वक संचालन करते थे। इन शाखाओं में से एक शाखा वहाँ की हरिजन-बस्ती में थी। संघ के कार्य के प्रति उनका यह उत्साह जवानों को भी मात करने वाला था। ध्यान देने की वात यह है कि सातवलेकर उस समय अपनी आयु के सातवें दशक को पार कर रहे थे और आयुर्वेद के इस वाक्य को चरितार्थ कर रहे थे —“आसप्ततिर्यचनम्”—सत्तर वर्ष की आयु तक आदमी की जवानी रहती है।

संघ के कार्य के प्रति निष्ठा का प्रदर्शन करने के लिए निम्न दो घटनाएं काफी हैं। सतारा जिले के उत्तरी भाग का शिविर और के हवाई अड्डे के पास लगा था। शिविर क्या था, उसने एक छावनी का रूप धारण कर लिया था। चारों ओर तम्बुओं की भरमार थी। नियमानुसार कार्यक्रम चलता रहा। रात को दस बजे सोने का विगुल बजा। संघ संचालक के साथ सातवलेकर भी अपने तम्बू में पहुंच गए। परन्तु रात को एक बजे जो मूसलाधार बारिश प्रारम्भ हुई तो थोड़ी देर में चारों ओर पानी ही पानी भर गया। रात काटनी मुश्किल हो गई। स्वयंसेवकों ने खड़े-खड़े किसी तरह रात काटी। सबेरे ४ बजे ही कूच का हुक्म हुआ। स्वयंसेवक अपना सामान संभाले आश्रय की खोज में चले। बस्ती कुछ दूर थी। बस्ती में पहुंचकर धर्मशाला स्कूल और मन्दिरों में स्वयंसेवकों के ठहरने की व्यवस्था की गई। यह सब व्यवस्था करके सातवलेकर सूर्योदय से कुछ पहले अपने घर आए और सबेरे ६॥ बजे फिर कायलिय में हाजिर हो गए और शिविर के किसी कार्यक्रम में कोई बाधा नहीं पड़ने दी।

इसी प्रकार का एक और स्मरणीय प्रसंग है। औंध शास्का का वार्षिक उत्सव था और राजा साहब उसमें आमंत्रित थे। सबेरे ५॥ बजे कां समय नियत था। सब स्वयंसेवक उपस्थित हो चुके थे, किन्तु राजा साहब के आने का कोई लक्षण दिखाई नहीं दिया। ठीक समय घ्वजारोहण हुआ, प्रार्थना हुई और उसके बाद स्वयंसेवकों को 'आरम' की स्थिति में खड़ा कर दिया गया। इतने में ही थोड़ों की टापों की आवाज आई। राजा साहब आए। फिर स्वयंसेवक 'सावधान, दक्ष!' की मुद्रा में खड़े हो गए और सलामी दी गई। राजा साहब ने पूछा कि भेरे आने से पहले घ्वजारोहण क्यों कर दिया गया। सातवलेकर ने निर्भयता-पूर्वक कहा: "वाटरलू की लड़ाई में नेपोलियन की सेना कुछ मिनट देर से पहुंचने के कारण ही पराजित हो गई थी, यह बात तो आप जानते ही हैं न?"

१९४२ में जब महात्मा गांधी का 'अग्रेजो, भारत ओडो' और 'करो या मरो' का आन्दोलन चला तो चारों और क्रान्ति की नई आग फैलने लगी। हजारों लोग ब्रिटिश प्रदेश में आन्दोलन करते और औंध में आकर शरण लेते। सातवलेकर का घर यहां भी इन आंदोलनकारियों का गढ़ बन गया। उन्होंके घर पर सभाएं होतीं, कार्यक्रम तैयार किया जाता और इन्होंके प्रेस में हैंडबिल और पैम्फलेट छपते। अम्बई सरकार यह जानती थी, पर किसी प्रमाण के अभाव में वह कुछ कर नहीं पाती थी। औंध नरेश की भी प्रचलन सहयोग रहती थी। गांधीजी इस बात को बखूबी जानते थे, इसलिए उनका भी अभयहस्त था। सतारा जिले ने सन् ४२ की क्रान्ति में जो स्मरणीय कार्य किया उसका प्रमुख केन्द्र सातवलेकर का घर ही था। उन्होंदिनों समस्त दक्षिणी रियासतों का एक संयुक्त उच्च न्यायालय स्थापित करने की एक योजना तैयार की गई और सांगली के प्रजापरिषद के अधिकेशन में वह योजना स्वीकृत भी हो गई। परन्तु अग्रेजोंकी पिंडू रियासतोंने इस योजना को मानने से इन्कार कर दिया। तब इस योजना को आगे बढ़ाने के लिए १९४३ के मई मास में जमखण्डी में महाराष्ट्र की सभी रियासतोंकी प्रजा परिषद का अधिकेशन हुआ। लोकनायक श्री हरि माधवराव अणे इस प्रधिकेशन के अध्यक्ष थे। किन्तु जब ब्रिटिश सरकार के कुचक के कारण बापू अणे वहां नहीं पहुंच सके तो सातवलेकर को अध्यक्ष मनोनीत करके सभा की कार्रवाई की गई। यह हंगामी अधिकेशन रात भर चलता रहा। स्वयं सातवलेकर का आजस्ती भाषण रात को १२ बजे प्रारंभ हुआ और पी फटने तक चला। महाराष्ट्र की रियासतोंमें आगे चलकर जो नया जागरण हुआ और जिसके फलस्वरूप सन् १९४८ में उनका भारतीय संघ में सहज विलय हो गया, उसकी आधारशिला मानों जमखण्डो के इसी अधिकेशन में रख दी गई थी।

स्वराज्य के उषाकाल के आगमन से पूर्व चिरदासता के अन्धकार को छिन्न-भिन्न करने के लिए देश के इस भाग में जो संघर्ष हुआ और औंध रियासत में जिस स्वराज्य का परीक्षण किया गया, देश की विशालता की तुलना में यह कितना ही छोटा क्यों न प्रतीत हो, किन्तु अपने आप में यह चित्र इतना परिपूर्ण है कि उसमें कहीं भी त्रुटि-निर्देश की गुंजाइश नहीं। औंध के इस परीक्षण की सफलता को आंकने के लिए स्वयं महात्मा गांधी औंध आए थे और पं० जवाहरलाल नेहरू को जब इसका पता लगा तब वे दांतोंत्ले अंगुलि दबाकर रह गए थे।

वेद-साधना

ऐसा लगता है कि सातवलेकर का जन्म जिस काम के लिए हुआ था, वह इन सब कामों से भी कहीं बड़ा था। ये सब काम उनकी मानसिक और शारीरिक शक्ति का केवल एक भाग ही ग्रहण कर पाए थे। 'त्रिपादस्यामृतं दिवि'—उसके तीन चरण अभी अवशिष्ट थे। उनका अतः-करण साधक बनकर मानव जाति के जिस महान् उत्तराधिकार के समुद्ध 'कस्मै देवाय हविषा विधेम' की मुद्रा में नतमस्तक होकर खड़ा था, वह ये नहीं थे। चित्रकला धन कमाने का नायाब नुस्खा था, अन्तःकरण की जिस सात्त्विक वृत्ति ने उस कला के स्वेच्छया परित्याग का परिताप सहने की शक्ति दी थी, उसी वृत्ति ने राजनीति के इस लोकैषणा-परक कर्म से भी विमुख कर दिया। मन में केवल एक ही बात श्रासन जमाकर बैठी थी—'वेदोऽखिलो धर्ममूलम्'—वेद ही धर्म का मूल है। लोक और परलोक दोनों वेद से ही सिद्ध होते हैं। क्या इसीलिए प्राचीन ऋषियों ने वेदों की इस प्रकार प्राण-पण से रक्षा की थी? क्या वेद ही मानव-जाति के उद्धार का आधार नहीं है? क्या इसीलिए महाभाष्यकार ने ब्राह्मण का कर्तव्य बताया है कि उसे त्रिना स्वार्थ के घड़ंग वेद की अध्ययन करना चाहिए? वेद की ऐसी क्या महिमा है कि मैक्समूलर जैसे विदेशी विद्वान् उस का तत्त्व जानने के लिए संस्कृत सीखते हैं और लाखों रुपया खर्च करके वेदों की शुद्ध संहिताएं छापने को भी सबसे बड़ा गौरव का कार्य मानते हैं?

प्राचीन ऋषियों का ऋण इस वेदपाठी कुल में जन्मे ब्राह्मण के मन पर बोझ बनकर छाया था। वह इस ऋण से मुक्त होना चाहता था। वेद की महिमा का कुछ आभास उसे मिल चुका था—जब उसकी 'वैदिक राष्ट्रगीत' पुस्तक जब्त कर ली गई थी और 'वैदिक प्रार्थनाओं की ओजस्विता' लेख लिखने पर उस पर मुकदमा लगा था। वेद-प्रचार के कारण ही उसे हैदराबाद और लाहौर से निकलना पड़ा था। अब वेद का स्वाध्याय ही सातवलेकर ने अपने जीवन का लक्ष्य बना लिया।

स्वाध्याय-मण्डल

अँध पहुंचकर १९१८ में ही 'स्वाध्यायमण्डल' की स्थापना कर दी थी। इसी के माध्यम से वे अपने वेदमन्थन से निकले नवनीत को पाठकों के सामने रखते रहे। प्रारम्भ में ये पुस्तकों बम्बई में छपती रहीं, किन्तु बाद में 'भारत मुद्रणालय' के नाम से अपना प्रेस भी स्थापित कर लिया। स्वाध्यायमण्डल अपने पांचों पर खड़ा होने का उपक्रम कर ही रहा था कि धुंडिराज गणेश उर्फ बापू दीक्षित बापट नामक पौराणिक पण्डित ने सोमयाग का आयोजन करके उसमें पशुबलि की घोषणा की। सातवलेकर कैसे चुप बैठते? पशुबलि का विरोध किया और शास्त्रार्थ के लिए चुनौती दी। इससे पहले इसी तरह का एक मोर्चा रायचूर में जम चुका था। सातवलेकर में आत्म-विश्वास की कमी नहीं थी और उत्साह इतना कि ग्रेकेले सैकड़ों पण्डितों से भिड़ने को सन्तुष्ट। जब पौराणिक पण्डितों ने यह स्थिति देखी तो यज्ञ का स्थान सांगली से बदलकर अप्रसिद्ध स्थान पाचपड़ तालुका कर दिया और यहां भी पुलिस के सख्त पहरे में ही वे यज्ञ कर सके। यह देखकर सातवलेकर ने पशुबलि के विरोध में कुछ आपत्तियां और शास्त्रीय प्रमाण पण्डितों के पास भिजवाए। उनका भी कोई उत्तर नहीं आया। यद्यपि बापट पण्डित ने उस यज्ञ में पुलिस के सहयोग से अपनी

धंघली कर ली, परन्तु इतिहास इस बात का साक्षी है कि उसके बाद उन्होंने जिन अनेक यज्ञों का आयोजन किया था उनमें किसी में भी पशुबलि देने का राहस्य उन्हें नहीं हुआ।

वेद को अपना धर्मग्रन्थ मानने वाले हिन्दुओं द्वारा उसकी प्रपेदा से वे विक्षुब्ध हो उठे। इसी-लिए सातवलेकर ने सबसे पहले चारों वेदों की मूल संहिताएं छापीं, सो भी केवल पांच हप्ते में। छपाई, सफाई और कागज सभी कुछ उत्कृष्ट। सातवलेकर ने भारत भर में वेदपाठी पण्डितों की खोजकर उनसे सही पाठ का निश्चय किया था। इतना सब करने पर भी उन्हें सन्तोष नहीं था, इसलिए छापने के बाद सार्वजनिक रूप से घोषणा की कि इस पाठ में अशुद्धि निकालने वाले को प्रतिअशुद्धि एक रुपथे के हिसाव से पुरस्कार दिया जायगा। इसके बाद वाजसनेयी यजुर्वेद के ५-६ अध्यायों का अनुवाद छापा। फिर पूरे अर्थवेद का अनुवाद और व्याख्या छापी। इस ग्रन्थ के करीब २५०० पृष्ठ थे, किन्तु इसका मूल्य रखना केवल २५ रु। कम मूल्य रखने में उनकी व्यावसायिक लाभ की मनोवृत्ति नहीं थी, केवल लागत मूल्य पर जनता तक वेदों को पहुंचाना उद्देश्य था।

जलियांवाला बाग के हत्याकांड के पश्चात् जब समस्त देश में असहयोग और स्वदेशी का आंदोलन जोरों पर था, तभी (सन् १९१६) वैदिक धर्म की उत्कृष्टता और सारवत्ता की ओर जनता का ध्यान खींचने के लिए सातवलेकर ने हिन्दी में 'वैदिक धर्म' नामक पत्र निकाला। लोकमान्य की पुण्य-तिथि के अवसर पर सन् १९२४ में 'पुरुषार्थ' नामक मासिक पत्र मराठी में निकाला। इन पत्रों का उद्देश्य भी व्यावसायिक नहीं था। इनमें विज्ञापन नहीं लिये जाते थे। वैदिक वाङ्मय के मर्म को खोलकर पाठकों की मनोवृत्ति को सातिक तथा उच्चस्तर का बनाना ही इनका उद्देश्य था। ये दोनों पत्र आज भी उसी गति से चल रहे हैं। इसी बीच श्रीमद्भगवद्गीता की 'पुरुषार्थ-बोधिनी' टीका लिखनी शुरू की, और 'भगवद्गीता' के नाम से हिन्दी और मराठी में एक श्रीर मासिक पत्र निकालना प्रारम्भ किया।

पुरुषार्थ बोधिनी

भगवद्गीता की टीका जिस नए दृष्टिकोण से लिखी, उसके कारण वह अतिशीघ्र लोकप्रिय हो गई। गीता के दस अध्याय तक जब टीका लिख चुके, तब एकादश अध्याय में अर्जुन की दिव्य-दृष्टि और श्रीकृष्ण के विश्वरूप के दर्शन पर आकर गाड़ी रुक गई। कुछ भी समझ में नहीं आता था कि यह दिव्यदृष्टि क्या है और विश्वरूप-दर्शन का क्या अभिप्राय है। जब स्वयं मन संशयप्रस्त हो तब पाठकों को क्या समझायें। रोज प्रभु से प्रार्थना करते—“मैंने यह टीका लिखने का काम हाथ में लिया है। पर दिव्यदृष्टि और विश्वरूप दर्शन की पहेली समझ में नहीं आ रही है। तू ही मार्गदर्शन कर प्रभो, और समझा को सुलझा। अन्यथा यह टीका दस अध्याय के आगे नहीं बढ़ सकेगी, यहीं समाप्त हो जाएगी।” इसी बीच ओंकार मान्धाता (मध्यप्रदेश में नीमच के निकट) से लिखा किसी सज्जन का एक कार्ड मिला जिसमें लिखा था :

“नर्मदे हर ! तुम मुझे यहां आकर मिलो। तुमको जो चाहिए, वह मिलेगा। यहां आने में जो अपम होगा उससे कई गुना अधिक लाभ होगा।”

चिनानशाला,
ओंकार मान्धाता

—मायानन्द चंतन्य

सातवलेकर को यह पत्र मिला । पर साधुसन्तों के चक्कर में तो वे कभी पड़े नहीं । भूत-प्रेतों की माया भी उन्हें कभी अभित नहीं कर सकी । आर्यसमाजी संस्कार जो ठहरे । कई दिन तक वह पत्र यों ही मेज पर पड़ा रहा । तब एक दिन मन में आया कि इस आदमी के पास जाकर देखो तो सही । चल पड़े । दो दिन की रेल-यात्रा के पश्चात मोरतल्ली स्टेशन पहुंचे । वहां से तांगे में ओंकारेश्वर । परन्तु विज्ञानशाला और दो मील दूर थी । जिस कुली से सामान उठाकर वहां चलने को कहा वह बोला—‘वात्र, वह साधु तो भ्रष्ट है । उसके पास जाकर क्या करोगे ?’ परन्तु जाना तो या ही । जब विज्ञानशाला पहुंचे तो साधु धूनी रमाकर गांजे की चिलम का दम लगा रहा था । कुछ वितृष्णा हुई, किर भी नमस्कार किया । साधु ने पूछा—‘भोजन कहां करोगे ?’ सातवलेकर ने कहा—‘वापिस शहर जाऊंगा । वहां भोजन करूंगा ।’ साधु बोला—‘इपहरी में इतनी दूर वापिस जाकर क्या करोगे, भोजन यहां कर लेना ।’ सातवलेकर जितनी देर नर्मदा में स्नान कर सन्ध्या से निवृत्त हुए उतनी देर में साधु ने धूनी पर ही अपनी पतीली में खिचड़ी बना ली । खिचड़ी खाइ तो आनन्द आ गया । साधु ने कहा—‘दो रात के जागरण के कारण थके हो, इसलिए दो घंटे यहां कुटिया में सो लो । फिर बात करेंगे ।’ सोकर उठे तो साधु ने दो छोटी-छोटी पुस्तकें पढ़ने को दीं । घंटे भर में पुस्तकें पढ़ लीं । तब सातवलेकर साधु के पास बैठकर दिव्यद्विष्ट और विश्वरूप के बारे में शका-समाधान करते लगे । साधु ने संक्षेप में कहा : ‘वेद, दर्शन, उपनिषद् और गीता के वचनों की संगति और उपत्ति लगाओ, तुम्हें सब बातें हस्तामलक हो जाएंगी । इसी चीज का अभ्यास करो तो तुम्हें कहां भी कठिनाई नहीं पड़ेगी ।’ शास्त्रों के वचनों का भण्डार सातवलेकर के पास था, पर उनकी उपत्ति न समझने के कारण संगति नहीं लग रही थी और वे परस्पर-विरोधी भी लग रहे थे । इस घटना के बाद जैसे गांठ खुल गई और ‘भिद्यते हृदयग्रन्थिः छिद्यन्ते सर्वसंशयाः’ वाली बात हो गई । साधु सचमुच ज्ञानी था । उसकी अष्टाका का अपवाद सही नहीं था ।

लगभग तीन वर्ष में गीता की यह टीका पूरी हुई । गीता पर टीका अनेक विद्वानों ने की है, परन्तु सातवलेकर का एक हजार पृष्ठ का यह ग्रन्थ अपने आप में अद्वितीय है । गीता की टीका पूरी होने पर ‘भगवद्गीता’ मासिक का प्रयोजन समाप्त हो गया इसलिए उसे बन्द कर दिया ।

वैदिक वाङ्मय की जो सेवा सातवलेकर ने स्वाध्यायमंडल के द्वारा की है, उसकी तुलना नहीं हो सकती । कोई वडी सहकारी संस्था भी इतना काम नहीं कर पाती । चारों वेदों की मूल संहिताएं, उनका मराठी और हिन्दी में अनुवाद, बालमीकि रामायण का मराठी और हिन्दी में अनुवाद, महाभारत जैसे वृहत्काय ग्रन्थ का हिन्दी में अनुवाद, मनुस्मृति का संशोधन, गीता और उपनिषदों पर भाष्य—साथ में अनेक मासिक पत्रों का और अन्य ग्रन्थों का सम्पादन । इस महाप्राण पुरुष के पुरुषार्थ की कोई इमत्ता है !

एक बार सातवलेकर के सामने निराशा का क्षण भी आया । वेद के स्वाध्याय को यज्ञरूप में चलते-चलते जीवन के साठ वसन्त पार हो चुके थे । वेद के लिए अपना सर्वस्व अर्पण कर दिया था परन्तु इस विषय में जनता की उदासीनता ने हृदय में ग्लानि भर दी । आर्थिक अभाव ने भी नखदन्त फैलाए । गृहस्थी की पूरी जिम्मेदारी सिर पर थी । स्वेच्छ्या दरिद्रता के कारण जी ऊब गया । उमंग उठी । मन में आया कि यह सब परोपकारचर्चया छोड़कर फिर तूलिका पकड़ लें और चित्रकला के माध्यम से अर्जित धन के द्वारा गृहस्थी के रथ के पहियों के लिए चिकनी सड़क

तैयार करें। वेद से परलोक सुधरने की बात तो परलोक में देखी जाएगी। वेदों पर उनकी अनन्य श्रद्धा डगमगाने लगी। इसी समय उनके मस्तिष्क में धूम गया गीता का यह वाक्य :—“न हि कल्याणाङ्कत्कश्चित् दुर्गंति तात् गच्छति”—जन-कल्याण का काम करने वाले किसी भी व्यक्ति की दुर्गंति नहीं होती।

सातवलेकर इसी ऊहापोह में थे और प्रकृतिस्थ नहीं हो पाए थे कि तभी एक सज्जन ने हरिद्वार से उन्हें दो हजार रुपये का एक चैक वैदिक ग्रन्थों के प्रकाशन के लिए भेजा। सातवलेकर ने इसे प्रभु का संकेत और वरदान समझकर पुनः वेद के प्रति अपना जीवन अपित कर दिया।

आजादी के बाद

देश में राजनीतिक घटनाचक्र बड़ी तेजी से धूमा। सुभाष का विदेश-गमन, आजाद हिन्द फौज का निर्माण, मणिपुर तक भारतीय सेना का पदार्पण, जम्नी और जापान की पराजय, अंग्रेजों की विजय, लालकिले में आजाद हिन्द सेना के कमांडरों पर ऐतिहासिक मुकदमा, बम्बई में नौ-सेना का विद्रोह, नोआखाली और कलकत्ता का हत्याकांड, अन्तर्रिम सरकार, अन्त में देश का विभाजन तथा १५ अगस्त १९४७ को विदेशी दासता से मुक्ति। लौहपुरुष सरदार पटेल द्वारा सभी देसी रियासतों के विलीनीकरण का आंदोलन और २६ जनवरी १९४८ को महाराष्ट्र की रियासतों द्वारा विलीनीकरण का समर्थन तथा ६ मार्च को उनका विलय। इसी बीच पाकिस्तान को पचपन करोड़ ६० दिलवाने के लिए गांधीजी का अनशन और ३० जनवरी १९४८ को नाथूराम गोडसे द्वारा उनकी हत्या।

गांधीजी की हत्या की प्रतिक्रिया बड़ी बीभत्स हुई। अहिंसा के अवतार के तथाकथित अनुयायी हिंसा के द्वारा अपने मन के कलुष को बाहर निकालने लगे। नाथूराम गोडसे ब्राह्मण था। इसलिए ब्राह्मणों ने ब्राह्मणों के प्रति अपना चिरकालिक विद्वेष पूरा करने का यह अच्छा अवसर समझा। मुसलमान तथा असामाजिक तत्व भी इस काम में उनके साथ मिल गए और ब्राह्मणों के विहृद सामूहिक रूप से यह द्वेष उबल पड़ा। उचित-अनुचित का विवेक जाता रहा। पण्डित सातवलेकर को भी इसका शिकार होना पड़ा। राष्ट्रीय स्वयं सेवक संघ के जिला संचालक की पद साथ लगी ही थी। कल यह हुआ कि भारतीय संस्कृति के मर्म को न समझने वाले और संस्कृति के नाम से विदेशी जूठन खाकर पेट भरने वाले गुस्त्रों के चेलों ने वेद के इस मूक साधक के निवासस्थान और ग्रन्थागार को भी आग लगा दी। अपने ही भाइयों द्वारा किए गए इस राक्षसी कांड पर पण्डित सातवलेकर के मुख से निकला : “हे मेरे प्रभो, तू इन्हें क्षमा करना, क्योंकि ये नहीं जानते कि ये क्या कर रहे हैं ?”

आंध्र रियासत का भारतीय संघ में विलय हो चुका था। आंध्र नरेश के आश्रय का अब कोई प्रश्न नहीं था। रियासती और ब्रिटिश भारत का भेद समाप्त हो चुका था। अब तो ‘सर्वे भूमि गोपाल की’ वाली बात थी। फिर आंध्र में ही रहकर क्या करते ? क्यों न और खुले आकाश में पंखों की ताकत की आजमाइश करें। आखिरकार तीस वर्ष तक जो भूमि साधनास्थली और कार्यक्षेत्र रही, उससे विदा ले ली।

पारडी की गोद में

ओंध छोड़ने के पश्चात् दिल्ली, नागपुर, हैदराबाद और बड़ौदा आदि नगर पण्डितजी का स्वागत करने को उत्सुक थे। वेद-प्रकाशन कार्य के लिए वहाँ पण्डितजी को भरपूर आर्थिक सहायता मिलने की भी आशा थी। महाराष्ट्र की सांस्कृतिक राजधानी और विद्याकेन्द्र पूना के लिए मोह भी था। किन्तु वह किसी अन्य स्थान की खोज में थे। अन्त में बलसाड़ से ७ मील दूर पारडी में जो स्थान देखा, वह पसंद आ गया।

इस स्थान की भी अपने आप में विचित्र कथा है। पारडी कभी गायकवाड़ों के अधीन रहा है, इसलिए गुजरात में होते हुए भी उस पर महाराष्ट्र की छाप है। पारनेरा नामक नदी के तट पर यह ग्राम बसा है। यहाँ एक अमेरिकन ईसाई मिशन था। जब ईसाई मिशनरियों ने भारत के स्वाधीनता-संग्राम को उग्र होते हुए देखा और वे यह जान गए कि अब इस देश को अधिक दिनों तक परतन्त्र नहीं रखा जा सकता, तब यह समझकर कि अंग्रेजी राज्य की समाप्ति के पश्चात् भारत में धर्मप्रचार की सुविधा नहीं मिलेगी, उन्होंने अपनी जायदादों को बेचकर जितना पैसा मिल सकता था, बटोर लेने की कोशिश की। उस समय मिशनरियों ने गुजरात और महाराष्ट्र में ही लगभग २२ मिशन बैचे थे। उसी प्रयास में उन्होंने पारडी का अपना यह मिशन भी बैच दिया। इस स्थान पर उनका एक गिरजाघर, निवासगृह, अतिथि-भवन, छात्रावास तथा आमों का एक सुन्दर बाग था। बम्बई के कुछ समर्थ आर्यसमाजियों ने यह स्थान अमेरिकन पादरियों से एक लाख ६० में खरीद लिया। उनका इरादा था कि इस स्थान पर एक आदर्श कन्या महाविद्यालय की स्थापना की जाए। परन्तु पण्डितजी को अपने कार्य के लिए यह शान्त, एकान्त और सुन्दर स्थान पसंद आया। उन्होंने कर्ज लेकर यह स्थान आर्यसमाजियों से खरीद लिया। 'ईसाई मिशन भूमि' 'आनन्दाश्रम' में बदल गई और वहाँ वेद की व्वनि गूंजने लगी। वहाँ अब ईसाई धर्म प्रचार और धर्म परिवर्तन के स्थान पर वैदिक धर्म और हिंदुत्व को जागृत करने का केन्द्र स्थापित हो गया।

१९४८ के जुलाई मास में पण्डितजी ओंध से पारडी आए। स्थानान्तरण का कार्य आसान नहीं था। लगभग ६० हजार ६० स्थान-परिवर्तन पर ही खर्च हो गए। नए स्थान पर नए उत्साह से कार्य प्रारम्भ हो गया। बीस वर्ष पहले जिस ब्रत का उद्यापन किया गया था वह आज भी अखंड रूप से, अविराम गति से चालू है। अठारह एकड़ की इस जमीन में सुन्दर अमराई है, तीन कुएँ हैं, भारत मुद्रणालय नाम से अपना निजी मुद्रणालय है, प्रेस के कर्मचारियों के काम करने के लिए खुली जगह है, छोटी-सी गोशाला है, मील भर की दूरी पर पारनेरा नदी है, पास ही है अनुल नाम की औद्योगिक बस्ती, जहाँ रंग और रसायन का एशिया का सबसे बड़ा कपर-खाना है। स्थान का जलवायु भी उत्तम है।

घन्यो गृहस्थाश्रमः

बम्बई के आर्द्दस स्कूल में प्रविष्ट होने से पहले सन् १९६६ में पण्डितजी का सौ० सरस्वती बाई से विवाह हो गया था। उस समय सरस्वती बाई की आयु १२ वर्ष थी। अब उनकी आयु

६१ वर्ष है। स्वास्थ्य खूब ग्रच्छा है। लगभग पिछले चालीस वर्षों से एक समय भोजन करती हैं। पण्डितजी के व्यक्तित्व के साथ अपने अस्तित्व को एकाकार कर देना उनकी जीवन-साधना रही है और उसी निष्ठा के साथ अपना जीवन व्यतीत कर रही हैं।

पण्डितजी के छोटे भाई हैं सीताराम पन्त जो फार्सिन कालेज में पढ़ाते हुए 'वच्च हनुमान्' के नाम से विल्यात थे और बाद में अमेरिका से रसायनशास्त्र में डाक्टरेट प्राप्त करके हैदराबाद में विवेकविधिनी कालेज के प्रिंसिपल बने। हाल में ही वे उस पद से कार्य निवृत्त हुए हैं। पण्डितजी और डाक्टर सीताराम पन्त के मध्य एक भाई और थे जिनका नाम था सखाराम पन्त—उनका १६६६ में स्वर्गवास हो गया।

लाहीर में दो पुत्रों का जन्म हुआ—बड़े का नाम वसन्तराव और छोटे का नाम माधवराव। वसन्तराव इस समय सपरिवार पण्डितजी के साथ ही रहते हैं और उनके प्रेस, प्रकाशन तथा मासिक पत्रिकाओं का कार्य भार संभाले हुए हैं। माधवराव बम्बई में प्रसिद्ध चित्रकार हैं और इस समय उनका एक लड़का चित्रकला की उच्च शिक्षा लेने के लिए विदेश गया हुआ है। पण्डितजी का एक पुत्र और था जिसका नाम था नारायण। वह गुरुकुल कांगड़ी में पढ़ता था। स्नातक बनने से कुछ समय पूर्व ही भयंकर आन्त्र ज्वर (टायफाइड) के कारण उसका गुरुकुल में ही स्वर्गवास हो गया था।

पण्डितजी का सारा परिवार उत्तम शिक्षित और मुव्यवस्थित है। सबका स्वास्थ्य ग्रच्छा है और सब सरल नियमित जीवन विताने के आदी हैं। परिवार के बालकों तक में चित्रकला की परंपराएं जीवित हैं। वेद ने 'अदीनः स्याम शरदः शतं भूयश्च शरदः शरतात्' कह कर सौ वर्ष और उससे अधिक समय तक अदीन होकर जीने का जो उपदेश दिया है, पण्डितजी ने उसे अपने जीवन द्वारा चरितार्थ किया है। पण्डितजी की धारणा है कि मनुष्य की आयु कम से कम १२० वर्ष तो होनी ही चाहिए। उनकी दृष्टि में वेद के 'शतायुर्वं पुरुषः' का यही अर्थ है, क्योंकि २० वर्ष का होने के पश्चात् ही मनुष्य अपनी इच्छा से जीना प्रारम्भ करता है। पण्डितजी को देखकर प्राचीनकाल के वैदिक कृषियों का साक्षात् चित्र उपस्थित हो जाता है। और मुख से सहसा निकल पड़ता है—'घन्यो गृहस्थाश्रमः।'

लोक गौरव

भगवद्गीता की 'पुरुषार्थ बोधिनी' नामक अद्भुत टीका के लिए अमृतसर के गीताधर्म महामंडल ने पण्डितजी को 'गीतालंकार' की उपाधि से विभूषित किया है।

सहस्रों वर्षों से लुप्त वैदिक वाङ्मय के भण्डार को जनता के समक्ष उपस्थित करने के कारण गोवर्धनमठ के जगद्गुरु शंकराचार्य ने पण्डितजी को 'महामहोपाध्याय' के विरुद्ध से अलंकृत किया है।

अखिल भारतीय हिन्दी साहित्य सम्मेलन (प्रयाग) ने अहिन्दीभाषी होते हुए भी हिन्दी साहित्य की इतनी सेवा के कारण 'साहित्यवाचस्पति' पदवी दी है।

गुरुकुल विश्वविद्यालय कांगड़ी ने 'विद्यामार्तण्ड' की उपाधि से विभूषित किया है।

११० वर्ष के योगिराज देवरहा बाबा ने १६६१ में 'ब्रह्मषि' की उपाधि प्रदान की।

भारत के राष्ट्रपति ने १९५६ में पण्डितजी को भारत के विद्वान् के रूप में १५०० रुपए वार्षिक देना प्रारम्भ किया है।

राष्ट्रभाषा प्रचार समिति (वर्षा) ने राष्ट्रभाषा की सेवा के उपलक्ष्य में महात्मा गांधी पुरस्कार के रूप में एक स्वर्णपदक और १५०१ रु० अर्पित किया।

विश्वधर्म परिषद् में वैदिक धर्म का प्रतिनिधित्व करने के लिए पण्डितजी को रूस, जापान और जिनेवा—इन तीन स्थानों से निमन्त्रण आ चुके हैं।

बिहार की जनता ने पण्डितजी का भव्य नागरिक अभिनन्दन किया।

१९२५ में मथुरा में हुई दयानन्द जन्मशाताब्दी के अवसर पर पण्डितजी का अत्यन्त हार्दिक स्वागत किया गया।

२ जुलाई, १९५४ को हैदराबाद के मराठी ग्रन्थ संग्रहालय में विविध संस्थाओं की ओर से भावभीता अभिनन्दन किया गया।

१५ सितम्बर १९५७ को ६०वें जन्मदिवस पर भारतीय विद्याभवन की ओर से श्री कन्हैया-लाल माणिकलाल मुंशी ने विशेष आयोजन करके भव्य स्वागत किया।

१० अप्रैल, १९६६ को पूना विश्वविद्यालय की ओर से भव्य समारोह में डी० लिट० की उपाधि प्रदान की गई।

३० अक्टूबर, १९६६ को फांकफुर्ट (पश्चिमी जर्मनी) के 'डी बेल्ट' नामक प्रसिद्ध दैनिक पत्र ने पण्डितजी के जीवन-वृत्त और कार्य के सम्बन्ध में सचित्र लेख प्रकाशित किया।

२३ दिसम्बर, १९६६ को अहमदाबाद में गुजरात राज्य के नागरिकों की ओर से अभिनन्दन किया गया और राज्यपाल ने ५००१ रु० की धैली राज्य की ओर से भेंट की। २४ दिसम्बर को गुजरात विश्वविद्यालय में स्वागत हुआ।

२८ अप्रैल, १९६७ को पूना के मराठी ग्रन्थ संग्रहालय की ओर से मानपत्र अर्पित किया गया और २९ को विविध संस्थाओं की ओर से भव्य स्वागत किया गया।

२६ जनवरी, १९६८ को राष्ट्रपति की ओर से 'पद्मभूषण' की उपाधि देने की घोषणा की गई।

२५ मार्च, १९६८ को बम्बई विश्वविद्यालय की ओर से 'डॉक्टर ऑफ लॉ' की उपाधिदी गई।

पण्डितजी के समकालीन

पण्डितजी के समकालीनों की गणना करने बैठते हैं तो देश-विदेश में आज उनके काल का एक भी व्यक्ति जीवित इष्टिगोचर नहीं होता। जिस वर्षे पण्डितजी का जन्म हुआ था उसी वर्ष डा० एनी बीसेंट, भगिनी निवेदिता, राजा रामपालसिंह, डा० शंकर अम्बाजी भिसे, श्री हरविलास शारदा, चीत के राष्ट्रपिता डा० सनयातसेन और ब्रिटेन के प्रधानमन्त्री स्टैनले बाल्डविन का जन्म हुआ था। पण्डितजी के जन्मकाल के वर्षे के आस-पास जिन मनीषियों का जन्म हुआ उनमें योगिराज अरविन्द घोष, स्वामी सत्यदेव परिन्राजक, भाई परमानन्द, डा० सत्यपाल, विष्णु गोविन्द पलुस्कर, विष्णुगणेश पिंगले, डा० सिल्वा लेवी (फांस के प्राच्य विद्याविशारद), लाला लाजपतराय, सरोजिनी नायडू, सी० एफ एंड्रूज, महात्मा हंसराज आदि व्यक्तियों का नाम

लिया जा सकता है। महात्मा गांधी का जन्म पण्डितजी के जन्म के दो वर्ष बाद हुआ था।

अपने योवन-काल में पण्डितजी ने जिन लोगों के साथ काम किया था अब तक उनकी अगली पीढ़ी भी महाप्रयाण कर चुकी है। इस समय वे 'शतकतु' पद से भी आगे बढ़कर जीवन के १०१वें वर्ष में चल रहे हैं। शरीर और मन से पूर्णतः स्वस्थ हैं। प्रतिदिन नियमपूर्वक अब भी सात घण्टे तक लेखनकार्य करते हैं। उत्साह इतना है कि अब भी कई नई योजनाओं को क्रियान्वित करना चाहते हैं।

उदाहरणार्थ— उनके मन में प्रबल आकांक्षा है कि एक वेद महाविद्यालय खोला जाए जिसमें शिक्षा सर्वथा निःशुल्क हो और वेदज्ञ प्राध्यापक मानवजाति के महान् सांस्कृतिक उत्तराधिकार (वेद) की रक्षा के लिए देश की भावी पीढ़ी को न केवल तैयार करें, प्रत्युत संसार के सामने देवों में निहित ज्ञान-विज्ञान के भण्डार को प्रकाशित भी करें। इसके साथ ही उनकी एक तात्कालिक आकांक्षा यह है कि प्रथम कक्षा से लेकर स्नातक कक्षा तक के लिए उपयोगी, क्रमिक रूप से उत्तरोत्तर स्तर की, धर्म शिक्षा की ऐसी पुस्तकें तैयार की जाएं जो वेद पर आधारित हों और ये पुस्तकें केवल भारत के ही नहीं, संसार भर के छात्रों के लिए उपयोगी हों। उनकी मान्यता है कि वेद किसी सम्प्रदाय-विशेष, देश-विशेष या काल-विशेष से सम्बद्ध नहीं है, वह समस्त मानवजाति के कल्याण के लिए है।

जैसा कर्म-संकुल तेजस्वी जीवन स्वयं व्यतीत कर रहे हैं वैसे ही जीवन की तेजोधारा समस्त मानव-जाति में प्रवाहित करने के इच्छुक इस कर्मयोगी को देखकर शेक्सपियर की यह उक्ति याद आती है :

And all the elements
Of the Nature
Will stand,
And say—
“This is the man.”

स्वयं वेद ने आदेश दिया है—"कुर्वन्मेवेह कर्मणि जिजीविषेच्छतं समाः। एवं त्वयि नान्यथेतोऽस्ति न कर्म लिप्यते नरे।" मनुष्य कर्म करते हुए ही सौ वर्ष तक जीने की इच्छा करे। कर्म में आसक्ति, परन्तु कर्मफल में अनासक्ति यदि जीवन का लक्ष्य रहे तो कर्म बन्धनकारक नहीं होता। पण्डितजी का सारा जीवन इसी वेदमन्त्र की व्याख्या है।

पण्डितजी से कोई उनके दीर्घजीवन और उनकी उपलब्धियों का रहस्य पूछें तो सहज भाव से वे यही उत्तर देंगे : 'वरदायिनी वेदमाता की मैंने स्तुति की और उसने मुझे दीर्घयु, प्राणों की कर्जस्विता, कीर्ति, सम्पदा और ब्रह्मवर्चस् प्रदान किया।* जो भी वेदमाता की स्तुति करेगा उसे इसी प्रकार वरों की प्राप्ति होगी।

यही पण्डितजी का जीवन है।

भारतमाता का भक्त और वेदमाता का अनुरक्त यह पुत्र इसी प्रकार चिरकाल तक विश्वमानव की सेवा करता रहे, यही कामना है।

खण्ड—२
विचारधारा

अभयं नः करत्यन्तरिक्षमभयं
आवापूर्थिवो उमे इमे ।
अभयं पश्चादभयं पुरस्ता-
दुत्तरादधरादभयं नो अस्तु ॥

अभयं मिश्रादभयममिश्रा-
दभयं ज्ञातादभयं पुरो यः ।
अभयं नवतमभयं दिवा नः
सर्वा आशा मम मिश्रं भवन्तु ॥

अथवै० १६।१७।५-६

वैदिक राष्ट्रगीत*

सब मानते हैं कि 'वेद' में सब विद्याएं हैं। सब विद्याएं सूक्ष्म रूप से वेद में हैं, यह स्मृतियों में भी कहा है 'सर्वज्ञानमयो वेदः' यह प्रसिद्ध वेदप्रशंसा है। 'वेदोऽखिलो धर्मसूलं' ऐसा मनुस्मृति में कहा है। ऐहिक और पारलोलिक सब विद्याएं वेद में हैं, ऐसा मानने से अथवा कहने से कार्य नहीं चल सकता, प्रत्युत जो विद्याएं वेद में हैं, उनको बाहर निकालकर जनता के सामने रखना चाहिए। वैदिक वर्मियों पर यह भार इस समय है। इसलिये वेद में 'राष्ट्रगीत' है और वह बड़ा सारांभित है, तथा आजकल के समस्त देश के राष्ट्रगीतों से वह अधिक बोधप्रद है, यह हम इस लेख में बताना चाहते हैं।

वेद में 'राष्ट्रगीत' है, इतना सिद्ध होने से वेद में राष्ट्रविषयक विचार है, यह स्वयं ही सिद्ध हो सकेगा, और राष्ट्रशासन, राष्ट्ररक्षण और राष्ट्र के अम्बुदय के सम्बन्ध के सब विचार वेद में हैं, ऐसा भी परंपरया मानना सुगम होगा।

अथवा वेद के १२वें काण्ड के प्रथम सूक्त में यह "वैदिक राष्ट्रगीत" है और "ग्रामपत्तनादिरक्षणार्थम्"। 'गांव, नगर आदि के संरक्षण के समय इसका पाठ करना चाहिये' ऐसा इस सूक्त का विनियोग वहां कहा है। राष्ट्रगीत का यही उपयोग सर्वत्र होता है। यह सूक्त 'अथर्वा. ऋषि' का है। इस सूक्त का देवता 'मातृभूमि' है और 'राष्ट्र-रक्षण के कर्म' में इसका विनियोग है। इससे स्पष्ट हो जाता है कि यह सूक्त निःसन्देह राष्ट्रगीत है और आजकल के राष्ट्रगीत जिस कार्य में बोले या गाये जाते हैं, उसी कार्य में यह गीत भी गाया जाता था। इस राष्ट्रगीत में 'मातृभूमि' का स्पष्ट निर्देश भी है। देखिए—

मातृभूमि की कल्पना

१ माता भूमिः पुत्रोऽहं पृथिव्याः ॥ १२।१।१२

२ सा नो भूमिर्विसृजता माता पुत्राय मे पथः ॥ १२।१।१०

३ भूमे मातर्निषेहि मा भद्रया सुप्रतिष्ठितम् ॥ १२।१।६३

इन मन्त्रों में मातृभूमि की अत्यंत स्पष्ट कल्पना है।

* यही वह लेख है जो पहले 'विश्ववृत्त' नामक मराठी पत्र में छपा था और बाद में मराठी और हिन्दी में पुस्तकाकार छपने पर लिंगासार सरकार द्वारा अल्प कर लिया गया था। मूल रूप में यह लेख काफी छोटा था, प्राप्त परिषिद्धतजी ने स्वयं इसे यह क्षमा दिया है।

"(१) मेरी माता भूमि है और मैं इस मातृभूमि का पुत्र हूँ। (२) यह मातृभूमि मैं जो पुत्र हूँ उसके लिये पर्याप्त दूध अर्थात् उपभोग के लिए पदार्थ देवे। (३) है मातृभूमि! मुझे सुरक्षित रख।" ये मन्त्र स्पष्ट हैं और इनमें मातृभूमि और उसके पुत्र इनकी स्पष्ट कल्पना है। मैं मातृभूमि का पुत्र हूँ। 'पुत्र' का अर्थ ही (पुनाति त्रायते च) पवित्र करने वाला और संरक्षण करने वाला है। मातृभूमि के पुत्र का कर्तव्य यहां बताया है। जो पुत्र है वह पवित्र बने, पवित्रता वत्तें और अपनी माता का संरक्षण करे। इस तरह इन मन्त्रों में मातृभूमि का संरक्षण करने का कर्तव्य ही मातृभूमि के सुपुत्रों का है, ऐसा स्पष्ट कहा है। यह सत्य भी है। माता का उत्तम संरक्षण करना सुपुत्र का कर्तव्य है, यह क्या कहना आवश्यक है? यह तो हरएक पुत्र का कर्तव्य ही है। कुपुत्र ही माता का संरक्षण नहीं करता, जो सपूत्र है वह तो अपना जीवन अपर्णण करके अपनी माता को सुरक्षित रखता है और उसका सम्मान बढ़ाता है, यही बात ऊपर के मन्त्रों में कही है। भूमि माता है और जनता उस माता की पुत्र है, इस बात का स्पष्ट निर्देश करने वाला मन्त्र यह है—

त्वज्जातास्वयि चरन्ति मर्त्याः त्वं विभर्षि द्विपदस्त्वं चतुर्ष्वपदः । तवेऽप्य पृथिवी पंच मानवा
येन्यो ज्योतिरमतं मर्त्येभ्यः उद्यन्त्स्यां रश्मिभरातनोति ॥

अ. १२।१।१५

"हे मातृभूमि [तुम्हारे शरीर से उत्पन्न हुए हम सब मनुष्य] तुम्हारे ऊपर सचार करते हैं। तुम ही द्विपादों और चतुष्पादों का संरक्षण तथा धारण-पोषण करती हो। आह्याण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र, निषाद ये पञ्चजन निःसन्देह तुम्हारे ही पुत्र हैं। इनके लिए सूर्य उदय होकर प्रकाश देता है।"

(त्वज्जाताः) मातृभूमि से पञ्चजनों की उत्पत्ति हुई है, अर्थात् जो जिस मातृभूमि के रहने वाले हैं, वे ही उस भूमि पर संचार करें, वहीं रहें, वहां जो भोग होते हैं उनको प्राप्त करें और उनका भोग करें। ऐसा कभी न हो कि दूसरे लोग आकर उनका भोग करें और मातृभूमि के पुत्र उनसे वंचित रहें। इसकी सूचना देने के लिए यह मन्त्र इस राष्ट्रगात में है। यह मातृभूमि (द्विपदः चतुर्ष्वपदः विभर्षि) द्विपाद मानव तथा पक्षी तथा चतुष्पाद अर्थात् गौ आदि पशुओं का भरण-पोषण कर रही है। ऐसा ही होना चाहिए। माता का दूध उसके पुत्रों को मिलाना चाहिए। सब लोग इसका विचार मन में रखें। दूसरे देश को परास्त करके पाश्वी बल से उस देश को लूटना किसी भी देश को उचित नहीं है।

यदि किसी देश में ज्ञान और विज्ञान बढ़ा है, कला कुशलता बढ़ी है, तो उनकी शिक्षा वे अन्य देशवासियों को दें। उनको सुबुद्ध और प्रबुद्ध करें, इस तरह उनकी सेवा करने के लिए अपने ज्ञान, बल तथा धन का उपयोग करें। विश्व सेवा ही विराट् पुरुष का सन्तोष बढ़ा सकती है। कितना महत्वपूर्ण उपदेश इस मंत्र ने दिया है। मनुष्य अन्य देश में जायें, पर उनको पददलित करने के लिए नहीं, उनकी सहायता करके उनको उठाने के लिए जायें। इस तरह विश्व-सेवा से विश्व का मुख बढ़ावें और सबके दुःख दूर करें। विश्व को पददलित करने से द्वेष बढ़ेगा, जो निःसन्देह मुँहों को जन्म देगा।

अनेक भाषाएं, अनेक धर्म

जनं विभ्रती बहुधा विवाचसं नानाधर्माणं पृथिवी यथौकसम् ।

सहस्रं धारा द्विषणस्य मे दुहां ध्रुवं धेनुरनपस्फुरन्ती ॥ अ. १२।१।४५

“(बहुधा विवाचसं जनं विभ्रती) अनेक प्रकार की विविध भाषाएं बोलने वाले और (नानाधर्माणं) अनेक धर्मों को धारण करने वाले जन-समुदायों को (यथा ओक्सं) एक घर में रहने वाले भाइयों के समान यह मातृभूमि धारण करती है। यह भूमि हमें धन की हजारों धाराएं देती रहे, जैसी दुहने के समय न हिलने वाली गी दूध देती है।”

यहां ‘विवाचसं, नानाधर्माणं जनं’ ये पद बड़े महत्व के हैं। ‘वि-वाचस’ का अर्थ अनेक प्रकार की भाषाओं को बोलने वाले लोग मातृभूमि में रहते हैं। प्रत्येक प्रान्त में भाषा भिन्न होती है। भारत में ही देखिये—काश्मीरी, पंजाबी, सिन्धी, बलोची, पश्तो, हिन्दी, बिहारी, बंगाली, राजस्थानी, गुजराती, कच्छी, मराठी, कन्नड़, तेलगु, तमिल, मलयालम आदि कई भाषाओं को बोलने वाले लोग यहां हैं। प्रत्येक देश में इसी तरह प्रान्त भाषा विभिन्न हो सकती है। इस में भी इसी प्रकार अनेक भाषाएं हैं।

मनुष्यों के धर्म भी विभिन्न होते हैं। यहां का धर्म शब्द हिन्दू धर्म, बौद्धधर्म जैसे धर्मों का बोधक नहीं है। वेद के समय ये मानव-निमित्त धर्म नहीं थे। अतः यहां का धर्म शब्द मानव की मनः प्रवृत्ति का वाचक है। मानव में ज्ञान-प्रवृत्ति, बीरवृत्ति, संग्रहवृत्ति और कर्मवृत्ति स्वभावतः होती है। ये मानव के विविध स्वभाव-धर्म हैं। ऐसे विविध स्वभाव-धर्म के कारण मानवों में अनेक प्रवृत्तियां होती हैं, तो भी [यथा ओक्सं] एक घर में रहने वाले भाइयों के समान सब विभिन्न प्रवृत्ति के लोग इस मातृभूमि में रहते हैं और एक मत से अपनी मातृभूमि की सेवा करते हैं।

प्रवृत्तियां विभिन्न होने पर भी एक देशवासियों में एकता रहनी चाहिए। यह उपदेश इस मन्त्र में है और वह बड़ा ही लाभदायी है। जैसे मां अपने बच्चे को अपना दूध देती है और उसका पोषण करती है, उसी तरह मातृभूमि अपने धान्यरूपी दूध से अपने बच्चों का पालन-पोषण करती है।

यस्याः पुरो देवकृताः क्षेत्रे यस्या विकुर्वते । प्रजापतिः पृथिवीं विश्वगभास्मि
आशामाशां रथ्यां नः कृणोनु ॥

अ० १२।१।४३

“जिस हमारी मातृभूमि के नगर देवों द्वारा बनाए गए हैं, तथा जिसके क्षेत्रों में मनुष्य विविध प्रकार के कार्य करते हैं, अनेक उत्तम पदार्थों को अपने गर्भ में—अपनी खानों में धारण करने वाली हमारी उस मातृभूमि को प्रजापालक परमेश्वर प्रत्येक दिशा में हमारे लिए अत्यन्त रमणीय बनावे।”

हमारी मातृभूमि हमारे लिए प्रत्येक दिशा में रमणीय होनी चाहिए। नगर हो या ग्राम हो, जहां मनुष्य जाए, वहां रमणीयता दीखनी चाहिए। अपनी मातृभूमि पर किसी स्थान पर उदासीनता नहीं रहनी चाहिए। मनुष्यों का यह कर्तव्य है कि वे अपने नगरों और ग्रामों को तथा बनों को

रमणीय बनाने का यत्न करें। सर्वं शोभा दीखनी चाहिए। सर्वदर्यं सर्वं त्रिभौत-प्रीत रहना चाहिए। वेद-धर्म चाहता है कि मनुष्य अपने ग्रामों, पत्तनों और नगरों को अत्यन्त सुन्दर बनावें।

देव-निर्मित नगरियाँ हैं। भगवान् श्रीकृष्ण की द्वारका है, रामचन्द्र की अयोध्या है, हर का हरद्वार है, ब्रदीनाथ ब्रदी के द्वार उन देवों के लिए सुप्रसिद्ध है। काली का कलकत्ता है, रामचन्द्र का बनाया रामेश्वर है, भवानी का कन्याकुमारी है, श्रीरंग श्रीरंगनाथ का है, श्रीकृष्ण की मथुरा है, बृन्दावन भी उसी से पवित्र बना है। इस तरह देवताओं के कारण प्रसिद्ध हुए नगर अपने देश में तथा अन्यान्य देशों में भी प्रसिद्ध हैं। इसका ज्ञान तदेशियों को होना चाहिए। हम जिस नगर में रहते हैं, उस नगर का प्राचीन इतिहास उन नगरवासियों को विदित होना चाहिए। इससे अपने नगर का तथा अपने राष्ट्र का प्रेम उन निवासियों के मनों में स्थिर रहता है। ऐसा प्रेम अपने देश के नगरों के विषय में तथा अपने राष्ट्र के विषय में देशवासियों में हो और वह बढ़े, ऐसी सुशिक्षा युवतों को मिलनी चाहिए, यह बोध इस मन्त्र से प्राप्त होता है। यही विचार और वेत्तिए —

यस्यां पूर्वे भूतकृत ऋषयो गा उदानुच्छुः । सप्त सत्रेण वष्टसो यज्ञेन तपता सह ॥

अ० १२।१३६

“जिस मातृभूमि में देश का भूतकाल बनाने वाले प्राचीन ज्ञानी ऋषियों ने सत्र, यज्ञ तथा तप करके (सप्त गा:) सात भूविभागों का उद्घार किया, वही हमारी श्रेष्ठ मातृभूमि है।”

इस मन्त्र में कहा है कि इस भूमि में (भूत-कृतः ऋषयः) भूतकाल में उज्ज्वल ज्ञान का प्रचार करने वाले ऋषि हुए थे। उदाहरण के रूप में देखिए—वसिष्ठ, भरद्वाज, वामदेव, अत्रि, विश्वामित्र, गौतम आदि ऋषियों ने इस देश में सर्वप्रथम ज्ञान का प्रचार किया था। इसी तरह अन्यान्य देशों में अन्य ऋषियों ने किया। ये भूतकाल बनाने वाले ऋषि यहां हुए, ऐसा प्रत्येक देश के निवासी को विदित रहना चाहिए। प्राचीन समय में इन ऋषियों ने इस ज्ञान का प्रसार किया, अत्रिय वीरों ने इस देश का युद्ध में शत्रु से संरक्षण किया, इन वैश्यों ने धनधान्य की वृद्धि की और जनता को सुखी बनाया, इन कुशल शिल्पियों ने ये शिल्प रचे और देश का सर्वदर्य बढ़ाया। यह ज्ञान देशवासियों को होना चाहिए, जिससे अपने भूतकाल के विषय में आदर बढ़े। इस प्रकार देश-प्रेम वृद्धिगत होता है और भविष्य में वैसे ही शुभ कर्म करने का उत्साह जनता में बढ़ता है। भूतकाल के इतिहास का ज्ञान इस तरह जनता का उत्साह बढ़ाता है। इस ज्ञान को प्राप्त करना अत्यंत आवश्यक है, यही बात और अधिक स्पष्ट अगले मन्त्र में बताई है, वह देखिए—

देव ऋण

यस्यां पूर्वे पूर्वजना विचकिरे यस्यां देवी असुरानम्यवर्तयन् ।

गवामश्वानां वयसश्च विठ्ठा भगं वर्चः पूर्यिवो नो दधातु ॥ अ० १२।१४५

“जिस मातृभूमि में हमारे प्राचीन पूर्वजों ने पराक्रम किया था और जिसमें देवों ने असुरों को भगा दिया था, जो मातृभूमि गौओं, घोड़ों और पक्षियों को रहने के लिए अच्छा स्थान देती है, वह हमारी मातृभूमि हमें ऐश्वर्य और तेज देवे।”

इस मन्त्र में भी प्राचीन इतिहास को और निर्देश किया है। (पूर्व पूर्वजना विचकिरे) प्राचीन पूर्वजों ने जिसमें विविध पराक्रम किए थे, पराक्रम करके मातृभूमि का संरक्षण किया था, इसी तरह (देवा असुरान् अभ्यवर्तयन्) जिस मातृभूमि के रक्षणार्थ देवों ने असुरों को भगा दिया था। अपनी ही मातृभूमि में देखिए, इन्द्र ने वृत्र, शंबर आदि असुरों का नाश किया, राम ने रावणादिकों का नाश किया, विष्णु ने नरकासुर आदि का नाश किया, श्री शंकर ने त्रिपुरासुर का नाश किया। इस तरह अनेक देवों ने अनेक असुरों का नाश किया और इस राष्ट्र को सुरक्षित रखा था, यह प्राचीन इतिहास देखना आवश्यक है। इसको देखने से तरुणों में मातृभूमि की रक्षा करने का उत्साह बढ़ता है। यह उत्साह जनता में बढ़े इसीलिए इन मन्त्रों में ये निर्देश आ गये हैं। इस कारण इनका विशेष महत्व है। यही वर्णन अगले मन्त्र में विशेष स्पष्टता से देखिए—

यामश्विनाविमिमातां विष्णुर्यस्यां विचकिरे । इन्द्रो यां चक्र आत्मनेऽनमित्रां शचोपतिः ।

सा नो भूमिविसूजतां माता पुत्राय मे पथः ॥ अ० १२।१।१०

‘अश्विवदेवों ने जिस भूमि का मापन किया, विष्णु ने जिस भूमि में अनेक पराक्रम किए, शक्तिशाली इन्द्र ने जिस भूमि को अपने लिए शत्रुरहित किया, वह हमारी मातृभूमि, माता जैसे अपने पुत्र को दूध देती है, उसी तरह हमें उपयोगी पदार्थ देते।’

इस मन्त्र में विष्णु और इन्द्र के पराक्रमों का स्पष्ट निर्देश है। इस उपलक्षण से अन्यान्य वीरों के पराक्रम भी जानने योग्य हैं।

अश्विवदेवों ने भूमि, पर्वत, नदी, तालाब आदि के क्षेत्रों का मापन किया और यह क्षेत्र इतना है, यह इतना है ऐसा निश्चित किया। भूमि का मापन सबसे प्रथम अश्विवदेवों ने किया और मानवों की गणना सबसे प्रथम गणपति ने की। मनुष्य गणना भी मानवी उन्नति का एक उत्तम साधन है। इसी तरह अश्विवदेवों ने जो-जो भूमापन किया, वह भी उन्नति के लिए सहायक था।

जिस तरह इन्द्र और विष्णु ने असुरों का नाश किया और मातृभूमि की सुरक्षा की, उसी तरह अश्विवदेवों ने भूमापन किया और प्रमाणबद्धता ग्रामों और नगरों की की। सम्पत्ता की सुरक्षा के लिए इसकी अत्यन्त आवश्यकता है। यह बात इस मन्त्र ने सूचित की है।

मातृभूमि की रक्षा और सेवा

यां रक्षन्त्यस्वप्ना विश्वदानीं देवा भूमि वृथिवीमप्रमादम् ।

सा नो मधुप्रियो दुहां शथो उक्तु वर्चसा ॥ अ० १२।१।१७

“ज्ञानी और वीर जिस मातृभूमि की आलस्य न करते हुए सर्वदा रक्षा करते रहते हैं, वह मातृभूमि हमें मधुर और प्रिय अन्न देवे और हमें तेज से युक्त करे।”

इस मन्त्र में कहा है कि मातृभूमि की सुरक्षा (विश्वदानीं) सदा सर्वदा करनी चाहिए और (अप्रमादं) प्रमाद न करते हुए करनी चाहिए। मातृभूमि के सुयुत्रों में जो ज्ञानी हों वे ज्ञान से, जो वीर हों वे अपनी वीरता से, जो धनी हों वे अपने धन से और जो कर्मचारी हों वे अपने प्रयत्न से मातृभूमि को सुरक्षित रखने का यत्न करें। अपने प्रयत्न की पराकार्णा करके मातृभूमि को सुरक्षित रखें। किसी तरह शत्रु का आक्रमण अपनी मातृभूमि पर होने न दें।

मातृभूमि में जो मधुर और सामर्थ्य बढ़ाने वाला अन्न और खाद्य पेय होगा, वह सब उस मातृभूमि के पुत्रों को ही मिले। कोई शत्रु अपने पाशवी बल से आक्रमण करके उस अन्न को लूट न सके। ऐसी व्यवस्था स्थायी रूप से राष्ट्र में होनी चाहिए। किसी समय किसी कारण इस संरक्षण के विषय की शिथिलता राष्ट्र में नहीं होनी चाहिए।

कितना उत्तम और सदा दक्ष रहने का उपदेश इस मन्त्र ने दिया है। मातृभूमि के भक्तों को यह सदा ध्यान में रखना चाहिए।

याऽर्जवेऽषि सलिलमग्र आसीत् यां मायाभिरन्वचरन्मनीषिणः ।

सा नो भूमिस्त्वर्षि बलं राष्ट्रे दधातुत्तमे ॥ अ० १२।१।८

“जो मातृभूमि प्रारंभ में जल के अन्दर थी, जिस मातृभूमि की सेवा मननशील लोग कुशलता से (तथा राजनीति से भी) करते हैं, वह हमारी मातृभूमि हमारे उत्तम राष्ट्र में तेजस्विता और बल धारण करे।”

यहाँ (मायाभिः अन्वचरन् मनीषिणः) मायाओं से ज्ञानी सेवा करते हैं, ऐसा कहा है। ‘माया’ पद के दो अर्थ वेद में हैं : (१) कुशलता, कार्य की प्रवीणता, चातुर्य, निपुणता तथा (२) कपट, कुटिलता, कपटपटुता, दावपेंच, शत्रु को चक्रमा देने की विद्या। ये दोनों अर्थ माया शब्द में हैं। शत्रु को परास्त करना है। यदि शत्रु कार्यप्रवीणता से परास्त होता है, तब तो ठीक है, यदि शत्रु बड़ा प्रबल है और सरलता से परास्त नहीं होता, तो उसको कुटिलता से भी परास्त करना चाहिए। जैसे राम ने बाली को छिपकर मारा था, तथा श्रीकृष्ण के समक्ष भीष्म, द्रोण, कर्ण आदि वीरों का नाश पांडवों ने कपट से ही किया था। यह माया है। वास्तव में माया करने वाले राक्षस ही होते हैं। पर यह विद्या देवों ने भी प्राप्त की। इसलिए कहा जाता है कि राजनीति में कपट नीति के लिए स्थान है। राजनीति का अर्थ ही कपटनीति है। सर्वसाधारण नीति तो शुद्ध-नीति है, परन्तु राजनीति में कपट-पटुता आ जाती है। कौटिल्यका अर्थशास्त्र देखिए। वह राजनीति का ग्रन्थ है और उसमें कपट प्रयोग के लिए स्थान है। जिस उपाय से शत्रु मारा जा सकता है, उस उपाय से उसको मारना चाहिए। यह है राजनीति का सिद्धांत। यदि प्रबल शत्रु के साथ भी हम सरल व्यवहार करें, तो उसकी प्रबल शक्ति हमारे लिए बाधक होगी, इसमें सन्देह नहीं है।

परस्पर मित्रता होने से बाली और रावण मिले थे। रावण को निर्बल बनाने के लिए बाली का नाश अनिवार्य होने के कारण राम ने उसका वध कपट से किया। इसमें राजनीति की दृष्टि से कोई दोष नहीं है। इसीलिए इस मन्त्र में कहा गया है कि (मनीषिणः मायाभिः मातृभूमिं अन्वचरन्) बुद्धिमान लोग कुशलता से तथा कापटय से भी मातृभूमि की सेवा करते हैं। मातृभूमि की रक्षा करने के कार्य में ही इस तरह का शब्द प्रयोग—जिसके दो भिन्न अर्थ होते हैं—किया है। यह सावधानी ध्यान में रखने योग्य है। सदासर्वदा, आपस के व्यवहार में अथवा जहाँ सरलता से कार्य चल सकता है वहाँ कपट-प्रयोग शत्रु से भी नहीं करना चाहिए। यह तो नियम है, पर जिस समय कार्य बनता नहीं, उस समय शत्रु को कापटय से जीतना चाहिए।

कौरव वीरों के साथ पांडव वीरों ने सरल रीति से ही युद्ध किया था। बहुत प्रयत्न करके भी उनको परास्त करना पांडवों के लिए शक्ति नहीं था। पांडवों की शक्ति किसी तरह अधिक बढ़ नहीं सकती थी, पांडवों का पराभव का अर्थ सत्पक्ष का पराभव था। सत्पक्ष का तो पराभव होना नहीं चाहिए। इसलिए अन्तिम समय में पांडवों ने कपट प्रयोग किया और श्रीकृष्ण ने उसका अनु-मोदन भी, सत्पक्ष की जय होने के लिए ही किया था। माया का प्रयोग करने की यही मर्यादा है। इस मर्यादा का पालन अवश्य होना चाहिए।

अब मातृभूमि का धारण किन गुणों से होता है इस विषय में इस राष्ट्रगीत का मंत्र जो उपदेश देता है, वह देखिए—

सत्यं बृहत् ऋतं उग्रं दीक्षा तपो भूम्य यज्ञः पृथिवीं धारयन्ति ।

सा नो भूतस्य भव्यस्य पत्नी उर्मं लोकं पृथिवीं नः कृणोतु ॥ अ० १२।१।१

“सत्यं, बृहद्द्वाव, सरलता, उग्रता, दक्षता, शीतोष्ण सहन करने की शक्ति, ज्ञान और यज्ञ ये आठ सद्गुण मातृभूमि को धारण करते हैं। वह हमारी भूत, वर्तमान और भविष्य का पालन करने वाली मातृभूमि हमारे लिए विस्तृत कार्य क्षेत्र देते।”

स्वराज्य प्राप्त होने पर उसका संरक्षण कैसा होता है वह इस मन्त्र ने कहा है। यहां आठ सद्गुणों का निर्देश है। ये गुण मातृभूमि को धारण करते हैं (पृथिवीं धारयन्ति) ऐसा यहां कहा है। जिस राष्ट्र के लोगों में ये आठ गुण होंगे, वे लोग अपनी मातृभूमिका संरक्षण कर सकते हैं। इसलिए संक्षेप से हम इन आठ गुणों में क्या कहा है वह बताते हैं—

१ सत्यं—पहिला राष्ट्ररक्षक शुभ गुण सत्य है। राष्ट्र के मनुष्यों में विचार, उच्चार, आचार में सत्य रहना चाहिए। सत्य से व्यवहार उत्तम होता है और राष्ट्र का रक्षण होता है।

२ बृहत्—बृहद्द्वाव मानवों में रहना चाहिए, एक विशालभाव होता है और दूसरा संकुचित भाव होता है। उदारता का विशाल भाव मनुष्यों में होना चाहिए। संपूर्ण मानव-समाज के कल्याण करने का यत्न करना, यह विशाल भाव है। ‘वसुधैव कुटुंबकम्’ यह विशाल भाव है। राष्ट्ररक्षण के लिए इसकी आवश्यकता है। इसके विरुद्ध संकुचित भाव यह है कि अपनी जाति का रक्षण करने के लिए अन्य जातियों का नाश करना। अपने कुटुंब का रक्षण करने के लिए अन्य कुटुंबों का नाश करना। यह संकुचित भाव मातृभूमि का नाश करता है। विशाल उदारता का भाव राष्ट्र की रक्षा करता है।

३ ऋतं—सरलता, सीधापन, निष्कपट आचरण रहना चाहिए। इससे व्यवहार उत्तम होता है और मातृभूमि का यश बढ़ता है। राष्ट्र का संरक्षण होता है।

४ उग्रं—उग्रता, वीरता, शौर्य, धैर्य, युद्ध-सामर्थ्य। क्षत्रिय का यह गुण है। राष्ट्र का रक्षण करने में इसका विशेष महत्व है।

५ दीक्षा—दक्षता, सावधानता, किसी समय असावधान न रहना। सब कार्य दक्षता से निर्दोष सम्पन्न करना। शिथिलता से कोई कार्य उचित रीति से नहीं होता। इसलिए सदा दक्ष रहने का उपदेश यहां किया है।

६ तपः—शीत उष्ण सहन करना, हानि-लाभ आदि द्वन्द्वों को सहना और उत्साह से अपना कार्य करना चाहिए। जो लोग शीत लगने पर उचित होंगे तथा उष्णता लगने पर जिनका सिर चक्कर खाने लगेगा वे राष्ट्र का संरक्षण किस तरह कर सकेंगे? शीत लगे, उष्णता हो अथवा वृष्टि होती रहे, जिनके शरीर इन तीनों क्रृतुओं में मुद्रृ रहेंगे, वही राष्ट्र का रक्षण कर सकते हैं।

७ ब्रह्म—ज्ञान और विज्ञान। इसकी मानवों की प्रगति के लिए अत्यंत आवश्यकता है। ज्ञान विज्ञान के बिना मानव अनधा है। विज्ञान से भौतिक सुख साधन बढ़ाए जा सकते हैं और आत्म-ज्ञान से मानसिक शांति का लाभ होता है। अतः मानवों को उचित है कि वे ज्ञान और विज्ञान में अपनी अधिक उचिति संपादन करें और ऐसा करें कि राष्ट्र में ज्ञान और विज्ञान सम प्रमाण में परस्पर सहायक होकर रहें। यदि राष्ट्र में विज्ञान बढ़ेगा और आत्मज्ञान कम होगा, तो उस राष्ट्र में नास्तिकता बढ़ेगी। भौतिक सुख बढ़ेंगे, पर आत्मिक अशांति ही बढ़ेगी। इसी तरह यदि किसी राष्ट्र में आत्मज्ञान ही बढ़ेगा और विज्ञान की ओर कोई ध्यान नहीं देंगे, तो उस राष्ट्र में भौतिक सुख तो रहेंगे ही नहीं, पर निष्क्रियता भी बढ़ती रहेगी। इसलिए ज्ञान और विज्ञान इन दोनों का समविकास राष्ट्र में होना चाहिए। इसी को ब्रह्मज्ञान कहते हैं। प्रकृति, जीव और परमात्मा (तथे यदा विन्दते ब्रह्मं एतत् । श्वे. उ.) इन तीनों का जो साकल्येन ज्ञान है वही ब्रह्मज्ञान है। तात्पर्य यह है कि यह सब ज्ञान राष्ट्र में रहना चाहिए।

आज भारत में थोड़ा सा आत्मज्ञान है पर यहां निष्क्रियता है। यूरोप में विज्ञान है पर वहां नास्तिकता है। ये दोनों अवस्थाएं अयोग्य अतः हानिकारक हैं। इसलिए राष्ट्र की उन्नति के लिए ज्ञान विज्ञान दोनों राष्ट्र में बढ़ने चाहिए।

८ यज्ञ—श्रेष्ठ सज्जनों का सत्कार करना, आपस की संघटना करना और दोनों का उद्घार करना—ये तीन कार्य यज्ञ के हैं। सज्जनों का सत्कार करने से समाज में तथा राष्ट्र में श्रेष्ठों की प्रतिष्ठा बढ़ती है, संघटना से राष्ट्र का बल बढ़ता है और दीनों का उद्घार होने से दीनता दूर होती है, राष्ट्र समर्थ बनता है। दीनता चार प्रकार की है और उसको दूर करना भी चार प्रकार से ही होता है। ज्ञानहीनता के कारण होने वाली दीनता ज्ञान के प्रसार से दूर होती है, निर्बंलता के कारण होने वाली दीनता बल बढ़ाने से तथा शौर्य, वीर्य, धैर्य, बढ़ाने से दूर होती है, धनहीनता के कारण होने वाली दीनता राष्ट्र में उद्योग-वाणिज्य बढ़ाता कर धन प्राप्त होने से दूर होती है और कर्मशक्ति के अभाव से उत्पन्न होने वाली दीनता कर्म-कौशल तथा कर्म-प्रवीण बढ़ाने से दूर होती है। चारों प्रकार की दीनता को दूर करने के ये चार उपाय हैं। इसी का नाम यज्ञ है। गीता में द्रव्य यज्ञ, तपो यज्ञ, स्वाध्यायज्ञान यज्ञ, योग यज्ञ आदि अनेक यज्ञ कहे हैं, वे सब इन सब दीनताओं को दूर करने के लिए ही हैं। यज्ञ से ही यह सब होता है और राष्ट्र बलवान् बनता है। यज्ञ अनेक प्रकार के हैं और वे सब के सब इस तरह राष्ट्र को बलवान् बनाने के लिए ही हैं।

इस तरह ये आठ शुभगुण राष्ट्र को धारण करते हैं (धारयन्ति) अर्थात् ये उत्तम श्रेष्ठ गुण राष्ट्र को पराभूत नहीं होने देते। इसलिये इन गुणों को राष्ट्र में बढ़ाना चाहिये।

राष्ट्र के शिक्षा मंत्री के द्वारा राष्ट्र में ज्ञान-विज्ञान का प्रसार हो सकता है, सत्य क्रत और दक्षता का भाव भी सुरक्षा से ही बढ़ सकता है। रक्षा के मंत्री के प्रबंध से राष्ट्र में उप्रता,

शीतोष्ण सहन करने का सामर्थ्य आदि बढ़ाया जा सकता है और जनता का शोर्य, वीर्य प्रभावी किया जा सकता है। इस तरह राष्ट्र के शासनकर्ताओं के सुयोग्य प्रबन्ध से ये सभी आठ गुण राष्ट्र में बढ़ाये जा सकते हैं और राष्ट्र अपने सामर्थ्य से अपना संरक्षण करने में समर्थ हो सकता है। यह सब प्रबंध करने का भार इस मंत्र के पूर्वांश ने लोगों पर रखा है।

इस मंत्र के उत्तरांश में कहा है कि “हमारी मातृभूमि हमारे लिये विस्तृत कार्यक्षेत्र दे।” अर्थात् हमारे लिये हमारे राष्ट्र में विस्तृत कार्यक्षेत्र मिले। मातृभूमि के सुपुत्रों को अपने राष्ट्र में विस्तृत कार्यक्षेत्र मिलना चाहिये। ऐसा कभी नहीं होना चाहिये कि राष्ट्र के सुपुत्रों को अपने राष्ट्र में कार्यक्षेत्र न मिले और दूसरे देशों के निवासियों को हमारे देश में विशाल कार्यक्षेत्र मिलता रहे। यह विशाल कार्यक्षेत्र की प्राप्ति तो सुयोग्य शासन प्रबंध से ही हो सकती है।

शत्रु का नाश

यो तो द्वेषत्पृथिविः पृतन्यात् योऽभिदासान्मनसा यो वधेन।

तं तो भूमे राघ्य पूर्वकृत्वर्दि॥ अ० १२।१।१४

‘हे मातृभूमे ! हे अपूर्व कार्य की स्फूर्ति देने वाली भूमि ! जो हमसे द्वेष करता है, जो हमारे ऊपर सैन्य भेजता है, जो मन से हमें दास करने का उद्योग करता है और जो हमारा वध करता है, उसका पूर्णतया नाश हो !’

यहां शत्रु के कई प्रकार के भेद वर्णन किये हैं। द्वेष करना, सैन्य भेजकर उपद्रव करना, दास करने की योजना बनाना और वध करना—ये हैं शत्रु के लक्षण। जो इस तरह के शत्रु हों उनका पूर्ण नाश होना चाहिये।

विवस्वं मातरमोषधीनां ध्रुवां भूमि पृथिवीं धर्मणा धृताम्।

शिवां स्थोनामनुचरेम विव्वहा॥ अ० १२।१।१७

‘हमारी मातृभूमि उत्तम श्रौपधियों को निर्माण करती है। इस भूमि को हम धर्म से धारण करते हैं। इस शुभ तथा सुखदायी मातृभूमि की हम सर्वदा सेवा करेंगे।’ इस मंत्र में मातृभूमि की सेवा करने का व्रत राष्ट्र में रहने वाले सब लोगों को अपने आचरण में रखना चाहिये, यह उपदेश है।

✓ तस्य हिरण्यवक्षसे पृथिव्या अकरं नमः। अ० १२।१।२६

‘जिस भूमि के अन्दर सुवर्ण आदि प्रशस्त धातुएं रहती हैं, उस मातृभूमि का मैं वन्दन करता हूँ।’

‘वन्दे मातर’ कहने के समान ही ‘पृथिव्या अकरं नमः’ यह मन्त्र भाग है। मातृभूमि की वन्दना करनी चाहिये, यह भाव यहां है।

✓ यस्यां गायति नृत्यन्ति यस्यां मर्त्या व्यैलबाः। युध्यन्ते यस्यामाकन्दो यस्यां वदति दुन्दुभिः।

सा तो भूमिः प्रणदतां सपत्नान् असपत्नं सा पृथिवीं कृणोतु। अ० १२।१।४१

‘जिस भूमि में लोग आनन्द से नाचते और खेलते हैं, जिसमें वीर शत्रु के साथ युद्ध करते हैं, उस युद्ध के समय जिसमें युद्ध के ढोल बजते हैं, वह हमारी मातृभूमि हमारे शत्रुओं को दूर भगा देवे और हमें शत्रुरहित करे।’

राष्ट्र में लोग आनन्द के समय प्रसन्नता से नाचें, खेलें और आनन्द मनावें । पर युद्ध का समय आने पर युद्ध करके शत्रु को भगाने के लिये भी तैयार रहें और अपना राष्ट्र शत्रुरहित बना देवें । यह है ध्येय । शत्रु न रहे, ऐसा करना चाहिये । ऐसा करने पर भी यदि दुष्ट लोग शत्रुता करने लगें, तो उनका पूर्ण नाश करना चाहिये ।

अहमस्मि सहस्रान् उत्तरो नाम भूम्याम् । अभीषाडस्मि विश्वाषाडाशामाशां विषासहिः ।

अ० १२।१।५४

“मैं विजयी होकर अपनी मातृभूमि में अधिक श्रेष्ठ बनकर रहूंगा । मैं सब शत्रुओं का पराभव करूंगा और दिशा उपदिशाओं में विजयी बनूंगा ।” इस तरह विजय की इच्छा हरएक को अपने मन में धारण करनी चाहिए । तथा—

ये ग्रामा यदरण्यं याः सभा अधिभूम्याम् । ये संप्राप्ता: समितयस्तेषु चारु वदेष ते ॥

अ० १२।१।५५

“जो ग्राम वा नगर हैं, जो प्ररण्य हैं और जो हमारी मातृभूमि में सभाएं, समितियाँ और जो संग्राम होते हैं, उन सबमें मातृभूमि के विषय में उत्तम ही भाषण करूंगा ।” कदापि अपनी मातृभूमि के विषय में मैं हानिकारक भाषण नहीं करूंगा । यह उपदेश हरएक को ध्यान में रखने योग्य है ।

यद्वानि मधुमत्तद्वानि यदीक्षे तद्वदन्ति मा । तिवषीमानस्मि जूतिमानवाच्यान्तहृष्मि द्वोघतः ॥

अ० १२।१।५६

“मातृभूमि के विषय में मैं जो बोलूंगा वह मीठा ही होगा । जो देखूंगा वह मातृभूमि के रक्षण के लिये ही होगा । मैं तेजस्वी, वेगवान्, बलवान् होकर शत्रुओं का नाश करूंगा ।”

उपस्थास्ते अनमीवा अयश्मा अस्मस्यं सन्तु पृथिवि प्रसूताः ।

दीर्घं न आयुः प्रतिबृद्धमाना वयं तुस्यं बलिहृतः स्याम ॥

अ० १२।१।५७

“हे मातृभूमे ! तुम से उत्पन्न हुए हम सब लोग रोगरहित तथा क्षयादि दोषरहित होकर तुम्हारी सेवा करने के लिये तुम्हारे सभीप रहेंगे । तुमसे उत्पन्न हुए भोग हमें प्राप्त हों, हम जानी बनें, दीर्घायु बनें, और तुम्हारे यश को बढ़ाने के लिये अपने सर्वस्व को अपेंग करने के लिये सन्नद्ध हों ।”

हम नीरोग, दोषरहित, क्षयादि व्याधियों से दूर हों, हम बलवान बनें, जानी बनें तथा सुदृढ होकर दीर्घायु बनें और मातृभूमि का यश बढ़ाने के लिये (बलिहृतः स्याम) बलि अपेण करने वाले बनें ।

इस वैदिक राष्ट्रगीत में और भी कौसे उत्तम बोधप्रद मंत्र हैं, उन्हें अब देखिए—

यस्याश्चततः प्रविशः पृथिव्या यस्यामनं कृष्टयः संबभूतः ।

या विभर्ति बहुधा प्राणदेजत् सा नो भूमिर्गर्ज्वप्यन्ते दधातु ॥

अ० १२।१।५८

“जिस मातृभूमि में चारों दिशाओं में अनेक खेत हैं, जिनमें किसान आपस में मिलकर उत्तम अन्न उत्पन्न करते हैं । जो सब प्राणियों और धूमने वालों को उत्तम प्रकार से धारण करती है, वह

मातृभूमि हमें गीत्रों में तथा अनेक प्रकार के अन्तों में रखे।" अर्थात् हमें पर्याप्त गी आदि पशु मिलें और अनेक प्रकार के अन्त प्राप्त हों। कृषीबल इस हमारी मातृभूमि पर उत्तम अन्त उत्पन्न करते हैं, जिस कारण अपने देश में उत्पन्न हुआ अन्त हमें पर्याप्त प्रमाण में प्राप्त होता है, ऐसा यह हमारा प्रिय देश है। तथा और देखिए—

यस्यामापः परिचरा: समानीः अहोरात्रे अप्रमादं क्षरण्ति ।

सा नो भूमिर्भूरिधारा पयो दुहां अथो उक्तु वर्चसा ॥ अ० १२।१।६

"जिस हमारी मातृभूमि में दिन-रात जल प्रवाह चलते रहते हैं, वह भूमि हमें भरपूर दूध दे और तेजोमय बल के साथ हमारा सामर्थ्य बढ़ावे" इसमें श्लेष अलंकार है। (परिचरा:) परिचर पद परिभ्रमण करके सेवा करते वाले स्वयंसेवकों का भाव बताता है। जिस मातृभूमि में प्रमाद न करते हुए रात-दिन चलते रहने वाले जल के प्रवाह के समान, स्वयंसेवक जनता की सेवा करते के लिए सतत धूमते रहते हैं, वह भूमि हमें दूध, धी आदि पदार्थ देवे और हमारा तेज भी बढ़ावे। (आपः समानी:) जलप्रवाह समानता स्थापन करते हैं। जल जब प्रवाहित होता है, तब वह प्रथम गढ़ों में भरता है, भरकर उनको (समा-नी:) समान करके फिर आगे बढ़ता है। इस तरह राष्ट्र के (परिचरा:) परिचारक, राष्ट्रीय स्वयंसेवक राष्ट्र में सर्वत्र समानता निर्माण करते हैं, जहां न्यूनता होती है वहां भरपूर पूर्णता करते हैं और रात-दिन-प्रमाद न करते हुए जनता में शान्ति स्थापना का कार्य करते रहते हैं, सदा तत्त्वर होकर सेवा करते हैं। ऐसी राष्ट्रसेवा करनी चाहिए यह उप-देश यहां किया गया है।

गिरयस्ते पर्वता हिमवन्तोऽरण्णं ते पृथिवी स्योनमस्तु । ब्रह्मू कृष्णां रोहिणीं विश्वरूपां ध्रुवां
भूमि पृथिवीमिन्द्रगुप्ताम् । अजीतोऽहतो अक्षतोऽध्यष्ठां पृथिवीमहम् ॥ अ० १२।१।१

"हे मातृभूमि ! तुम्हारे पहाड़ और पर्वत, हिमाच्छादित शिखर, अरण्य और बन हमारा सुख बढ़ावे। भूरी, काली, उपजाऊ, अनेक रंगवाली विस्तृत और स्थिर मातृभूमि हमारे प्रतापी वीरों द्वारा सुरक्षित है। इस भूमि पर अपराजित, अहत और क्षतरहित होकर मैं अध्यक्ष होऊं।"

मैं पराजित न होकर इस मातृभूमि का अध्यक्ष होऊं—यह आकांक्षा मन में हरएक उत्साही कार्यकर्ता धारणा कर सकता है। यहां मातृभूमि हमारा (स्योनं) कल्याण करे, मातृभूमि के पर्वत, नदियां आदि हमारी सहायता करें अर्थात् शत्रु से हमारी सुरक्षा करें ऐसा प्रथम कहा है। दूसरे चरण में वीरों द्वारा (इन्द्रगुप्तां भूमि) सुरक्षित हुई हमारी मातृभूमि है, ऐसा कहा है। इससे संरक्षण का भार वीरों पर है, यह स्पष्ट होता है। तीसरे चरण में मैं अजेय रहकर मातृभूमि का अध्यक्ष बनूं, यह महत्वाकांक्षा प्रत्येक उत्साही विद्वान् वीर धारण करे, ऐसा सूचित किया है। राष्ट्र का अध्यक्ष प्रजा द्वारा चुना हुआ हो, यह बात यहां स्पष्ट की गई है और वह अजेय, अक्षत रहकर नित्य उत्साही हो ऐसा भी यहां सूचित हुआ है।

धर्म से मातृभूमि का धारण

विश्वस्वं मातरमोषधीनां ध्रुवां भूमि पृथिवीं धर्मणा धृताम् ।

शिवां स्योनामनुचरेम विश्वहा ॥

अ० १२।१।१७

“यह हमारी मातृभूमि हमारे लिए हमारा सर्वस्व है। यह अनेक श्रीष्ठियों का निर्माण करती है। यह राष्ट्र-रक्षण के धर्म से धारणा की हुई तथा सुरक्षित रखी हुई विस्तृत हमारी मातृभूमि है। इस कल्याणकारी सुखदायी मातृभूमि की हम सब सर्वदा सेवा करेंगे।”

जो जिस देश के रहने वाले हैं, वह देश उन देशवासियों के लिए सचमुच (विश्वस्व) सर्वस्व है। अपने धर्मयुक्त प्रयत्नों से उनको अपने देश का संरक्षण करना चाहिए (धर्मणा धृतां भूमि) अपनी मातृभूमि अपने लिए (शिवां स्योनां) शुभ, कल्याणकारिणी तथा सुखदायिनी है ऐसा आदर का भाव अपने मन में रखना चाहिए। तथा (विश्वहा अनुचरेम) सर्वदा हम सब अपनी मातृभूमि की सेवा करेंगे ऐसा निश्चय करके वैसी ही सेवा करते रहना चाहिए। शत्रु दूर करने की ही सेवा करनी चाहिए, ऐसा नहीं है। प्रत्युत ज्ञानी अपने ज्ञान के दान से, शूर-वीर शत्रु को दूर करके, धनी अपने धन से, कृषक अपने अन्नोत्पादन से, व्यापारी अपने उत्तम व्यापार से और शिल्पी अपने शिल्पों से मातृभूमि की सेवा कर सकते हैं और मातृभूमि को सुखी कर सकते हैं।

भूम्यां देवेभ्यो ददति यज्ञं हव्यमर्कूतम् । भूम्यां मनुष्या जीवन्ति स्वधयान्नेन मर्त्याः ।

सा नो भूमिः प्राणमायुर्दधातु जरदल्ट्वं मा पृथिवी कृणोतु ॥ अ० १२।११२२

“अपनी मातृभूमि में मनुष्य यज्ञ करके देवों को हृवि अर्पण करते हैं, इस भूमि में मनुष्य उत्तम खानपान से जीवित रहते हैं। यह हमारी मातृभूमि दीर्घजीवन और शरीर का बल हमें दे और वृद्धावस्था तक जीवित रहने वाला हमें बनाए।”

हम वृद्ध अवस्था तक रहें, तब तक हमारी शक्ति स्थिर रहे, तब तक हम मातृभूमि की सेवा करते रहें। हमें खानपान के योग्य पदार्थ पर्याप्त प्रमाण में मिलते रहें। हम अपने पास के अन्नादि पदार्थ देवों को यज्ञ करके अर्पण करें और देव हमारे लिए पर्जन्य आदि देकर अन्न की वृद्धि करते रहें। इस तरह परस्पर की सहायता से परस्पर का लाभ होता रहे। यज्ञ में विवुधों का सत्कार होता रहे, समानों की संघटना बढ़ती जाय और दीनों की दीनता दूर होती रहे।

उद्दीरणा उत्तासीनास्तिलग्नः प्रकामन्तः । पद्म्यां दक्षिणसव्याम्यां मा व्ययिष्महि भूम्याम् ॥

अ० १२।११२३

“हम सब चलते-फिरते हुए, बैठे हुए, खड़े हुए अथवा दौड़ते हुए दाहिने और बांये पांवों से अपनी मातृभूमि में किसी को दुख न दें।” अर्थात् हमारा चाल-चलन किसी को दुख देने वाला न हो। इतना ही नहीं; परन्तु हमारा व्यवहार सबका सुख बढ़ाने वाला ही रहे। तथा—

विमृग्वर्णं पृथिवीमावदामि क्षमां भूमि न्नयणा वावधानाम् । ऊर्ज पुष्टं बिभ्रतीमन्नभागं

घृतं त्वाभि निषीदेम भूमे ॥ अ० १२।११२४

“विशेष शुद्ध और ज्ञान से जिसका धारण किया जाता है, तथा जो बलपूर्वक और पुष्टि-कारक अन्न तथा धृत आदि का धारणा करती है, उस मातृभूमि से हम सब प्रार्थना करते हैं कि हे मातृभूमे, हम तुम्हारे आश्रय से यहां आनन्द से रहें।”

इस तरह सब लोग जानें कि हमारा आश्रय यह मातृभूमि ही है, यही हमें अन्नपान देती है, रहने के लिये स्थान देती है, सब प्रकार से भरण-पोषण करती है और हमारा आनन्द बढ़ाती है, इसलिए हमें इस मातृभूमि की सेवा करनी चाहिए।

यास्ते प्राचोः प्रदिशो या उदोचीर्यस्ते भूमे अधराद्याइच पश्चात् ।

स्थोनास्ता महा॑ चरते भवन्तु, मा नि पप्तं भुवने शिक्षिणः ॥ अ० १२।१।३१

“हे मातृभूमे ! जो तुम्हारी पूर्वदिशा, जो उत्तरदिशा और जो अन्य दिशाएं तथा उपदिशाएं हैं तथा जो नीचे के तथा पीछे के भाग हैं, वे सब मेरे व्यवहार करने के समय मुझे सुखदायी हों। अपने देश में आश्रय लेने पर मुझे कोई न गिरावे ।”

अपने देश में किसी तरह (मा नि पप्तं) मेरी गिरावट न हो। मैं सदा उन्नत होता रहूँ।

मा नः पश्चान्मा पुरस्तानुदिष्टा भोत्तरादधराद्युत ।

स्वस्ति भूमे नो भव, मा विदन् परिपन्थिनो वरीयो यावया वधम् ॥ अ० १२।१।३२

“हे मातृभूमे ! पीछे से मेरा नाश न हो, आगे से, ऊपर से अथवा नीचे से मेरा नाश न हो। हे मातृभूमे ! हमारा कल्याण हो। शत्रु को हमारा पता न लगे। हमारा वध करने वाले सब शस्त्र हमसे दूर जाकर शत्रु पर गिरें।” अर्थात् हम सुरक्षित रहें और शत्रु ही नष्ट-भ्रष्ट हो जाएं।

यावत्तेऽभि विपश्यामि भूमे सूर्येण मेदिना । तावन्मे चक्षुर्मा भेष्टोत्तरामुत्तरां समाम् ॥

अ० १२।१।३३

“हे मातृभूमे ! अपने ग्रानन्ददायक प्रकाश से युक्त सूर्य की सहायता से जहाँ तक तुम्हारे विस्तार को मैं देख सकूंगा, तब तक मेरी आंख कार्य करती रहे और मैं उत्तरोत्तर आयु को प्राप्त होता रहूँ।”

मेरी आयु बढ़े और मैं मातृभूमि की सेवा करता रहूँ। मेरी शक्ति क्षीणन हो। यह इच्छा यहाँ प्रकट हुई है।

सा नो भूमिरादिशतु यद्धनं कामयामहे । भगो अनुप्रयुड्कतामिन्द्र एतु पुरोगवः ॥

अ० १२।१।४०

“जितने धन की हम कामना करते हैं, वह सब धन हमें हमारी मातृभूमि देवे। शत्रुहन्ता और आगे बढ़े और धनदेव उसका सहायक हो।” मातृभूमि हमें पर्याप्त धन देवे। हमारे कार्यों के लिए धन कभी न्यून न हो। शत्रु का नाश करने वाला (इन्द्र) वीर शत्रु का नाश करने के लिए आगे बढ़े और (भग:) धनवान् उसकी सहायता करे। इस तरह वीर और धनी मिलकर अपनी मातृभूमि की रक्षा करते रहें।

यस्यामन्तं श्रीहियवो यस्या इमाः पंचकृद्यः । भस्मै पर्जन्यपत्न्यं नमोऽस्तु वर्षमेदसे ॥

अ० १२।१।४३

“जिस हमारी मातृभूमि में चावल और जौ होते हैं और जिसमें जानी, चूर, व्यापारी, शिल्पी और वन्य ये पांचों लोग आनंद से रहते हैं, उस वर्षा से आनन्दित होने वाली और पर्जन्य से पालित होने वाली अपनी मातृभूमि का हम वन्दन करते हैं।”

ये ते पन्थानो ब्रह्मो जनायना रथस्य वर्त्मनिसङ्च यातवे ।

यौः संचरन्त्युभये भद्रपापास्तं पर्यानं जपेमानमित्रमतस्करं यच्छिवं तेन नो मृड ॥

अ० १२।१।४७

“हे मातृभूमे ! जो तेरे ऊपर से जाने-आने के मार्ग हैं, जिन पर से मित्र और शत्रु भी संचार

करते हैं, तथा जो रथ के तथा गाड़ी के मार्ग हैं, वे सब मार्ग चोरहित और शावुरहित हों। जो कल्याणकारी है वही हमारे पास आवे, हमें सुख देवे ।"

यहां रथ के मार्ग और मनुष्यों के चलने के मार्ग पृथक् हैं, ऐसा बरांन है। (जनायनाः) मनुष्यों के जाने के मार्ग (रथस्य अनसश्च वर्त्मनः) रथ के और गाड़ी के मार्ग, ऐसे दो प्रकार के मार्ग हैं। ये सब मार्ग निर्भय और सुखकारी हों।

ये गन्धर्वा अप्सरसो ये चारायाः किमीदिनः ।

पिशाचात्सर्वा रक्षांसि तानस्मद् भूमे यावय ॥

अ० १२।६।५०

"जो हिंसक, कर्म का त्याग करने वाले, कृपण, दूसरे का धन खाने वाले, रुधिर पीने वाले और राक्षस हैं उन सबको हे भूमे ! यहां से दूर करो ।"

जो (गन्धर्व) गन्धन अर्थात् हिंसाशील, (अप्-सरसः) कर्म से दूर जाने वाले, कर्तव्य पराङ्मुख, (अ-रायाः) दान न देने वाले, कृपण (किं-ईदिनः) श्रव क्या खाऊं ऐसा सतत विचार करने वाले, (पिशाचाः पिशित-अशनाः) रक्त पीने वाले और सब प्रकार के राक्षस दुष्ट हों, उन सबको दूर करना चाहिए। राष्ट्र से इन सब दुष्टों को बाहर करके जनता को सुखी करना चाहिए।

ईश्वर की सहायता

त्वमस्यावप्नो जनानां अदितिः कामदुधा पप्रथाना ।

यत् त ऊनं तत् त प्रापूरयाति प्रजापतिः प्रथमजा ऋतस्य ॥

अ० १२।१।६१

"हे मातृभूमि ! तू लोगों को अन्न देने वाली कामधेनु जैसी प्रशंसा के योग्य है। तू स्वयं बड़ी उपजाऊ है। जो तेरे अन्दर न्यून होगा उस न्यूनता को सत्य यज्ञ का पहिला प्रवर्तक प्रजापालक परमेश्वर परिपूर्ण करेगा ।" ऐसा विश्वास ईश्वर पर लोगों का होना चाहिए, तो सच्चे भक्तों की सहायता परमेश्वर करता है। और वैसे ईश्वर भक्तों में यदि कोई न्यूनता होगी, तो उसकी पूर्णता भी वह करता है। प्रयत्नशील सदाचारी लोगों का यज्ञ सदा बढ़ता ही रहता है।

यस्यां समृद्ध उत सिंधुरापो यस्यामन्नं कृष्टयः संबभूतुः ।

यस्यामिदं जिन्वति प्राणदेजत्सा नो भूमिः पूर्वपेये दधातु ॥

अ० १२।१।३,

"(यस्यां समृद्धः) जिस भूमि के साथ समृद्ध है, महासागर है, (सिन्धुः आपः) जिस भूमि में नदियां और जल के झरने हैं, (यस्यां अनन्तः) जिस भूमि में अनेक प्रकार का अन्न उत्पन्न होता है, और जिसमें (कृष्टयः संबभूतुः) कृषि करने वाली प्रजा मिलकर रहती है, (यस्यां इदं प्राणात् एजत्) तथा जिस भूमि में यह प्राणी-जगत् धूमता और फिरता है, (सा नः भूमिः) वह हमारी मातृभूमि (नः पूर्वपेये दधातु) हमें अपूर्व परिपूर्ण खाद्यपेयों में धारण करे अर्थात् हमें उत्कृष्ट खानपान भरपूर देती रहे ।"

हमारी मातृभूमि के साथ समृद्ध लगा है, जहां के जलमार्ग से हम देशदेशान्तरों में जा सकते हैं, जिस मातृभूमि में नदियां और झरने बहुत हैं, अतः जिसमें भरपूर अन्न और रसपान मिलता है, जिसमें रहने वाले प्रजाजन आपसमें संगठित होकर कार्य करते हैं, वह हमारी मातृभूमि हमें भरपूर खानपान देवे। पूर्ण पदार्थ हमें मिलें, नाना प्रकार के अन्तरस हमें मिलते रहें, किसी तरह

की न्यूनता यहां न रहे ।

यस्यां वृक्षा वानस्पत्या ध्रुवास्तिष्ठन्ति विश्वहा । पृथिवीं विश्वधायसं धृतामच्छावदामसि ॥

अ० १२।१।२७

“(यस्यां वानस्पत्या: वृक्षाः) जिस हमारी मातृभूमि में वनस्पतियां और वृक्ष (विश्वहा ध्रुवा: तिष्ठन्ति) सर्वदा स्थिर रहते हैं, अर्थात् जिस भूमि पर हरी-भरी वृक्ष वनस्पतियाँ बहुत हैं, उस (विश्वधायसं पृथिवीं धृतां) सबको धारण करने वाली हमारी मातृभूमि को हम संरक्षित रखते हैं और (प्रचल आवदामसि) मुख्यतया उसका ही हम गुण बरांन करते हैं ।

मातृभूमि के वृक्षों और वनस्पतियों का उत्तम संरक्षण करना वहां के निवासियों का कर्तव्य है क्योंकि वृक्ष वनस्पतियां न रहें तो वृष्टि कम होगी और जल कम होने से अन्न की उपज कम होगी । इस कष्टदायक व्यवस्था को दूर करने के लिये यह आवश्यक है कि मातृभूमि में वृक्ष वन-स्पतियों की अच्छी समृद्धि रहे । प्रजाजन अपनी मातृभूमि का उत्तम संरक्षण करें और अपनी मातृ-भूमि के जिन गुणों की प्रशंसा करनी उचित हो उन गुणों की प्रशंसा करें ।

शुद्धा न आपस्तवे क्षरन्तु यो नः सेदुरप्रिये तं नि दध्मः । पवित्रेण पृथिवि मोत्पुनामि ॥

अ० १२।१।३०

“हे पृथिवी ! (नः तन्वे) हमारे शरीर की शुद्धि के लिये (शुद्धाः आपः क्षरन्तु) शुद्ध जल भरपूर वहा करे । (यः नः अप्रिये) जो हमारे लिये अप्रिय है उसको हम (सेदुः) मल के समान दूर कोकते हैं । (पवित्रेण मा उत्पुनामि) जो पवित्र है उससे मैं अपने आपको पवित्र करता हूँ ।”

मनुष्य जल से अपने शरीर शुद्ध करें, इस कार्य के लिये जितना चाहिये उतना जल मिलता रहे । मातृभूमि पर जल की न्यूनता की कभी बाधा न हो । अपने शरीर में जो मल हैं उनको दूर करके अपना जीवन शुद्ध करना चाहिये । मलों से नाना क्लेश उत्पन्न होते हैं । इस कारण शरीर, मन, शुद्धि की पवित्रता करना अत्यंत आवश्यक है । जल से शरीर की शुद्धता, विचारों से तथा सत्य से मन की शुद्धता, विद्या और शुभ भावना से शुद्धि की पवित्रता और तप से सबकी शुद्धता होती है । ‘मातृभूमि’ ऐसी प्रेरणा सब प्रजाजनों में करे कि जिससे सब लोग शुद्ध पवित्र और यज्ञीय बनें ।

ग्रीष्मस्ते भूमे वर्षाणि शरद्वेमन्तः शिशिरो वसन्तः ।

ऋतवस्ते विहिता हायनीरहोरात्रे पृथिवि नो दुहाताम् ॥

अ० १२।१।३६-

हे मातृभूमे ! वसंत, ग्रीष्म, वर्षा, शरद्, हेमन्त और शिशिर ये (ऋतवः) छः क्रतुएं जो (ते विहिताः) तेरे ऊपर नियत समय में आती हैं और जो (हायनीः) वर्ष भर में क्रमपूर्वक आती हैं, तथा जो तेरे ऊपर दिन और रात्रि आते हैं वे सब (नः दुहातां) हमें सुख देते रहें ।

वसंत क्रतु में वृक्षों को नवपत्तिव तथा फल-फूल आते हैं, ग्रीष्म में भी रसदार फल होते हैं, वर्षा में भरपूर जल की वृष्टि होती है । शरद् और हेमन्त में धान्य प्राप्त होता है, शिशिर में सर्दी आती है । ये सब क्रतुएं हम सब के लिए भरपूर अनन्-रस देकर हमारा सुख बढ़ावें । दिन और रात भी कर्म और विश्राम के लिए मातृभूमि पर क्रमपूर्वक आते हैं । ये सब कालविभाग मातृभूमि पर बसने वालों का सुख बढ़ावें और किसी तरह भी ये हमें दुःख से न सतावें ।

यज्ञचक्र से अभ्युदय

यस्यां सबो हविर्षनि यूपो यस्यां निमीयते । ब्रह्माणो यस्यामर्चंति ऋतिभः साम्ना यजुर्विदः ।
युज्यन्ते यस्यामृतिवजः सोममित्राय पातवे ॥

अ० १२।१।३८

“(यस्यां सदः हविर्षनि) जिस मातृभूमि में यज्ञशालाएं हैं और अन्न के स्थान हैं, (यस्यां यूपः निमीयते) जिस भूमि में यज्ञ के स्तम्भ खड़े किए जाते हैं, (यस्यां यजुर्विदः ऋतिवजः) जिसमें यजुर्वेद जानने वाले ऋतिवज, (ब्रह्माणः) और ब्राह्मण लोग (ऋतिभः साम्ना अर्चंति) ऋचाओं और सामों के द्वारा प्रभु की अवंता करते हैं । (यस्यां) जिस भूमि में (इन्द्राय पातवे) इन्द्र को पीने के लिए (ऋतिवजः सोमे युज्यन्ते) ऋतिवज लोक सोम का प्रयोग करते हैं । जहां इस तरह के यज्ञ चलते हैं वह हमारी पवित्र मातृभूमि है ।”

हमारी मातृभूमि अत्यन्त पवित्र है । इसमें सर्वत्र ऋतु के अनुकूल यज्ञ होते हैं, लोग पवित्र होकर उन यज्ञों में जाते हैं और अपने जीवनों को पवित्र करते हैं । जहां सर्वत्र यज्ञ का पवित्र ब्रायु-मण्डल रहता है वह हमारी श्रेष्ठ मातृभूमि है । वही हमारे राष्ट्र का उपास्य देवता है । हम इसके उपासक हैं ।

निर्धि विभ्रती बहुधा गुहा वसु मणि हिरण्यं पृथिवी ददातु मे ।

वसूनि नौ वसुवा रासमाना देवी दधातु सुमनस्यमाना ॥

अ० १२।१।४४

(बहुधा गुहा) बहुत तरह की खानों में (वसु) धन, (मणि) रत्न, हीरा, पन्ना आदि तथा (हिरण्यं) सोना, चांदी आदि (निर्धि विभ्रती) संचित संपत्ति को धारण करने वाली हमारी (पृथिवी) मातृभूमि वह संचय (मे ददातु) हमें देवे । यह (वसु-दा) धन देने वाली, (रासमाना) दान देने वाली (सुमनस्यमाना देवी) उत्तम मन वाली दिव्य मातृभूमि (नः वसूनि ददातु) हम सबको यथेष्ट धन देवे ।”

हमारी मातृभूमि में रत्नों की अनेक खाने हैं, सुवरणं आदि धातुओं की खाने हैं । इस तरह के अनेक प्रकार के धनसंचय यह हमारी मातृभूमि हमें देती है । इस भूमि का स्वभाव ही धन देने का है, यह धन देती है, अन्न देती है, फल-फूल, साग आदि देती है, नाना प्रकार के रस देती है । इनका सेवन करके हम सुखी होते हैं । ऐसी यह उत्तम प्रसन्न मन वाली हमारी मातृभूमि है । यह हमें सदा धनधार्य देती रहे ।

शनितवा सुरभिः स्योना कीलालोधनी पथस्वती । भूमिरधि ब्रवीतु मे पृथिवी पथसा सह ॥

अ० १२।१।५५

“(शनितवा) शान्तिदायक, (सुरभिः) सुगन्धयुक्त, (स्योना) सुख देने वाली (कीलाल-उधनी) अन्न रस देने वाली, (पथस्वती) द्रुथ आदि गोरस से युक्त (मे पृथिवी भूमिः) मेरी मातृभूमि (पथसा सह) द्रुथ के साथ हमें (अधि ब्रवीतु) बुलावें । अर्थात् हमें उत्तम प्रकार के खाद्य पेय देवे ।”

इस तरह अथर्ववेद के काण्ड १२ के प्रथम सूक्त में जो राष्ट्रगीत है, उसके मंत्र यहां दिये हैं । ये मंत्र नाना प्रसंगों में बोलने के हैं, अर्थात् युद्ध का प्रसंग, आत्मन्द मंगल का प्रसंग, महोत्सव और कठिन समस्या, शत्रु पर आक्रमण, आपस का संगठन आदि । प्रत्येक मंत्र का अर्थ देखने से

वह मंत्र किस प्रसंग में बोलने योग्य है, इसका ज्ञान हो सकता है। इसके सूचक शीर्षक भी दिए हैं। अब वेद में अन्यान्य स्थानों में जो राष्ट्रगीत के मंत्र हैं उनमें से एक दो मंत्र यहाँ देते हैं—

राष्ट्र में समृद्धि हो

आ ब्रह्मण् ब्राह्मणो ग्रस्माकर्चसी जायतां, आ राष्ट्रे राजन्यः शूर इष्ट्योऽतिव्याधी महारथो
जायतां, दोऽग्नी धेनुः वोढाइनड्वान् आशुः सप्तिः, पुरांधिर्योषा, जिष्णु रथेष्ठाः सभेयो
युवाऽस्य यजमानस्य वीरो जायतां, निकामे निकामे नः पर्जन्यो वर्षंतु, फलवत्यो न
श्रोवधयः पच्यतां, योगक्षेमो नः कल्पताम् ॥

वा० यजु० २२।२२

हे ईश्वर ! हमारे राष्ट्र में ज्ञान से (ब्रह्मवर्चसी) तेजस्वी ब्राह्मण हों, हमारे राष्ट्र में शूर शीर्षक शत्रुवध करने वाले महारथी क्षत्रिय हों, हमारे राष्ट्र में (दोग्नी धेनुः) दुधारु गौवें हों, बोझ (वोढा अनड्वान्) खींचने वाले बैल हों, (आशुः सप्तिः) चपल धोड़े हों और इन पशुओं का पालन करने वाले उत्तम घनधान्य सम्पन्न वैश्य हों, तथा उत्तम कर्म में कुशल शूद्र हों। हमारे राष्ट्र में (पुरांधिः योषा) स्त्रियां विशेष बुद्धिमती, सुशीला और चारित्य संपन्न हों, तथा नगर का (पुरंधिः) संरक्षण करने में समर्थ वीर स्त्रियां हों। (जिष्णुः रथेष्ठाः) विजयी रथ में बैठने वाला (सभेयः युवा) सभा में संमान पाने वाला तरुण पुत्र यजमान का हो। हमारे राष्ट्र में ऐसे तरुण हों। हमारे राष्ट्र में ठीक समय पर पर्जन्य वर्षा करता रहे, औषधियां उत्तम फल फूल देती रहें और हम सबका योगक्षेम उत्तम रीति से हमारे राष्ट्र में सदा चलता रहे।

रुचं नो धेहि ब्राह्मणेषु रुचं वाजसु नः कृधि । रुचं विश्वेषु शूद्रेषु मयि धेहि रुचा रुचम् ॥

वा० यजु० १८।४८

हमारे राष्ट्र के ब्राह्मणों में तेज रहे, हमारे क्षत्रियों में तेज रहे, हमारे वैश्यों में और शूद्रों में तेज रहे। हमारे राष्ट्र के ये सब लोग उत्तम तेजस्वी बनें, वीर्यवान् बनें और इस तेज से प्रत्येक मनुष्य भी तेजस्वी बने। हमारे राष्ट्र में कोई भी निस्तेज, निर्वर्ती, निर्वैन, कर्महीन दीन न हो। सब तेजस्वी, श्रोजस्वी, वर्चस्वी, मनस्वी बनें।

इस तरह राष्ट्रगीत के फुटकर मंत्र अन्यान्य वेदों में मिलते हैं।

इस राष्ट्रगीत की विशेषता

प्रथम यह राष्ट्रगीत इतना बड़ा है यह देखकर लोग कहेंगे कि इतने बड़े राष्ट्रगीत का पाठ किस तरह किया जा सकता है ? सब देशों के राष्ट्रगीत, जो इस समय प्रचलित हैं, वे दो मिनिटों में बोले जा सकते हैं। गायन करने के लिए ३-४ मिनिट लगेंगे। पर इस राष्ट्रगीत के ६२ मंत्र केवल बोलने के लिए आधा घण्टा लगेगा और गान करने के लिए एक घण्टा लगेगा। इसलिए यह राष्ट्र गीत ही नहीं है।

इस विषय में प्रथम यह कहना है कि इसका उपयोग 'ग्राम-पत्तन-राष्ट्र-रक्षणार्थ' करने का विधान अति प्राचीन काल से सर्वमान्य हुआ है। इस कारण उपयोग की दृष्टि से यह राष्ट्रगीत है, इसमें संदेह नहीं है। राष्ट्रीय भाव इसके प्रत्येक मंत्र में स्पष्ट दीख रहा है।

अब दूसरा प्रश्न यह है कि यह बहुत लंबा है। तो इस विषय में कहना इतना ही है कि इसके मंत्रों के अनेक वर्ग हैं और एक-एक वर्ग के मंत्र एक-एक प्रसंग में बोले जाने के लिए हैं। जिस समय शत्रु पर आक्रमण करना होगा, उस समय बोलने के मंत्र पृथक् हैं, वे ही उस समय बोलने होते हैं। यज्ञ करने के समय, राष्ट्रीय महोत्सव के समय, शान्ति-कर्म के समय, संघटना करने के समय, एकता स्थापन करने के समय इस तरह विभिन्न प्रसंगों में विभिन्न मंत्र जनसमुदाय के द्वारा बोले जाने के लिए हैं। इन मंत्रों पर जो शीर्षक है तथा मंत्रों का जो अर्थ दिया है, उसको देखने से यह बात स्पष्टतया विदित हो सकती है।

अंग्रेजों का राष्ट्रगीत 'गाँड़ सेव दी किंग' अर्थात् 'प्रभु राजा की रक्षा करे' यह गीत जब तक इंग्लिस्तान पर राजा राज्य करता है, तब तक ठीक है, पर जिस समय वहाँ विशुद्ध प्रजासत्तात्मक राज्य होगा, उस समय यह गीत बदलना पड़ेगा। इसी तरह अन्यान्य देशों के राष्ट्र गीतों की स्थिति है। पर यह वैदिक राष्ट्रगीत ऐसा है कि यह सब देशों के सब कालों के राष्ट्रों के लिए सदा उपयोगी होगा। यह त्रिकालावाधित है। यही इसकी विशेषता है। पाठक इस विशेषता को मननपूर्वक देखें और इस ट्रिट से इसका उपयोग जानें।

इस तरह यह मातृभूमिका वैदिक राष्ट्रगीत है। इतना उत्तम और बोधपूर्ण राष्ट्रगीत किसी भी दूसरे देश का नहीं है। यहाँ मातृभूमि की उत्तम तथा स्पष्ट कल्पना है, राष्ट्र का रक्षणा करने के लिए उचित और आवश्यक शुभगुणों का निर्देश यहाँ है, मातृभूमि का यश बढ़ाने का पूर्ण कार्यक्रम इसमें है। मातृभूमि के यश के लिए आत्मसर्वस्व का अर्पण करने की स्फूर्ति है। इतना बोधप्रद स्फूर्तिदायक, उत्साहवर्धक, कर्तव्य कर्म बताने वाला राष्ट्रगीत वेद ने दिया है। इससे सिद्ध हो सकता है कि वेद राष्ट्रीयता का उपदेश करता है। वेद धर्म राष्ट्रीयता से दूर नहीं है।

वेद में अनेक विद्याएं हैं, उसमें राष्ट्र शासन विद्या भी है, उसका संक्षेप से दिग्दर्शन इस राष्ट्रगीत ने किया है। इस राष्ट्रगीत को देखने के पश्चात राष्ट्रशासन का विचार भी करना आवश्यक है।

ओउस शान्ति: शान्ति: शान्ति:

(व्यक्ति में शान्ति ! राष्ट्र में शान्ति !! विश्व में शान्ति !!!)

वैदिक राज्य-शासन

यदि राष्ट्र की कल्पना वेद में न होती, तो 'राष्ट्रगीत' भी न होता। वेद में 'राष्ट्रगीत' है इसलिए वेद में राष्ट्रशासन के विषय में भी निर्देश होने चाहिए और वैसे हैं भी।

ऋषियों के प्रयत्न से राष्ट्रशक्ति निर्माण हुई यह हम देख चुके हैं। राष्ट्रीयता ऋषिकृपण है। ऋषियों के प्रयत्न से राष्ट्र बना। राष्ट्र की संघटना हुई और सामर्थ्य-निर्माण हुआ। यह कैसे हुआ वह हम आगे देखेंगे। यहां प्रथम हम देखता चाहते हैं कि इस राष्ट्र शासन के कितने भेद हैं और प्रत्येक के लक्षण क्या हैं। राज्य-शासन के कई प्रकार वेदों में आए हैं, उनका क्रमशः विचार करते हैं।

१. विराज् शासन

विराज् वा इदमग्र आसीत् तस्या जाताया: सर्वमविभेद
इयमेवेदं भविष्यतीति । (अथर्व दा१०।१)

विराट् - 'वि+राट्' अथवा 'वि+राज्' यह नाम उस अवस्था का है कि जिस समय 'राजा नहीं था'। राजा की कल्पना भी उत्पन्न नहीं हुई थी। इस समय के शासन का नाम 'वैराज्य' शासन है। यह 'अराजक' नहीं है। यह वैराज्य राजा के अस्तित्व में आने से पूर्व की अवस्था का छोतक है। अतः सब लोग मिलकर अपना शासन प्रबन्ध स्वयं करते हैं।

भारत में यह वैराज्य दूरी-फूटी अवस्था में आज भी वन्य जातियों में दिखाई देता है। इस अवस्था को आज 'दैव' कहते हैं। जब कोई निर्णय करना होता है, तब सारी जाति को बुलाया जाता है और सारी जाति निर्णय देती है जिसे सब मानते हैं।

सत्ययुग के वर्णन में कई स्थानों पर ऐसा वर्णन आता है कि उस समय राजा नहीं था, सेना नहीं थी, परंतु लोग धर्मनुसार रहते थे और धर्म से सबका पालन होता था। वह अवस्था वैराज्य शासन की अवस्था है। यह अवस्था प्रारम्भिक अवस्था है। अत्यन्त सुधार होने पर भी वैराज्य अवस्था आ सकती है। वेद में दोनों प्रकार के वैराज्यों का वर्णन है। प्रारम्भिक अवस्था का वैराज्य ऊपर दिए मन्त्र में है। प्रारम्भ में संघटित शासन करने की कल्पना उत्पन्न नहीं हुई थी।

वेद ने इस "प्रारम्भिक राजविहीन शासन" को प्रशंसा योग्य नहीं माना है। इसलिए पूर्वोक्त मन्त्र में कहा है—

तस्या जाताया: सर्वमविभेदं इयमेवेदं भविष्यतीति । (अथर्व दा१०।१)

"यही परिस्थिति सदा रहेगी, यह भय उस समय के धुरीण लोगों के मन में उत्पन्न हुआ।" जो भयजनक अवस्था होती है वह सन्माननीय नहीं हो सकती। अतः यह प्रारम्भिक "वैराज्य शासन" ठीक नहीं है।

वैराज्य शासन में अध्यक्ष नहीं होता। सब जनता मिले और शासन-प्रबन्ध करें। यह एक ग्राम

के विषय में भी कठिन होता है। यदि जाति नाना ग्रामों में बिखरी रही तब तो उन सबको बुलाना, उनको इकट्ठा करना और निर्णय देना किनता कठिन होगा, इसकी कल्पना कर सकते हैं। यह कठिनता लोगों के सामने आयी और ग्राम का शासन ग्रामसभा द्वारा करने की पद्धति शुरू हुई।

२. ग्रामसभा

सा उदक्रामत् सा सभायां न्यक्रामत्। (अथर्व दा १०)

“वह जनशक्ति उत्क्रान्त हुई और वह ग्रामसभा में परिणत हुई।” प्रथम ‘वि-राज्’ अवस्था थी, राजा नहीं था, परन्तु सर्वं त्रजनता ही जनता थी। सब जनता को इकट्ठा करना कठिन कार्य है, इसलिए ग्रामसभा सब लोगों ने पसंद की और ग्रामसभा बनी। ग्रामसभा द्वारा ग्राम का राज्य-शासन चलने लगा। ग्राम का शासन ग्रामसभा और उसका अध्यक्ष करने लगे।

ग्राम की सब जनता मिलकर शासन करे, इसकी अपेक्षा ग्रामसभा शासन करेगी तो अच्छा रहेगा। ग्रामसभा छोटी होती है, सदस्य थोड़े होते हैं। उनको बुलाना, उनको इकट्ठा करना और एकमत से कार्य करना सहज है। ‘वि-राज्’ शासन से ग्रामसभा का शासन अधिक उत्तम होना स्वाभाविक है। ग्राम के लोग भी ग्रामसभा की ओर नेतृत्व भाव से देख सकते हैं और ग्रामसभा के सदस्य भी दायित्व के साथ अपना कार्य कर सकते हैं।

ग्रामसभा का कार्यक्षेत्र ग्राम तक ही मर्यादित रहता है। ग्राम एक छोटा-सा क्षेत्र है। ग्राम, नगर, पत्तन, पुरी, क्षेत्र इनका विस्तार छोटा या बड़ा हो सकता है, तथापि वह मर्यादित ही होगा। अनेक ग्रामों का कैसा शासन होगा? यह विचार इस समय मन में आता है। इस समय अनेक ग्रामों की समिलित समिति बनाने की कल्पना विचारकों के सामने आ जाती है।

३. राष्ट्र समिति

सा उदक्रामत् सा समितौ न्यक्रामत्। (अथर्व दा १०)

“वह जनता की शक्ति उत्क्रान्त हुई और वह शक्ति समिति में परिणत हुई।” समिति का अर्थ प्रान्त या राष्ट्र समिति है। अनेक ग्रामसभाओं के निरीक्षण का कार्य करने वाली शिरोमणि सभा समिति कहलाती है। इस तरह यह राष्ट्रशासन अथवा अनेक ग्रामों का मिलकर शासन करने वाली समिति नियत हुई। अनेक ग्रामों की इससे संघटना हुई और संबंध का बन इससे उत्पन्न हुआ। एक-एक ग्राम जो बिखरा था, वह समिति के शासन के अन्दर आने से एक ही शासन में सब ग्राम आबद्ध हुए। ग्रामसभाओं के प्रतिनिधि आकर उनकी यह राष्ट्र-शासक समिति बन गई। यहां तक सभा और समिति बनी। तब तक राजा की कल्पना उत्पन्न नहीं हुई थी। इसके बाद एक मन्त्रिमण्डल बना।

४. मन्त्रिमण्डल

सा उदक्रामत् सा आमन्त्रणे न्यक्रामत्। (अथर्व दा १०)

“वह जनता की शक्ति और अधिक उत्क्रान्त हुई, और वह आमन्त्रण अर्थात् मन्त्रिमण्डल में परिणत हुई।” यहां तक राष्ट्रीय जीवन की उन्नति हुई। पहिली विराज् अर्थात् राजविरहित के बल

जनशक्ति ही थी। उससे ग्रामसभा बनी, पश्चात् राष्ट्रसमिति बनी और पश्चात् मंत्रिमंडल, मंत्रणा करने वाला मंडल बना और इसका एक अध्यक्ष हुआ। यहां तक लोक-प्रतिनिधि ही हैं। ग्रामसभा बनी, वह ग्रामवासियों द्वारा चुनी हुई ग्राम के पंचों की सभा है। पश्चात् राष्ट्रसमिति बनी, यह अनेक ग्राम-सभाओं के प्रतिनिधियों की सभा है। अनेक ग्रामसभाओं द्वारा अथवा अनेक ग्रामों की जनता द्वारा चुने हुए सदस्यों की सभा ही राष्ट्र-समिति कहलाती है। राष्ट्र-समिति थोड़े से अपने प्रतिनिधि चुनती है, वही ग्रामन्त्रण-सभा अथवा मन्त्रिमण्डल कहा जाता है। इसका अध्यक्ष राष्ट्राध्यक्ष होता है। ये सब लोगों के पसन्द किये लोकप्रतिनिधि ही हैं। अध्यक्ष भी जनता का प्रतिनिधि है। अभी तक अनियन्त्रित राजसत्ता का नम्म भी नहीं है।

यह जो उत्क्रमण हुआ वह जनता के प्रतिनिधियों का ही हुआ है, उसमें जनता के अपने चुने हुए प्रतिनिधि ही हैं। तथापि इसमें अधिकार का केन्द्रीकरण हुआ है, यह बात देखने योग्य है। जो अधिकार ग्राम की जनता का था वह ग्रामसभा के थोड़े से लोगों के हाथ में आ गया। पश्चात् अनेक ग्रामों की जनता के हाथ में जो अधिकार था वह समिति के थोड़े से सदस्यों के हाथों में एकत्रित हुआ और इसके पश्चात् वही सब अधिकार मन्त्रिमण्डल के दस-पाँच सदस्यों के हाथों में आ गया और पश्चात् यह सब अधिकार अध्यक्ष के हाथों में केन्द्रित हुआ। जो अधिकार अथवा शक्ति जनता में बिखरी थी, वही इस तरह प्रथम थोड़े व्यक्तियों ते हाथों में आ गयी और पश्चात् प्रधानमन्त्री और अध्यक्ष के हाथों में आ गयी।

५. अनियन्त्रित राजा

इस तरह यह उन्नति तो हो गई, राष्ट्र की संघटना हो गयी, पर विकेन्द्रित अधिकार का केन्द्रीकरण हुआ और जो अधिकार अनेकों के पास था वही एक के हाथ में आ गया। यहां राज्यपद का उदय हुआ।

जो अध्यक्ष था वह जनसेवा करता गया, और वही वारम्बार अध्यक्ष बनता गया और अन्त में जनता ने पुनः-पुनः निर्वाचन करने का कष्ट छोड़ दिया और उसी अध्यक्ष को स्थायी राज्यपद दिया। इस समय वह राजा (रञ्जयति असौ) प्रजाओं का रंजन करता है, प्रजाहित करता है, प्रजा की उन्नति को ही अपना ध्येय मानता है। ऐसा वंशपरम्परा से माय किया जाता है। अध्यक्ष जो लोकरंजन करने वाला था वही आगे राजा बना और फिर अनियन्त्रित राजा बना। अधिकार और शक्ति के केन्द्रीकरण का यही परिणाम है। जो अध्यक्ष प्रजा-सेवक था, वही प्रजा का स्थायी ईश्वर बना और प्रजा उसकी सेवा करते वाली बनी। लोकप्रिय अध्यक्ष ही अधिकार प्राप्ति के कारण स्थायी शासक बन जाता है।

रक्षकों से राक्षस

रक्षकों से ही राक्षस बनते हैं। प्रजा उत्पन्न होते ही प्रजापति ने उनसे पूछा कि तुम या कायं करोगे? जिन्होंने कहा कि 'हम यज्ञ करेंगे' (यजामः) वे याजक बने और जिन्होंने कहा कि 'हम रक्षण करेंगे (रक्षामः)' वे रक्षक बने। इनका दूसरा नाम 'पूर्वदेवा:' था। ये जनता का रक्षण करने के कारण देववत् पूज्य थे। पहिले समय के ये देव ही थे। रक्षण करते-करते ये गिरते

गये और अन्त में ये ही राक्षस बने ! रक्षण करना पवित्र काम है, यह जनसेवा है। इससे मनुष्य का उद्धार होता है। पर रक्षक होने का अधिकार हाथ में आने से रात में पहरा देने वाले ही चोरी करने लगते हैं और वे ही रक्षक अन्त में राक्षस बनते हैं। यह रक्षक से राक्षस बनने का वृत्तांत अनेक पुराणों में है।

अधिकार का मद अधिकारियों को गिराता है। इसलिए जिसके हाथ में अधिकार होता है, उनको अत्यन्त सावधान रहना चाहिए। इसी तरह जो राष्ट्रसमिति अथवा मन्त्रिमण्डल का अध्यक्ष होता है, जिसके हाथ में राष्ट्रशासन की बागडोर आती है, उसको बड़ा सावधान रहना चाहिए। अस्तु जनपद का जनता द्वारा चुना हुआ अध्यक्ष ही अपने हाथ में अधिकारों को केन्द्रित करके गिरता गया और अन्त में अनियन्त्रित सर्वाधिकारी बना !

इस कारण 'राजा' की व्युत्पत्ति, प्रारम्भ में, लोकरंजन करने वाला (राजा प्रकृतिरंजनात्) ऐसी मिलती है। इस समय प्रकृति अर्थात् प्रजा उपास्य है, प्रजा को सन्तुष्ट रखना राजा का कार्य है। परन्तु यह भाव लुप्त होकर पश्चात् राजा को ही प्रभु का पद दिया जाता है। इस समय 'राजः इदं राज्यं' ऐसी राज्य की व्युत्पत्ति बनी। इस समय राज्य राजा की सम्पत्ति बना। राष्ट्र राजा का उपास्य था, वही उसकी उपभोग्य सम्पत्ति बना। इसी का नाम 'रक्षक' का 'राक्षस' बनना है। अधिकार हाथ में आने पर जो सावधान नहीं रहेगा, वह अबश्य गिरेगा। इसलिए वेद ने राजा के राज्याभिषेक के समय सावधानी की सूचना दी है—

आ त्वा हौर्षमन्तरेधि श्रुवस्तिष्ठाविचाचलिः । विशस्त्वा सर्वा वाञ्छन्तु मा त्वद्वाष्ट्रमधिभ्रशत् ॥१॥
इहैवैधि मापच्योडाः पर्वतं इवाविचाचलिः । इन्द्र इवेह श्रुवस्तिष्ठेह राष्ट्रमु धारय ॥२॥
श्रुवा द्यौध्रुवा पृथिवी श्रुवासः पर्वता इमे । श्रुवं विश्वमिदं जगत् श्रुवो राजा विशामयम् ॥४॥

ऋ. १०।१७३

यहां जनता का नेता पुरोहित अभिविक्त राजा से कहता है कि 'हे राजन् ! मैंने तुमको इस स्थान पर लाकर रखा है। तुम यहां स्थिर रहो, चंचल न बनो। सब प्रजाजन तुम्हें इस स्थान पर रखने की इच्छा करें। तुमसे राष्ट्र अष्ट न हो जावे, तुमसे राष्ट्र दूर न हो जावे। यहीं रहो, च्युत न हो, पर्वत के समान स्थिर रहो। इन्द्र के समान स्थिर रहो और राष्ट्र का उद्धार करो। जिस तरह द्यौ, पृथिवी, पर्वत और यह सब जगत् स्थिर है, वैसे ही यह राजा स्थिर रहे।'

इन मन्त्रों में कई वाक्य मनन करने योग्य हैं। "विशः त्वा सर्वाः वाञ्छन्तु।" सब प्रजाजन तुम्हे राज्य पर रखने की इच्छा करें। प्रजा की इच्छा से ही राजा राज्य पर स्थिर रह सकता है। प्रजा जब विरोध करने लगेगी तब कोई भी राजा अपने पाश्वी बल से राज्य पर नहीं रह सकता। इसलिए पुरोहित इस मन्त्र द्वारा राजा को सूचना देता है कि तुम ऐसा राज्य करो, जिससे सब प्रजाजन तुम्हें ही इस राज्य पर रखने की इच्छा करें। प्रजा का सन्तोष ही राजा की स्थिरता का आधार है।

"मा त्वत् राष्ट्रं अधिभ्रशत्" तुम्हारे हाथ से राष्ट्र न गिरे। यहां "अधिभ्रशत्" पद में दो भाव हैं। एक भाव यह है कि राष्ट्र का अधिपतन अर्थात् नैतिक गिरावट तुम्हारे शासन के कारण न हो। और दूसरा भाव यह है कि राष्ट्र पर तुम्हारा अधिकार दूर न हो। दोनों भाव यहां विचार करने योग्य हैं। राष्ट्र का नैतिक अधिपतन हुआ तो राष्ट्र की हानि है और प्रजा के क्षेत्र

से राजा को अधिकार से ब्रह्म होना पड़े, तो राजा की हानि है। अधिकार प्राप्त होने से मनुष्य का पतन होने की संभावना है और जितना अधिकार बढ़ा उतना पतन भी अधिक गहरा होता है। ये मन्त्र सुनकर राजा वया उत्तर देता है, देखिए—

६. लोकप्रिय राजा

येनेन्द्रो हविषा कृत्यभवद् द्युम्न्युत्तमः । इदं तदक्रि देवा असपत्नः किलाभुवम् ॥४॥

असपत्नः सपत्नहाऽभिराष्ट्रो विषासहिः । यथाहमेषां भूतानां विराजानि जनस्य च ॥५॥

ऋ. १०।१७४

“जिस उपाय से इन्द्र श्रेष्ठ, तेजस्वी, उत्तम और कृतकृत्य हुआ उसी यज्ञ से मैं शत्रुरहित हुआ हूँ। मैं दुष्टों का विनाशक, शत्रु के आकर्षणों का प्रतिकार करने में समर्थ, और राष्ट्र का हित करने का विचार करने वाला हुआ हूँ। मैं सब प्राणियों का और सब जनता का प्रिय करता हूँ।”

राष्ट्रहित करने की प्रतिज्ञा यहां राजा करता है। राजा ने यज्ञ किया, इस यज्ञ में श्रेष्ठ पुरुषों का सत्कार किया, राष्ट्र के सब लोगों की संघटना की और जो दीन थे उनकी दीनता को दूर करके उनको भी सामर्थ्यवान बनाया। राजा ने यह यज्ञ किया जिससे वह शत्रुरहित हुआ, जो ऐसा यज्ञ करेगा वह भी शत्रुरहित हो जाएगा।

यहां तक हमने राजा और राज्य पद के दो अर्थ देखे। एक ‘राजा’ प्रजा का रंजन अथवा प्रिय करने वाला है और जहां उसका शासन चलता है वह ‘राज्य’ है। इस ‘राजा’ पद का दूसरा अर्थ यह है कि वह जैसा चाहे अनियन्त्रित शासन करे। ऐसे राजा की अपनी भोग्य सम्पत्ति राज्य है। इस दूसरे अर्थ की निन्दा वेद करता है। वेद में जनता का चुना हुआ, पसंद किया हुआ राजा है, और पिता का पुत्र आनुवंशिक अधिकार से बैठने वाला राजा भी है। पर यह आनुवंशिक पुत्र भी प्रजा की सम्मति से ही राजगद्दी पर बैठता है। जैसे भगवान् रामचन्द्रजी का राजगद्दी पर बैठना तब हुआ जब प्रजा ने सम्मति दी। वेन जैसा भी अनियन्त्रित राजा होता था, पर उसको वृषभियों ने मारा, अर्थात् उच्छृंखल राजा का वध भी होता था और दूसरा प्रजासम्मत राजा गद्दी पर बिठलाया जाता था।

पिता यत् स्वां दुहितरमधिकन् क्षमया रेतः संजग्मानो नि विच्चित् ।

स्वाध्योऽजनयन् ब्रह्म देवा वास्तोष्पर्ति व्रतपां निरतकन् ॥ ऋ. १०।६।१७॥

“जब प्रजापालक राजा ने अपनी पुत्री जैसी पालने योग्य प्रजा परिषत् का अपमान किया, तब मातृभूमि के साथ (अर्थात् प्रजाजनों के साथ) जो संघर्ष हुआ उसमें उस प्रजापति का वीर्य नष्ट हुआ अर्थात् वह मारा गया। तब ज्ञानी लोगों ने नया विधान बनाया और नियमों का पालन करने वाले प्रजापति को राज्य पर बिठलाया।”

यहां स्पष्ट शब्दों में कहा है कि प्रजा के नेता दुष्ट राजा को हटाते हैं और नियमों के पालन करने वाले नये राजा को राजगद्दी पर बिठलाते हैं। यह प्रजा का अधिकार है। इस तरह यह वैदिक राज्यव्यवस्था स्पष्ट दीखती है। यह है राजा और यह है राज्य शासन। जहां मनुष्य होता है वहां भला और बुरा ही करता है। भले का रक्षण और दुरे का विनाश करना

चाहिए। यह देवासुर संग्राम सतत चलता ही रहेगा।

७. भोज्य शासन

भोज्य राज्य-शासन में प्रजा को भोजन देने का भार राजा पर रहता है। प्रजा को काम देना, काम करने पर योग्य दाम और योग्य दामों से योग्य भोजन प्रजा को मिलना चाहिए। राज्य प्रबन्ध का यही ध्येय होना चाहिए। भोजन में अनन्त, वस्त्र और रहने का स्थान इनका समावेश होता है। इनका भार राजा पर जहां रहता है वह भोज्य शासन है। ऐसा प्राचीन भारत के अनेक शासनों में हम देखते हैं। यह सचमुच अच्छा राज्य-शासन है।

राजा को यह दायित्व लेना चाहिए। राजा का यह आवश्यक कर्तव्य भी है। भोज्य शासन प्रायः बुरा नहीं होता। पुराणों में हम देखते हैं कि गणेशजी ने अपने भूतान के राज्य में सब तरह की उत्तम राज्य शासन पद्धति का प्रयोग किया था। उन्होंने सारी प्रजा की गणना की, काम-धन्धों के अनुसार वर्ग बनाए। प्रत्येक को काम मिले, काम करने वाले को आवश्यक सब वस्तुएं मिलें, रोगी को औषध मिले, दीन की दीनता दूर हो, ऐसी उत्तम व्यवस्था श्री गणेशजी ने की थी। इसी कारण उनकी अग्रपूजा होने लगी। वह उचित थी। दूसरा हम रामराज्य सुनते हैं जहां सब प्रजाजनों का हित करना ही राजा का ध्येय माना गया था।

८. साम्राज्य शासन

साम्राज्य में अनेक छोटे-मोटे पृथक्-पृथक् राज्य रहते हैं। परस्पर पृथक् रहने और अनेक प्रकार के विधानों से पृथक् पद्धति से चलाए जाने पर भी उनका एक सम्राट् होता है। यह साम्राज्य है। प्राचीन समय में बड़े-बड़े साम्राज्य हुए जो इतिहास में प्रसिद्ध हैं।

९. महाराज्य

साम्राज्य में जो अनेक छोटे-मोटे राज्य होते हैं, वे सब स्वेच्छा से या दबाव से एक विधान में आ जाएं और उनका एक राज्य बने तो वह महाराज्य होता है। महाराज्य में जो रहेंगे वे एक प्रकार के शासन में रहेंगे, साम्राज्य में पृथक्-पृथक् शासन रह सकते हैं। यही साम्राज्य और महाराज्य में भेद है।

१०. अधिकारियों द्वारा राज्य

आधिपत्यमय राज्य—अधिकारियों को अधिपति कहते हैं। अधिपतियों अर्थात् अधिकारियों के मण्डल के अधीन जहां की शासन व्यवस्था रहती है वह 'आधिपत्यमय' राज्य कहलाता है। राज्य के बड़े अधिकारियों का मण्डल बनाया जाता है और वे जैसा चाहते हैं वैसा उस राष्ट्र का शासन चलाया जाता है। इसमें प्रजा की सम्मति के लिए कोई स्थान नहीं रहता।

नियम तोड़ने वाले प्रजापति को हटाना या उसका वध करना और नये, नियम-पालक, अच्छे शासक को प्रजापति के स्थान पर बिठाना—यह इस आधिपत्यमय राज्य-शासन में नहीं हो सकता। अधिकारी-वर्ग जैसा चाहेगा वैसा ही यहां का शासन होगा। यह शासन प्रजा का सुख नहीं बढ़ा सकता।

११. सामन्त मण्डल का राज्य

सामन्तपर्यायी राज्य—छोटे राजाओं को सामन्त अथवा मांडलिक कहते हैं। सामन्त-मंडली के आधीन जहाँ राज्य-व्यवस्था रहती है वह सामन्तपर्यायी राज्य-व्यवस्था है। सभ्राट् के साथ छोटे माण्डलिक राजाओं का मण्डल रहता है और यह अपनी सम्मति से जैसा चाहे वैसा राज्य-शासन चलाता है। इस व्यवस्था में भी प्रजा की सम्मति का कोई मूल्य नहीं रहता, इसलिए इस शासन से प्रजा का सुख नहीं बढ़ सकता। पहिले दृष्ट सभ्राट् को हटाना और दूसरे नये अच्छे को उसके स्थान में नियुक्त करना, यह इस शासन में नहीं हो सकता। सामन्तों की सम्मति के ऊपर सभ्राट् की ही सम्मति यहाँ शिरोधार्य होती है। यह शासन प्रायः एक सभ्राट् के विचार से ही चलता है, पर सामन्तों की भी सम्मति अवशतः रहती है। कोई सामन्त सभ्राट् के प्रतिकूल कुछ बोल सकेगा, ऐसा नहीं माना जा सकता। इसलिए इसमें नाममात्र सामन्त रहते हैं, सर्वाधिकार सभ्राट् का ही रहता है। यहाँ भी इस कारण प्रजा के हित की सम्भावना कम ही दीखती है।

१२. लोकराज्य

जानराज्य—सब जनों का हित करने लिए जिसमें समस्त प्रजा की अनुकूल सम्मति प्राप्त करने के साधन रहते हैं, जहाँ प्रजा के प्रतिकूल कोई शासन निर्बंध नहीं हो सकता, प्रजा के हित के लिए ही जहाँ का शासन चलाया जाता है, वह जानराज्य है। वेद में इसका वर्णन ऐसा है—
इमं देवा असपत्नं सुवर्ध्वं महते क्षत्राय महते जानराज्याय । वा० य० १।४०; १०।१८

“इसको शत्रुरहित करो, यह बड़ा पराक्रम करे। यह बड़े जानराज्य के लिए शासन करे।” बड़ा जानराज्य अर्थात् जनता का हित करना ही एकमात्र जहाँ ध्येय है ऐसे राज्य शासन के लिए यत्न करना चाहिए। आज जिसको लोकराज्य कहते हैं, वह यही है। इस तरह के शासन में प्रजा के हित का विरोध होना सम्भव नहीं है। ध्येय प्रजा का सच्चा और स्थायी हित का साधन करना ही है। प्रजाजनों का हित करने के लिए यहाँ के अधिकारी तत्पर रहते हैं और प्रजा भी उत्तम नियमों का पालन करने में तत्पर रहती है। इसलिए यह राज्य-शासन प्रजाहित करता है।

१३. स्वराज्य-शासन

स्वराज्य (स्वाराज्य)—स्वराज्य का वर्णन वेद के ही मन्त्र द्वारा किया गया है। वह मन्त्र अब देखिए—

आ यद्वामीयचक्षसा मित्र वयं च सूरयः। व्यचिष्ठे बहुपाप्ये यतेमहि स्वराज्ये । ऋ. ५।६।६

“हे विशाल दृष्टि वालो, हे मित्र भाव से बर्तने वालो, विस्तृत तथा बहुतों द्वारा जिसका पालन किया जाता है ऐसे स्वराज्य में सब लोगों का हित साधन करने के लिए हम सब विद्वान् मिलकर यत्न करेंगे।”

इस मन्त्र में स्वराज्य का लक्षण किया है। यह स्वराज्य “बहु+पाप्य” है। बहुतों की सम्मति से इसका पालन किया जाता है। बड़ी राष्ट्रसमिति होती है जो सब प्रजाजनों द्वारा चुनी जाती

हैं। इसमें विद्वान् ज्ञानी, विशाल दृष्टि वाले तथा मित्रों के समान जनता का हित करने वाले ही चुने जाते हैं। इस समिति की सदस्यों की बहुसम्मति से (बहु+पाठ्य) जो नियम निश्चित होते हैं, उससे यहाँ का शासन चलता है। इसलिए यह शासन सबसे श्रेष्ठ शासन है।

नाम नाम्ना जोहवीति पुरा सूर्यात् पुरोषसः । यदजः प्रथमं संबभूव स ह तत् स्वराज्यं

इयाय, यस्मान्नान्यत्परमस्ति भूतम् ॥ अथर्व १०।७।३१

“सूर्योदय के पूर्व और उपःकाल के पूर्व ईश्वर का नाम लेकर जो ईश्वरभक्ति करते हैं, वे प्रथम संघटित होते हैं और उस स्वराज्य को प्राप्त करते हैं, जिससे अधिक अच्छा राज्य शासनों में कोई शासन नहीं है।”

शासनों में सबसे श्रेष्ठ शासन स्वराज्य शासन ही है, जहाँ ईश्वरभक्त, विशाल दृष्टि वाले, मित्र भाव से व्यवहार करने वाले ज्ञानी ‘शासक संस्था’ के सदस्य रहते हैं वहाँ दोष होने की सम्भावना ही नहीं रहती।

स्वराज्य ही स्वराज्य है। इसमें ‘स्व’ पर बल देने से ‘स्व’ का ‘स्वा’ बना है। स्व पर बल देने का तात्पर्य यह है कि स्वराज्य में प्रत्येक प्रजाजन ‘स्व’ कहलाता है। प्रत्येक की सम्मति से राष्ट्रसमिति चुनी जाती है। इसलिए प्रत्येक की सम्मति राष्ट्र शासन में पहुंचती है। इस कारण ‘स्व’ का सुधार, ‘स्व’ का विकास अथवा ‘स्व’ की ज्ञान से पूर्णता यहाँ होनी चाहिए। जितना प्रत्येक मतदाता उच्च रहेगा, उतना श्रेष्ठ यह स्वराज्य होगा।

यहाँ शासनाधिकार अपने अधिकारोंपरे पक्ष के अधीन रखने की स्वर्गा नहीं है, प्रत्युत ‘स्व’ को अर्थात् प्रत्येक मतदाता को परिशुद्ध और परिपूर्ण करने की पराकाष्ठा है। इसको दर्शनि के लिए यहाँ स्व पर बल देकर ‘स्वा-राज्य’ ऐसा पद वेद में आया है।

इतने राज्य शासन वेदों के विविध मन्त्रों में दीखते हैं। ऐतरेय आदि ब्राह्मणों में इन सबका एक स्थान पर उल्लेख है—

पृथिवी का एक शासक

**साम्राज्यं भौज्यं स्वराज्यं वैराज्यं पारमेष्ठ्यं राज्यं महाराज्यमाधिपत्यमयं सामन्तपर्यायी
स्यात् सार्वभौमः सार्वायुषः आन्तादापराधात् । पृथिव्यै समुद्रपर्यन्तायाः एकराट् इति । ऐ. ब्रा.**

इस वचन में बहुत से राज्यों का उल्लेख है। अन्त में (समुद्रपर्यन्तायाः पृथिव्या एकराट्) समुद्रपर्यन्त पृथिवी का एक आर्य राजा हो और उसमें एक ही वैदिक राज्य शासन का विधान हो, यह इच्छा प्रकट की है। यह बड़े महत्व की बात है। समुद्रपर्यन्त जितनी भी पृथिवी है उस पर एक आर्य राजा का राज्य हो और सब पृथिवी पर एक ही वेदानुसोदित आर्य विधान का शासन हो। इस घोषणा से स्पष्ट हो जाता है कि कृष्ण लोग राज्य शासन में अपना मन लगाते थे और प्रजा का हित करना उनका ध्येय था। उनका अन्तिम ध्येय विद्व भर में एक आर्य राज्य शासन था और यदि यह सफल हो जाता, तो निःसन्देह जगत् का कल्याण हो जाता।

राज्य की स्थिरता

“बहुपाठ्य स्वराज्य” नामक राज्यशासन की कुछ विषेशताएँ हैं, जिन पर नीचे दिए मन्त्र अच्छा प्रकाश डालते हैं—

स विशोऽनुव्यचलत् । तं सभा च समितिश्च सेना च सुरा चानुव्यचलन् ॥ अथर्व १५।६

“जो राजा प्रजा के अनुकूल रहकर अपना राज्य शासन चलाता है, उस राजा को सभा, समिति, सेना और धनकोश अनुकूल रहते हैं।” किसी भी राजा का सामर्थ्य सभा, समिति, सेना और धनकोश की अनुकूलता रहने से ही होता है। यदि राजा को इनकी अनुकूलता प्राप्त न हो, तो वह प्रजा पर शासन नहीं कर सकता। वैदिक समय में ग्रामसभा और राष्ट्र समिति स्वतन्त्र रीति से अपना कार्य करती थी और मन्त्रिमण्डल के अधीन धनकोश और सेना रहती थी। इसलिए राजा बलवान बनकर किसी को सताने लगे, यह सम्भव नहीं था। राजा को सुशिक्षित किया जाता था इसलिए वह मर्यादा से बाहर नहीं जाता था।

यहां का ‘सुरा’ शब्द मद्यवाचक नहीं है। ‘सुर ऐश्वर्य’ अर्थ वाले सुर से सुरा पद बना है। इस कारण इसका यहां अर्थ धन, ऐश्वर्य, सम्पत्ति, राष्ट्रीय कोश है। इनकी अनुकूलता उस राजा को मिलती है जो प्रजा के अनुकूल राज्य शासन चलाता है।

राजा का आदर्श

राजा के गुणों का वर्णन करने वाले ये मन्त्र हैं—

अनुत्तमन्यः राजा । ऋ० ७।३१।१२

“राजा अप्रतिम उत्साह युक्त होना चाहिए।” निरुत्साह, निराशा, व्यग्रता उसके पास नहीं रहनी चाहिए क्योंकि प्रजा का उत्साह बढ़ाने वाला राजा होता है। यदि वही हतोत्साह हुआ, उत्साह हुआ, तो प्रजा का उत्साह कौन बढ़ायेगा। इसलिए राजा में उत्साह अवश्य होना चाहिए अर्थात् राष्ट्र में उत्साहपूर्ण वायुमण्डल रहना चाहिए। उत्साह से शक्ति बढ़ती है, उत्साह से ही महान् कार्य किये जाते हैं। उत्साह ही विजय देता है।

राजा राष्ट्राणां पेशः, अनुत्तमं अस्मै क्षत्रं । ऋ० ८।३४।११

सुक्षत्रः राजा । ऋ० ७।६४।१

“राजा राष्ट्र का स्वरूप है, सैदैर्य है अतः उसके पास उत्तम क्षात्रबल रहना चाहिए। उत्तम क्षात्रबल से ही राजा सम्मान के योग्य होता है।” अर्थात् जिस राजा के पास उत्तम क्षात्रबल रहता है वह राष्ट्र का वैभव बढ़ाता है। निर्बल राजा राष्ट्र की उन्नति नहीं कर सकता।

सुपारदक्षः राजा गंभीरक्षांसः । ऋ० ७।८७।६

“उत्तम रीति से प्रजा को कष्टों से पार करने वाला राजा प्रशंसा का पात्र होता है।” राजा का यह कर्तव्य है। ‘सु-पार-दक्षः’ उत्तम रीति से पार करने में दक्ष राजा हो।

अदब्धस्य व्रतस्य स्वराजः राजानः महः ईशते

राजानः अनाप्यं क्षत्रं आशत । ऋ० ७।६६।११

“न दबते हुए उत्तम व्रत का आचरण करने वाले तेजस्वी राजा महत्व का स्थान प्राप्त करते हैं।” “उत्तम राजा दुष्प्राप्य क्षात्र बल को प्राप्त करते हैं।”

राजा द्वारा कर ग्रहण

सिंह प्रतीको विशो अद्वि सर्वा व्याघ्रप्रतीकोऽवबाधस्व शत्रून् । एकवृष्ट इन्द्रसखा त्रिगोवा
शत्रूयतां आ भरा भोजनानि ॥ अथर्व० ४।२।२।७

(सिंह प्रतीकः) सिंह के समान प्रतापवान् बनकर (सर्वा: विशः अद्वि) सब प्रजाजनों से कर प्राप्त करके उसी अंश का भोग कर। (व्याघ्रप्रतीकः शत्रून् अववाघस्व) व्याघ्र के समान समर्थ बनकर अपने पर शत्रुओं के हमले में बाधा उत्पन्न कर।

यहाँ इस मन्त्र में सिंह के समान प्रभावी बन और (सर्वा: विशः अद्वि) सब प्रजाजनों को खा, ऐसा पदशः अर्थ है। यहाँ इन पदों का सच्चा अर्थ यह है कि राजा अपने शासन व्यवहार का सब व्यय प्रजा से प्राप्त धन से ही करे। 'कर, बलि, राजस्व' ये पद प्रजा के लिए कर-भार के अर्थ में संस्कृत भाषा में प्रयुक्त होते हैं। प्रजा से राजा कर लेवे और उससे अपने शासन का सब व्यय चलावे, यह भाव इस मन्त्र भाग का है। वैदिक राष्ट्रगीत में—

'वयं तुम्हं बलिहृतः स्याम' अथर्व० १२।१।६०

"हम सब प्रजाजन तुम्हें कर देने वाले होकर रहेंगे" ऐसा कहा है। प्रजा कर देवे और उस कर से राजा शासन चलावे। राजा को अपना शासन-व्यय चलाने के लिए धन चाहिए। प्रजा उस कर को अवश्य देवे। राजा को कर देने में कदापि हिचकिचाहट न करे। उत्तम प्रजा का यही लक्षण है। दुष्ट प्रजा वह है जो राजा को कर नहीं देती, ठीक हिसाब नहीं बताती और राजा को ठगती है।

आय का छठा भाग राजा को कर रूप में देना चाहिए। प्रजा इस भाग को राजा के पास पहुंचावे और राजा उसी में से सब शासन-व्यय चलाए। राजा जबरदस्ती कर लेगा, ऐसा यहाँ नहीं है, पर प्रजा ही स्वयं राजा के पास कर पहुंचा देती है। वह जानती है कि कर देना प्रजा का कर्तव्य है।

जो प्रजा अपने राजा को कर न देने का विचार करती है, नाना युक्तियों से कर कम देने की बात सोचती है, हिसाब में मिथ्या कपटजाल करके राजा को ठगती है वह प्रजा रक्षणीय नहीं हो सकती। प्रजा का कर्तव्य राजा को कर देना है और राजा का कर्तव्य प्रजा का उत्तम प्रकार से रक्षण करके प्रजा की सब प्रकार की उन्नति करना है। इस तरह राजा और प्रजा अपना कर्तव्य-पालन करते रहेंगे तो दोनों के लिए वहाँ सुख हो सकता है।

प्रजा द्वारा स्वीकृति

वैदिक राज्य-व्यवस्था में सभा, समिति का स्वातन्त्र्य और सेना तथा धनकोश का प्रजा के अधीन होना—ये मुख्य बातें हैं। इससे स्पष्ट पता चलता है कि उस शासन को चलाने वाली जनता भी अच्छी प्रबुद्ध थी। ये अधिकार विधान ने दिए, तो उनको उचित रीति से बत्तना चाहिए। अन्यथा केवल विधान के नियम ही किसी को सुख नहीं दे सकते।

राज्याभिषेक के समय जनता का नेता पुरोहित कहता है—

त्वां विशो वृण्तां राज्याय त्वामिमाः प्रविशः पञ्च वेबीः ॥

सर्वास्त्वा राजन् प्रविशो व्ययन्तु उपसद्यो नमस्यो भवेह ॥ अथर्व० ३।४।२,१

"हे राजन्! सब प्रजा अपने राज्य शासन के कार्य के लिए तुम्हें स्वीकार करे। पांचों प्रकार के प्रजाजन अर्थात् ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र और निषाद ये पांचों लोग तुम्हें ही चाहें। सब प्रजा तुम्हें ही बुलावे और तुम सबके आदर भाजन बनो!"

पुरोहित को जनता ने अपना नेता बनाकर (पुरः) आगे (हितः) रखा होता है। वह जनता का नेता होकर यह भाषण करता है। इससे राजा का प्रजा की सम्मति से राजगद्वी पर आना और प्रजा की सम्मति से ही राजगद्वी पर रहना सिद्ध होता है। वैदिक समय में प्रजा में इतना बल था, क्योंकि ऋषि लोग प्रजा के निःस्वार्थी तथा सच्चे हितेषी पुरोगमी नेता थे। वे कहते थे कि—

बथं राष्ट्रे जाग्याम् पुरोहिताः । वा० यजु० ६।२३ श० ब्रा० ५।२।२।५

“अपने राष्ट्र में आगे बढ़ने वाले नेता होकर हम जागते रहेंगे।” जनता के नेता ऋषि होंगे तो वे कभी अन्याय नहीं करेंगे, वे सन्मार्ग से ही जनता को ले जाएंगे और उसको अन्त में सुखी बनाएंगे। प्रजा और राजा के सच्चे हित का जो मार्ग होगा वही उनके सामने होगा। उनको पता था कि—

विशि राजा प्रतिष्ठितः । यजु० २०।६

“प्रजा के आधार से राजा रहता है।” यह उस समय के सब विद्वान् लोग जानते थे। प्रजा भी अपना सामर्थ्य जानती थी, उस प्रजा के नेता ऋषि भी वेद के राष्ट्र शासन विषयक ज्ञान को जानते थे, राजा भी प्रजा ही मेरा अन्तिम आधार है—यह जानता था। इसलिए कोई भी अपनी मर्यादा का उल्लंघन नहीं करता था, अतः सब सुखी थे। राजा मानता था कि—

विशो मे अंगानि सर्वतः । यजु० २०।६

“प्रजाजन ही मेरे शारीर के अवयव हैं।” प्रजाजन मिलकर ही राजा होता है। प्रजा और राजा की एकरूपता इस तरह जहाँ होगी वहाँ दोनों का कल्याण होने में संदेह ही नहीं है। इस समय लोग जो आशीर्वाद देते थे वह भी राष्ट्रीय आशीर्वाद था। देखिए—

अभिवर्धतां पयसाभि राष्ट्रेण वर्धताम् ।

रथ्या सहस्रवर्चसा हन्तौ स्तामनुपक्षितौ ॥ अथर्व० ६।३८।२

यह आशीर्वाद वधू-वर के लिए है। “हे वधूवरो! तुम दूध पीकर पुष्ट हो जाओ। तुम दोनों राष्ट्र की उन्नति के साथ अपनी उन्नति करो। हजारों प्रकार के ऐश्वर्यों से तुम दोनों युक्त हो जाओ।”

वधू और वर विवाह के समय विवाह-बद्ध होकर गृहस्थाश्रम में प्रविष्ट हो रहे हैं। स्वार्थवश होकर ये अपने सुख के लिए अपने राष्ट्र का धात न करें, इसलिए इस आशीर्वाद में कहा है कि— “राष्ट्रेण अभिवर्धतां।” कितनी सावधानी वेद यहाँ दर्शा रहा है। इस तरह शिक्षित और दीक्षित होकर जो गृहस्थाश्रम में प्रविष्ट होंगे उनसे अपने राष्ट्र का कभी अहित नहीं होगा।

रक्षा की व्यवस्था

राज्य शासन का विचार करने के समय राष्ट्र के संरक्षण का विचार अवश्य करना चाहिए। इस विषय में निम्नलिखित मंत्र देखने योग्य है—

अष्टचक्रा नवद्वारा देवानां पूः अयोध्या ।

तस्यां हिरण्ययः कोशः स्वर्गो ज्योतिषाच्चतः ॥ अथर्व० १०।२।३।१

“देवों की अयोध्या नगरी नौ द्वारों वाली और आठ चक्रों वाली है। इसमें सोने का धन-कोश है, वह ज्योति से घिरा हुआ स्वर्ग है।” इस मंत्र में सुरक्षित नगरी का वर्णन है। इस नगरी

के बाहर चारों ओर दुर्ग हों। बाहर से अन्दर आने और अन्दर से बाहर जाने के लिए इस दुर्ग की दीवार में ती द्वार हों। इस दुर्ग की दीवार पर आठ चक्र अर्थात् उल्हाट यंत्र लगे हों, ताकि शत्रु पर इन से हमला हो सके और शत्रु का पराभव हो सके। इस तरह नगरी सुरक्षित हो।

नगरी 'अ-योध्या' हो, अर्थात् शत्रु आकर युद्ध भी करे, पर यह नगरी उसके प्रयत्न से पराभूत न हो, ऐसी जो अभेद्य नगरी होगी वही 'अ-योध्या' नगरी कहलाएगी। दुर्ग की दीवार पर शत्रु का पराभव करने के सब सामान तैयार रहें।

सप्तास्यासन परिधियः । क्र० २०।६०।१५

इस दुर्ग की सात परिधियाँ हों, अर्थात् एक के अन्दर दूसरी ऐसी सात दीवारें हों। बाहर की दीवार कदाचित् टूट जाए, तो भी अन्दर की दीवार दुर्भेद्य हो। ऐसी एक के अन्दर दूसरी, इस तरह सात दीवारें हों। इन सब के अन्दर मुख्य राजा, धनकोश, ज्ञान का केन्द्र, जो भी सुरक्षित रखने योग्य है, वह सब सुरक्षित हो। बाहर की कक्षा में लड़ाई करने वाले रहें, अन्दर की कक्षा में विद्वान् तथ्य उत्तम से उत्तम ज्ञानी रहें।

पूर्वोक्त मंत्र वस्तुतः अध्यात्म का वर्णन करते हैं और साथ-साथ नगरी को सुरक्षित रखने का भी उपदेश देते हैं। यही रीति वेद में है, इसी तरह वेद में इस विषय का ज्ञान दिया है। पंच कोश और सप्त शरीर का जो वर्णन अध्यात्म में है, वही राष्ट्र-रक्षा का विचार करने के समय संरक्षण की विधि बताता है। कोश वा शरीर एक दूसरे के अन्दर जैसे रहते हैं, उसी तरह नगरी के किले की दीवारें हों। उत्तम सदाचारी और उत्तम ज्ञानी मध्य भाग में रहेंगे। इस स्थान का नाम 'सुवर्ग' है। यह 'सुवर्ग लोक' है, उत्तम वर्ग में जिनकी गणना होनी संभव है, वे ही इस केन्द्र में रहेंगे और बाहर के स्थान में वे लोग रहेंगे, जो लड़ाके होंगे और जो सुवर्ग में नहीं रह सकते। इस तरह नगरी की रक्खना करनी चाहिए। गुण्डे अन्दर के मध्य केन्द्र में आ भी न सकें, ऐसा प्रबन्ध होना चाहिए।

सुवर्ग का स्थान

न मे स्तेनो जनपदे न कदर्यो न मद्यपो

नाना हितानिः नाविद्वान् न स्वैरी स्वैरिणी कुतः ॥ छांदोग्य ५।१।१५

"मेरे राज्य में चौर, कंजूस, मद्यप, अयाजक, अज्ञानी, स्त्रैराचारी नहीं हैं फिर स्वैरिणी कहाँ से मिलेगी।"

सुवर्ग लोक में ऐसी ही जनसंख्या रहेगी। वास्तव में सम्पूर्ण राष्ट्र में ऐसे लोग होने चाहिए। वैसा हो या न हो, पर नगर के मुख्य केन्द्र भाग में तो ऐसी बस्ती रखने का प्रबन्ध राज्य शासन व्यवस्था से किया जा सकता है। बाहर के विभागों में अपेक्षतया कम योग्यता वाले रह सकते हैं। जब वे बाहर के लोग अपना सुधार करेंगे, तब वे भी उस सुवर्ग लोक में जाकर रहने का अधिकार प्राप्त कर सकेंगे।

इस तरह आत्मसंयम और आत्म-सुधार करने से सुवर्ग लोक में सुसंकृत हुए लोग जाकर रह सकते हैं। सत्कर्म से सर्वा प्राप्त होने का भाव यही है। संरक्षण का प्रश्न इस तरह महत्व का है और सुवर्ग और दुर्वर्ग की बस्तियों का भी प्रश्न इस संरक्षण के प्रश्न के साथ ही घनिष्ठ संबंध रखता है। यदि सर्वत्र गुण्डों का प्रवेश होता रहेगा, तो कोई स्थान सुरक्षित नहीं हो सकेगा। इस-

लिए सदाचार-संपत्तों को सुवर्ग लोक में चढ़ाना और दुराचारियों को दुर्वर्ग लोक में, नरकलोक में, गिराना उचित है। 'नर-क' का अर्थ मनुष्यों के अपने कर्म से बनाया स्थान है। 'सुवर्ग' वह है जो अच्छे कर्म करने वाले सज्जनों का निवास स्थान है। इस तरह नागरिकों की सुरक्षा के लिए ऐसा कर्मचारण नुसार वर्गदार रहने का प्रबंध करना उचित है।

अब प्रजाजनों की सुरक्षा का अधिक विचार करना चाहिए।

अभितः: महोभिः शतं आयसीभिः पूर्भिः पाहि । क्र० ७।३।७

"अपरिमित सामर्थ्यों से युक्त सैकड़ों किलों से राष्ट्र का संरक्षण करो।" अर्थात् राष्ट्र में ऐसी सैकड़ों नगरियां हों जिनके चारों ओर ऐसे किले हों। प्रत्येक नगर किलों वाला ही हो, ऐसी बात नहीं है। पर बीच-बीच में किलों वाले सुरक्षित नगर अवश्य होने चाहिए। एक ऐसा नगर आजू-वाजू के लग्जे के नगरों का संरक्षण कर सकता है।

किले का संरक्षण करने वाला अधिपति उत्तम से उत्तम वीर हो—

अद्रः: धार्सं भानुं कर्वि शं राज्यं पुरंदरस्य महानि वतानि गोर्भिः आविवासे । क्र० ७।६।२

"(अद्रः: धार्सि) किले का संरक्षण करने वाला वीर तेजस्वी हो, (कर्वि) ज्ञानी हो, समझदार हो, (शं राज्यं) अपने प्रजाजनों को सुख देने के उद्देश्य से राज्य शासन करने वाला हो, (पुरंदरः:) शत्रु के किलों को तोड़ने वाला हो, परन्तु अपने किले का उत्तम रक्षण करने वाला हो, ऐसे वीर के बड़े-बड़े क्रत्यों का मैं वर्णन करता हूँ।" इस मंत्र में कहा है कि किलों का रक्षक अधिकारी कौसा हो। ज्ञानी, तेजस्वी, राज्य में शान्ति रखने वाला, शूरवीर हो। अनेक वीरों में जो उत्तम से उत्तम हो उसी को दुर्गरक्षक बनाना चाहिए।

"आयसीः पूः" लोहनगरी पूर्वस्थान में कही है। यहां लोहनगरी, लोहे से बनायी नगरी ही इसका अर्थ नहीं है। "आयसीः पूः" का अर्थ उत्तम पत्थरों से बनी दीवार है। इसके बीच में लोहा लगा हो, परंतु पत्थरों की दीवारों का नाम भी 'आयसी' होता है।

वधन्तैः देह्यः अनमयत् । क्र० ७।६।५

"वधकारक शस्त्रों से गुण्डों को नम्र करता है", गुण्डे का गुण्डापन दूर करता है। गुण्डों का सुधार करने का यह साधन है। किले का अधिकारी यह कार्य करे।

अनाधृष्टः नृपीतये शतभुजिः मही आयसीः पूः । क्र० ७।१५।१४

"शत्रु द्वारा अपराजित श्रीर प्रजाजनों का संरक्षण करने के लिए सैकड़ों वीर जहां रहते हैं, ऐसी बड़ी लोहे की नगरी हो।" ऐसी किले वाली नगरी का मुख्य उद्देश्य (नृ-पीतिः) प्रजा का संरक्षण करना है। वहां जो वीर हों वे (अनाधृष्टः) शत्रु द्वारा अपराजित हों। सदा विजयी हों।

जनता का कल्याण

राज्य शासन का ध्येय सब लोगों का कल्याण करना है। दुष्ट लोगों को दण्ड दिया जाता है, वह शासकों को अभीष्ट नहीं है, पर उनको दण्ड दिये बिना विश्व में शान्ति नहीं रह सकती, इसलिए दण्ड देने का कार्य राजा करता है। मुख्य उद्देश्य सबका कल्याण ही है। देखिए—

विश्वे जनासः शर्मन् ।

क्र० १०।६।६

"सब लोगों को सुख मिले" इसीलिए राज्य शासन चलाया जाता है।

विश्वा अमूरा वृषणा ।

अ० ७।६।१५

“सब लोगों को अमूढ़ अर्थात् जानी बनाना है, और बलवान् भी बनाना है।” राज्य शासन इसीलिए है।

विश्वा सुपथानि सुगाः ।

अ० ७।६।२।६

“सब उत्तम मार्ग सबके जाने के लिए सुगम हों।” अर्थात् उन्नति के किसी भी मार्ग से जाने के लिए किसी पर कोई प्रतिबन्ध न हो। सब यथेच्छ उन्नति करें और उत्तम से उत्तम योग्यता प्राप्त करें। अम्बुदय और निःश्रेयस का मार्ग सबके लिए सुगम हो, कोई कठिनाई किसी को भोगनी न पड़े।

निष्कर्ष

वेदों में इस प्रकार प्रजा द्वारा नियुक्त होकर ग्राम की ग्रामसभा, राष्ट्र की राजसमिति, राष्ट्र का नियमन करने वाला मन्त्रिमण्डल और उसका अध्यक्ष किस तरह वैदिक राष्ट्र शासन में राष्ट्राध्यक्ष बनता है, सुयोग्य शासकों के ही दुराचार से किस तरह लोग राक्षस बनते हैं, राष्ट्राध्यक्ष के लिए कौन से आदेश दिए जाते थे, अनियम से चलने वाले राजा की वया गति होती थी, कितने प्रकार के राष्ट्र शासन होते हैं, उनमें कौन-सा शासन श्रेष्ठ है, प्रजा के आधार से राजा किस तरह रहता है, राष्ट्र-रक्षण के लिए किलों की रचना, सुवर्ग और दुष्ट वर्ग के लोगों के रहने के पृथक् स्थान, किले के रक्षक अधिकारी कौसे हों, पुरोहित का राष्ट्र-रक्षण में कर्तव्य, राज्य कर और राष्ट्र रक्षण की तैयारी, राजा के कर्तव्य आदि विषयों पर सम्यक् विचार किया गया है। संक्षेप में यही वैदिक राष्ट्र शासन का आधार और रूपरेखा है।

वैदिक सैन्य-व्यवस्था

प्रेतरेय ब्राह्मण में १२ प्रकार के राज्य शासनों का उल्लेख हुआ है, यह हम देख चुके हैं।

अब देखना है कि वैदिक राज्य शासन व्यवस्था में सैन्य की व्यवस्था थी या नहीं थी, और थी तो कैसी थी।

ऋग्वेद में एक मंत्र आया है—

शूरा इव इत् युयुध्यः न जग्मयः श्वस्यवः न पृतनासु येतिरे ।

भयन्ते विश्वा भुवना मरुद्भ्यः राजान् इव त्वेषसंदृशो नरः ॥ क्र० १।५।८

शूरों के समान युद्ध करने वाले, योद्धाओं के समान शत्रुओं पर आक्रमण करने वाले, यश प्राप्त करने वाले वीरों के समान सैन्यों में पुरुषार्थ का प्रयत्न करते हैं। इन वीरों को देखकर सब भुवन, सब प्राणी भयभीत होते हैं, ये राजाओं के समान तेजस्वी दीखते हैं।

इस मंत्र में सैन्यवाचक 'पृतना' शब्द है। ये वीर सेना में रहते हैं और वीरता के कार्य करते हैं। यहाँ वीर पुरुषों की सेना होती है, ऐसा कहा है।

सं यद् हनन्त मःयुभिर्जनासः शूरा यद्वीषोषधीषु विक्षु ।

अथ स्मा नो मस्तो रुद्रियासः त्रातारो भूत पृतनास्वर्यः ॥ क्र० ७।५।६।२२

'हे श्रेष्ठ वीरो ! जब तुम्हारे शूर पुरुष नदियों में, वनों में अथवा प्रजाजनों में रहकर उत्साह से शत्रु पर मिलकर हमला करते हैं, उस समय सेनाविभागों में रहने वाले तुम सब वीर हमारा संरक्षण करने वाले बनो।'

इस मंत्र में 'पृतना' पद सेनापथकों का वाचक है और ये वीर इन सेनापथकों में रहकर संघशः शत्रु पर आक्रमण करते हैं तथा शत्रु का नाश करते हैं, ऐसा कहा है। यह वैयक्तिक युद्ध नहीं है, पर सेना के पथकों का संघ-युद्ध है। व्यक्तिशः युद्ध करना और बात है और संघशः हमला करना और बात है। इस मंत्र में 'सं हनन्त' मिलकर एक होकर शत्रु पर आक्रमण करने का भाव है।

मरुद्भु उप्रः पृतनासु सालहा मरुद्भुः उप्रः इत् सनिता वाजमर्वा ॥ क्र० ७।५।६।२३

वीरों के साथ रहने वाला वीर सेनाओं में शूरवीर होता है और शत्रु का पराभव करने वाला भी होता है। सेना के साथ रहने से साधारण मनुष्य भी उम्र शूरवीर बनता है और शत्रु का पराभव करने में समर्थ होता है। अनुशासन में रहने का यह प्रभाव है। सेना की शिक्षा से ऐसा प्रभाव होता है, यह वैदिक राष्ट्रवादियों को ज्ञात था। अनुशासनयुक्त सेना का महत्व वे जानते थे।

तहि च ऊतिः पृतनासु मर्धति यस्मा अराध्वं नरः ॥ ७।५।६।४

हे नेता वीरो ! जिसके तुम सहायक होते हो उसके लिए आपकी संरक्षण की शक्ति सेनाओं में रहने के कारण कम नहीं होती। संघ में रहने से मनुष्य की शक्ति बढ़ती है।

तिग्ममनीकं विवितं सहस्रत् माहतं शर्वः पृतनासु उप्रम् ॥ अथर्व० ४।२।७

प्रखर शत्रु का प्रभाव करने वाला तुम्हारी सेना का प्रभाव सबको विदित है। वीरों का वह बल सेनाओं में अथवा सेनाओं के संघर्षों में बड़ा उग्र दीखता है।

इस मंत्र में 'अनीक' तथा 'पृतना' ये दो पद वीरों की सेना के वाचक हैं। सेना में वीरों का बल बढ़ जाता है यह बात इन मंत्रों से स्पष्ट हो जाती है। अकेला-अकेला वीर पृथक-पृथक् रहकर जितना प्रश्नक्रम कर सकता है, उससे अधिक वीरता वही वीर सेना के साथ रहकर कर सकता है।

इस विषय के ये मंत्र देखिए, इनमें सेना के पथकों का प्रभाव वर्णन किया है—

असूत पृश्नमहने रणाय त्वेषमयासां भृत्यामनीकम् ।

ते सप्तरासोऽजन्यन्ताभ्वं आदित्यवधामिषिरां पर्यपश्यन् ॥ क्र० ११६३६

मातृभूमि ने बड़े युद्ध के लिए शत्रु पर हमला करने वाले सैनिकों का तेजस्वी सेनापथक निर्माण किया है। वे सैनिक संघ बनाकर हमला करने वाले वीर बड़ा सामर्थ्य प्रकट करते हैं और अन्त देने वाली स्वकीय धारक शक्ति सर्वत्र कार्य कर रही है, ऐसा उन्होंने देखा।

यहां 'अनीक' पद सेनावाचक है और इस तरह सेना पथकों में रहने वाले वीर कैसा विलक्षण सामर्थ्य प्रकट करते हैं, यह भी इस मंत्र ने बताया है।

अनीकेषु अधि शियः । क्र० ८०।१२

"सेनापथकों में ये वीर विजयश्री प्राप्त करते हैं।" सेना के पथकों में रहने वाले और कार्य करने वाले वीर अधिक वीरता दिखाते हैं, यह इसका तात्पर्य है।

राज्य शासन के अनेक प्रकार थे, राज्य संरक्षण के लिए सेना थी, तथा सेना में रहने वाले सैनिक विशेष शूरता प्रकट करते थे, आदि वर्णनों से अत्यन्त स्पष्ट है कि वैदिक समय में सैन्य-रचना की अच्छी कल्पना व्यवहार में आ गयी थी।

सेना की कल्पना

हमें वेद में सेना की कल्पना स्पष्ट दीखती है—

असौ या सेना भृतः परेषां अस्मानेत्यभ्योजसा स्पर्धमाना ।

तां विघ्यत तमसाऽपवतेन यथेषामन्यो अन्यं न जानात् ॥ अथर्व० ३।२१६

"हे मरुतो ! यह जो शत्रु की सेना बड़े जोर से स्पर्धा करती हुई हमारे ऊपर आक्रमण करने आ रही है, उस सेना को अपवत-तमसास्त्र से बींधो और उस शत्रु सेना में से एक वीर दूसरे को पहचान न सके, ऐसा करो।"

यहां शत्रु की सेना है, और हमारी सेना है। शत्रु की सेना बड़े जोर से हमारे ऊपर आक्रमण करने आ रही है, उस शत्रु की सेना को अपवत तमसास्त्र से बींधना और उस में ऐसी खलबली मचाना कि उनमें से एक भी सैनिक दूसरे सैनिक को पहचान न सके, इस वर्णन से स्पष्ट होता है कि वैदिक समय के राष्ट्रशासन में सेना का प्रबन्ध बहुत अच्छा था।

अपवत तमसास्त्र

अपवत-तमसास्त्र एक अस्त्र है जिसे शत्रु सेना पर फेंकने से उसमें ऐसी गड़बड़ी मच जाती है कि एक सैनिक दूसरे को नहीं पहचान सकता। इस मंत्र से ज्ञात होता है कि शत्रुसेना की अपेक्षा

अपनी सेना अधिक सुसज्जित रहनी चाहिए ।

इन्द्रः सेनां मोहयतु मरुतः शनन् श्रोजसा ।

चक्षुंष्वग्निरादत्तां पुनरेतु पराजिता ॥

अथर्व० ३।१।६

“इन्द्र शत्रु की सेना को मोहित करे, शत्रु सेना के मोहित होने पर मरुत उसका वध करें, शत्रु की सेना की दृष्टि अग्नि दूर करे, फिर वह शत्रु की सेना पराजित होती हुई वापस फिरे ।”

इस तरह शत्रु सेना को मोहित करना, पश्चात् उसका नाश करना, शत्रु सेना को कुछ भी न दीखे एसा करना और इस तरह कुण्ठित गति करके शत्रु सेना को पूर्ण पराजित करना इस मंत्र में लिखा है । यहां युद्ध करने की युक्तियां भी हैं । इस कारण वैदिक समय में सेना थी, सैनिकों का संचालन भी था । युद्ध की नाम युक्तियां थीं और उनके प्रयोग से शत्रु का पराजय करने का साहस भी था ।

सेनजित्त्वं सुवेणश्च । अन्तिमित्रश्च द्वैरेऽमित्रश्च मणः ॥ वा० यजु० १७।८२

“शत्रु की सेना का पराभव करने वाला, उत्तम सेना अपने पास रखने वाला, अपने मित्रों को समीप रखने वाला और अपने शत्रु को दूर रखने वाला । यह सब गण के साथ, संघ के साथ होता है ।” इस मंत्र से सैन्य से क्या-क्या कार्य किए जाते हैं, इसका बोध होता है ।

ते इदुग्राः शवसा धृष्टतुवेणा उभे युजन्त रोदसी सुमेके ।

अध स्मैषु रोदसी स्वशोचिरामवस्तु तस्थी न रोकः ॥

ऋ० ६।६६।६

वे सैनिक उग्र हैं और अपने बल से साहसी सैन्य से युक्त हैं । ये पृथिवी और आकाश में अपने कार्य से संयुक्त रहते हैं, अर्थात् युद्धकर्म में दक्ष रहते हैं । इनके लिए अपने तेज के साथ रहने से पृथिवी और आकाश में कोई प्रतिबंध नहीं रहता ।” अर्थात् ऐसे सैनिक रहने पर उस राष्ट्र की प्रगति में किसी तरह का व्याघात नहीं रह सकता । व्याघात उत्पन्न हुआ तो उसको ये सैनिक दूर करते हैं ।

इतने मंत्रों के विचार से यह सिद्ध हुआ कि वैदिक समय की राज्य शासन व्यवस्था में—

१ सैन्य की व्यवस्था थी,

२ संघ से सैन्य रचना होती थी, एक-एक सैनिक नहीं, संघ-बद्ध सैन्य रचना थी,

३ शत्रु सेना से अपने सैन्य को अधिक सुसज्जित रखा जाता था,

४ अपनी सेना अच्छी रहे तो उसकी प्रगति में रुकावट उत्पन्न करने वाला कोई नहीं होगा, ऐसा विचार उस समय था,

५ अपनी सेना उत्तम रहनी चाहिए,

६ अपने मित्रों को पास रखना चाहिए,

७ अपने शत्रुओं को दूर रखना चाहिए,

८ शत्रु सेना को मोहित करके पश्चात् उसका विनाश करपा चाहिए,

९ तमसास्त्र से शत्रु को परास्त करना चाहिए,

१० अपने सैनिक उग्र होने चाहिए ।

सेना राष्ट्र-रक्षण के जिए अनिवार्य है, यह वैदिक समय में दृढ़ विचार था । सेना रखी जाती थी और अच्छी सुसज्ज सेना रखी जाती थी ।

युद्ध और सैनिक

जहां युद्ध की संभावना होती है वहां सेना की तैयारी आवश्यक होती है। वैदिक सम्मता विश्वशान्ति की स्थापना करने वाली सम्भता है, तथापि राक्षसी प्रवृत्तियों के जो मनुष्य होते हैं, उनके द्वारा जनता में उपद्रव होते हैं। इनका दमन करके जनता को सुखी करना राज्य शासन का मुख्य कार्य है। ऐसी परिस्थिति में राष्ट्र में सेना की आवश्यकता होती है। अतः इस विषय में वेद का कथन है—

त्वां जना ममसत्येष्विन्द्र सन्तस्थाना। विह्वयन्ते समीके। अ० १०।४२।४

(मम-सत्येषु) मेरा पक्ष सत्य है ऐसा आग्रह जहां होता है वहां युद्ध होता है। ऐसे युद्धों के प्रसंग उत्पन्न होने पर है (इन्द्र) प्रभो ! (जना: त्वां विह्वयन्ते) लोग तुम्हें बुलाते हैं। इसी तरह (समीके संतस्थाना) युद्ध में खड़े वीर भी तुम्हें अपनी सहायतार्थ बुलाते हैं।

इस मन्त्र में 'मम-सत्य' यह युद्ध का नाम है। युद्ध के इस नाम से एक बड़ा भारी सिद्धान्त वेद ने प्रकट किया है, वह यह कि (मम सत्य) "मेरा कहना ही सत्य है" ऐसा दोनों पक्ष कहने लगें, तो वहां युद्ध शुरू होता है।

"मम-सत्य" यह युद्ध का ही नाम है। जब तक मानव-जाति है, तब तक 'मेरा पक्ष सत्य है' ऐसा आग्रह रखने वाले लोग रहेंगे ही। और जहां ऐसे लोग होंगे, वहां युद्ध होंगे ही। अर्थात् जनसमाज में युद्ध की संभावना सदा रहेगी।

मनुष्यों में तीन मनोवृत्ति के लोग होते हैं। राक्षसी मनोवृत्ति, मानवी मनोवृत्ति तथा दैवी मनोवृत्ति। इनमें राक्षसी मनोवृत्ति "मेरा ही कहना सत्य है" ऐसा कहकर युद्ध करने के लिए प्रवृत्त होती है। इसलिए वह किसी न किसी प्रकार दुराग्रह करके युद्ध का प्रारम्भ करती ही है।

भारतीय इतिहास में इसके उदाहरण रावण, इन्द्रजीत, धूतराष्ट्र के पुत्र कौरव आदि हैं। सत्ययुग में भी ये थे और कलियुग में तो ये ही हैं। सदा राक्षसी प्रवृत्ति वाले लोग जनसमाज में रहेंगे और वे युद्ध करेंगे। इनके हाथ में राज्य शासन रहे तो ये आवश्य युद्ध करेंगे। इस तरह राक्षसी वृत्ति के लोग युद्ध करते हैं और युद्ध होते हैं इसलिए सेना की आवश्यकता रहती है।

यदचरस्तन्वा वायुषानो बलानीन्द्र प्रशुषाणो जनेषु ।

मायेत् सा ते यानि युद्धान्याहुर्नार्थं शत्रुं ननु पुरा विवित्से ॥ अ० १०।५।४२

हे इन्द्र ! अपने शरीर की सामर्थ्य से उत्साहित होकर तू बल के विषय में जनता में बखान करता हुआ भ्रमण करता है। जो तुम्हारे द्वारा युद्ध होते हैं वह तुम्हारा ही कौशल है। इस कुशलता के कारण न तो तुम्हें आज शत्रु प्राप्त होता है, न ही पूर्व समय में शत्रु तुम्हारे सामने ठहरता था।

इस मन्त्र में 'बलानि और युद्धानि' ये पद अत्यन्त महत्व के हैं। मनुष्य में बल चाहिए, वीरता चाहिए और कुशलता से युद्ध करने की शक्ति भी चाहिए। इससे शत्रु दूर हो सकते हैं। जो अत्यन्त कुशलता से युद्ध करता है और अपना बल बढ़ाता है, उसके सामने जैसे आज शत्रु ठहर नहीं सकते, वैसे ही पूर्व समय में भी नहीं ठहरते थे और भविष्य में भी उसके सामने शत्रु नहीं ठहर सकते। शत्रु को दूर करने के दो ही उपाय हैं: अपना बल बढ़ाना और कुशलता से युद्ध करना। मन्त्र में शत्रुओं का अस्तित्व स्वीकार कर युद्ध से उनको दूर करने का उपदेश किया है। अपनी शक्ति बढ़ाने से

शत्रु दूर हो सकते हैं। अपना बल बढ़ाने का अर्थ अपनी विशेषता का उत्तम बढ़ाना और अपनी राष्ट्रीय सेना बढ़ाना है।

ज्ञान एव व्यवाधत स्पृहः । प्रापद्यद् वीरो अभि पौर्णं रणम् ॥ क्र० १०।१।३।४

“उत्पन्न होते ही वीर ने शत्रुओं को बाधा पहुंचाई और जिसमें पौरुष का कार्य होता है ऐसे रण का निरीक्षण किया। यहाँ रण शब्द युद्ध का वाचक है जिसमें शत्रुओं को दूर करने का कार्य होता है और विशाल पौरुष-प्रयत्न से ही युद्ध में कार्य किया जाता है।

रणं कृधि रणकृत् सत्यशुभ्माभक्ते चिदा भजा राये अस्मान् । क्र० १०।१।२।१०

“सच्चा बल अपने में बढ़ाओ, कुशल योद्धा बनो और शत्रु से युद्ध करो। शत्रु का धन हमें मिले, ऐसा करो”। यहाँ कहा है ‘सत्य-शुभ्मा’ बनो, तथा ‘रण-कृत्’ योद्धा बनो। प्रथम अपने अन्दर सामर्थ्य बढ़ाना और जहाँ युद्ध करने की आवश्यकता हो वहाँ अत्यन्त कुशलता से युद्ध करना और शत्रु को विनष्ट करना। अर्थात् जहाँ युद्ध करना आवश्यक हो वहाँ प्रवश्य करना चाहिए।

यदाजिं प्रात्याजिकृदिन्द्रः स्वश्वयुरुप । रथीतमो रथीनाम् ॥ क्र० ८।४।५।७

“उत्तम धोड़ों को अपने रथों में जोड़ने वाला, रथी वीरों में श्रेष्ठ रथी, कुशल योद्धा वीर इन्द्र युद्ध में जाता है।” यहाँ प्रथम वीर की तैयारी बतायी है। उत्तम धोड़ अपने रथों में जोतता है, अपने घुड़सवारों के पास भी उत्तम धोड़ रखता है और वीरों में श्रेष्ठ वीर बनता है। वह स्वयं उत्तम युद्ध करना जानता है और पश्चात् स्वयं रणक्षेत्र में जाकर युद्ध करता है। अपनी तैयारी किए बिना ही युद्ध नहीं करना चाहिए, परन्तु अपनी उत्तम तैयारी करके युद्ध आवश्यक हो तो ऐसा युद्ध करना चाहिए कि शत्रु ठहर न सके।

आजितुरं सत्पर्ति विश्वचर्षणं कृधि प्रजास्वाभगम् । क्र० ८।५।३।६

“सज्जनों का रक्षण करने वाले, सब जनता का हित करने वाले और युद्ध में त्वरा से कार्य करने वाले वीर की प्रशंसा करो, वह हमें प्रजाओं में भाग्यवान् करे।”

यहाँ चार पद महत्वपूर्ण हैं। (प्रजासु आभगं) प्रजाजनों में भाग्यवान् बनना। हरएक चाहता है कि मैं सबसे अधिक भाग्यवान् बनूँ। ऐसा हरएक के मन में रहना स्वाभाविक है। पर कैसे बने, इस प्रश्न का उत्तर इस मन्त्र के आगे के तीन पदों में दिया है। यदि भाग्यवान् बनना है तो (सत्-पति:) सज्जनों का पालन करो। ‘परित्राणाय साधूना’ (गीता) सज्जनों का संरक्षण करना यह भाग्यवान् बनने का साधन है। दूसरा (विश्व-चर्षणः) सब मानवों के हित का कार्य करना, सार्वजनिक हित करना, जनता की सेवा करना। ये दो कार्य लोक-हित करने के लिए हैं और (आजि-तुरः) युद्ध करने के समय त्वरा से शत्रु के साथ लड़ना, शीघ्रता से शत्रु से युद्ध करना, उसमें शिथिलता न करना। इस प्रकार मनुष्य प्रजाजनों में भाग्यवान् होता है।

इन्द्रः समस्तु यजमानमार्यं प्रावद् विश्वेषु शतसूतिराजिषु स्वर्मीह्लेष्वाजिषु ।

मनवे शासदवतान् ॥ क्र० १।१।३।०।६

“इन्द्र युद्धों में श्रेष्ठ सज्जनों का रक्षण करता है। सब युद्धों में सैकड़ों प्रकार से संरक्षण करता है। अपनी शक्ति बढ़ाने वाले युद्धों में वह रक्षण करता है और मानवों का हित करने के लिए दुष्टाचार वाले शत्रुओं को दण्ड देता है।”

जगत् में युद्ध है ही नहीं, ऐसा मानता हानिकारक है। युद्ध में हम खड़े हैं, ऐसा समझकर

अपनी तैयारी करनी चाहिए। व्यक्ति का बल, अपना राष्ट्र-बल अर्थात् सेना, अपना मुद्र-कौशल ये सब सामर्थ्य उचित रूप से अपने पास होने चाहिए। तभी अपनी विजय हो सकती है।

इस तरह वैदिक राज्य व्यवस्था के अनुसार राष्ट्र को मुद्र करने के अवसर आते हैं, उस कार्य के लिए राष्ट्र की ओर सेना तैयार रहनी चाहिए और राष्ट्र में वीर पुरुष निर्माण करने चाहिए।

विषमता नहीं

प्रथम बात जो वैदिक समय की सेना में दीखती है वह सब सैनिकों की समानता है।

अज्येष्ठासो अकनिष्ठास उदिभदः अमध्यमासो महसा विवावधुः ।

मुजातासो जनुषा पृश्निमातरो दिवो मर्या आ नो अच्छा जिगातन ॥ क्र० ५।५१।६

अज्येष्ठासो अकनिष्ठास एते संभ्रातरो वावधुः सौभग्य । क्र० १।६०।५

“इनमें कोई श्रेष्ठ नहीं तथा कोई मध्यम नहीं है। अर्थात् ये सब समान हैं। ये अपनी शक्ति से बढ़ते हैं। ये जन्म से ही कुलीन हैं। ये भूमि को माता मानने वाले हैं अर्थात् मातृभूमि की सेवा करने वाले हैं। ये दिव्य नरवीर हैं। ये परस्पर भाई हैं, अपना भाग्य उत्तम बनाने के लिए मिलकर प्रयत्न करते हैं।”

इन मन्त्रों में सैनिकों की समानता के विषय में वर्णन है। सब सैनिक समान हैं ऐसा यदि न माना जाय, तो सैनिकों में ऊंचा-नीचा माना जाने से आपस में वैर होगा, वे आपस में ही ‘मेरे ऊंचा’ और ‘वह नीचा’ ऐसा बोलकर लड़ेंगे और उनसे शत्रु का पराभव करने का कार्य तो दूर, अपना ही नाश होगा।

इसलिए सब सैनिक समान हैं, वे जन्म से ही (जनुषा मुजातासः) उत्तम कुलीन हैं, उनमें जन्मजात उच्चता-नीचता नहीं है, वे (दिवः मर्याः) दिव्य नरवीर हैं। वे अपनी शक्ति से बढ़ते हैं। यह नियम कितना उत्तम है।

कैसे जवानों को भर्ती हो

ये शुभ्रा घोरवर्पसः सुक्षत्रासो रिशादसः ।

क्र० ८।१०।३।१४

सत्वानो घोरवर्पसः ।

क्र० १।६।४।२

सृगः न भीमाः ।

क्र० २।३।१।१

“जो भौंर वर्ण हैं, विशाल शरीर वाले हैं, जो उत्तम क्षात्र कर्म करने वाले, उत्तम संरक्षण करने वाले और शत्रु का नाश करने वाले हैं, जो बलवान् है और सिंह के समान भयंकर है, वे सेना में भर्ती होने योग्य हैं।”

यहां सुन्दर वर्ण, विशाल शरीर, सुरक्षा करने का कौशल, शत्रु का नाश करने का सामर्थ्य, शारीरिक बल और उत्तरा—ये गुण देखकर सेना में भरती करना चाहिए, ऐसा कहा है। प्रथम ये ही गुण देखे जा सकते हैं। अन्य गुण आगे सैनिक शिक्षा से प्राप्त हो सकते हैं और बढ़ाए भी जा सकते हैं। पर प्रथम सेना में भरती होने के लिए ये गुण तरुणों में अवश्य चाहिए।

अरुणप्सवः (क्र० ८।७।७)—अरुण अर्थात् लाल रंग जिनकी त्वचा पर शोभित है, ऐसे

तरुण सेना में भरती हों ! शरीर पर लाल रंग तब चमकता है जब शरीर में शुद्ध रक्त रहता है । ये ही तरुण वीर शत्रु के साथ उत्तम युद्ध कर सकते हैं । इन्हीं के अन्दर ओज और सत्त्व स्वभाव से रहता है ।

सेना में भरती होने योग्य तरुण वीर वे हैं जो अपने तेज से तेजस्वी रहते हैं ।

ये स्व-भानवः अजायन्त ।

ऋ० ११३७।२

स्वभानवः धन्वसु श्रायाः ।

ऋ० ५।५३।४

स्वभानवे वाचं प्रानन् ।

ऋ० ५।५४।१

“जो अपने तेज से चमकते हैं ।”

“अपने तेज से चमकने वाले वीर धनुषों का आश्रय करते हैं ।”

“जो अपने तेज से चमकता है उसकी प्रशंसा करो ।”

किसी तरुण को देखने से सहज ही पहचाना जाता है कि यह तरुण अपने तेज से चमकता है या नहीं । जो अपने चेहरे पर तेल-फुलेल लगाकर अपने आपको तेजस्वी बनाते हैं, उनकी भरती सैन्य में नहीं हो सकेगी । परन्तु जो (स्व-भानवः) अपने निजतेज से तेजस्वी दीखते हैं, अकृत्रिम रीति से सुडौल और आनंदी दीखते हैं, वसे तरुण ही सेना में भरती होने योग्य हैं ।

सैन्यावास

सैनिकों के रहन-सहन की व्यवस्था कैसी होती है यह भी देखने योग्य विषय है । ये एक घर में रहते हैं ।

१ समोकसः इषुं दधिरे ।

ऋ० १।६।४।१०

२ अरुक्षया सगणा मानुषासः ।

अथर्व० ७।७।७।३

३ वः उरु सदः कृतम् ।

ऋ० १।८।५।७

४ समानस्मात्सदसः उरुकमः निःचकमे ।

ऋ० ५।८।७।४

५ सनीला मर्याः स्वश्वाः नरः ।

ऋ० ७।५।६।१

६ सवयसः सनीला सामायाः ।

ऋ० १।६।५।१

यहां “(१) सं—ओकसः, (२) उरु—क्षयाः, (३) उरु सदः, (४) समानं सदः,” ये पद, इन सैनिकों का घर बड़ा विस्तीर्ण होता था, यह भाव बताते हैं । यूरोपियनों ने भारत में आने पर अपनी सेना की जो रचना की, उसमें उन्होंने सैनिकों को बड़े-बड़े मकानों में ही रखा था । एक-एक या दो-दो कमरों की पंक्ति जिसमें है ऐसे लंबे मकान, जिनको अंग्रेजी में ‘बैरक’ कहते हैं, सैनिकों के लिए अंग्रेजों ने बनाए थे ।

एक बड़े मकान में रहने से रहने वालों के अन्दर हम सब समान हैं, हममें बड़ा-छोटा कोई नहीं, यह भाव रहता है । इसलिए वैदिक समय के सैनिकों को एक बड़े मकान में रखा जाता था । अंग्रेज भी इसी हेतु सैनिकों को बड़े वैरकों में रखते थे । पर भारत के अर्वाचीन समय के राजा अपने सैनिकों को ऐसे बड़े मकानों में नहीं रखते थे । इन हिंदू राजाओं के राज्य में वेदपाठी पंडित थे, शास्त्री तथा विद्वान् भी थे; पर वेदपाठी वेद का अर्थ जानते नहीं थे और शास्त्री वेदमंत्रों को याद नहीं करते थे और राजा लोग वेद में क्या है, यह जानते नहीं थे । इस कारण हमारी सैनिकीय

विद्या वेद की वेद में रही। यूरोपियनों ने यहां सेना की रक्षा वेदानुकूल की, पर उस और किसी ने देखा भी नहीं। जिनके पास वेद नहीं थे वे वेद के अनुसार अपने सैनिकों को रखते थे, उससे सामर्थ्य प्राप्त करते थे और राज्य जीतते जाते थे। पर जिनके पास वेद थे वे अज्ञान के कारण कोरे के कोरे ही रहे और पराभूत होकर परतंत्र हो गए।

यह यहां इसलिए कहना पड़ा कि वेद की सैनिकीय शिक्षा सामर्थ्य बढ़ाने वाली थी। इसलिए यदि वेद का ज्ञान मानवी व्यवहार में आ जाता, तो यूरोपियनों द्वारा सहज ही में भारतीय सेनाओं का पराभूत न होता और भारत परतंत्र भी न होता। यह माना जा सकता है कि पराभूत के अन्य भी कारण थे। तथापि यह सैनिकीय तैयारी यदि वेद के कथनानुसार होती, तो हमारे पराभूत की कुछ न कुछ सीमा अवश्य होती।

ऊपर दिए मंत्रों में 'स-गणा:' पद है। अर्थात् गणों के साथ ये सैनिक अपने विशाल घरों में रहते हैं। गण उन सैनिकों का नाम है कि जिनका प्रवेश सेना में हुआ है।

इन मंत्रों में 'स्वश्वा: (सु-श्वश्वा:)' पद है—उत्तम घोड़े जिनके पास रहते हैं। अर्थात् घुड़-सवार सैनिक भी ऐसे ही बड़े विशाल मकानों में रहते थे। वैदिक समय में जैसे पदाति सैनिक होते थे, वैसे ही घुड़सवार भी होते थे, पैदलों के समान घुड़सवारों का भी रहन-सहन समान ही था। अर्थात् पैदल वीरों की रहने की शाला एक स्थान पर होती थी और घुड़सवारों की दूसरे स्थान पर होती थी। उनके घर पृथक् होते थे, और घोड़ों के स्थान भी पृथक् रहते थे। यहां हमें मालूम हुआ कि वैदिक समय में घुड़सवारों की सेना भी पृथक् थी।

सैनिक सज्जा—गणवेष

हम सैनिकों को जिस समय भी देखते हैं, उनके कोट, बूट, सूट, टोपी, बटन, शस्त्र-शस्त्र सब चमकते पाते हैं। ऐसा दीखता है कि ये सदा स्त्रियों के समान सजे-बजे ही रहते हैं। यही बात वेद मन्त्र में वर्णन की है—

प्र ये शुभ्मन्ते जनयो न सप्तयः मद्विति वीरा विद्येषु घृष्ण्यः । ऋ० १।८।१

(ये) ये वीर (जनयः न) स्त्रियों के समान (प्रशुभ्मन्ते) अपने आपको सुशोभित करते हैं। स्त्रियां जिस तरह सदा अपने आपको सजाकर रखती हैं, उस तरह ये वीर अपने आपको सदा सजाकर रखते हैं। सदा इन्हीं वेषभूषा का सभी सामान ठीक-ठाक और चमकदार तथा जैसे सुशोभित हो सकते हैं, वैसे ही होते हैं। किसी भी समय, किसी भी रीति से, किसी भी स्थान पर शोभारहित बस्तु उनके शरीर पर नहीं दीखती।

यज्ञवृशः न शुभ्यन्ते भयः । ऋ० ७।५६।१६

गोमातरः यत् शुभ्यन्ते अञ्जिभिः । ऋ० १।८।३

"यज्ञ देखने के लिए जिस समय लोग जाते हैं उस समय जैसे सजाकर सुन्दर हो जाते हैं, अपने शरीर को तथा अपनी पोशाक को सजाकर जाते हैं, उस तरह ये सैनिक वीर सजे-सजाए होने के कारण सुन्दर दीखते हैं। गौ को माता मानने वाले ये वीर अपने गणवेष से अपने आपको सुशोभित करते हैं।"

यहां 'अञ्जिज' पद 'गणवेष' का वाचक है। जो जिसका गणवेष होता है वह डालकर वह

बीर अपने काम पर या अपने स्थान पर खड़ा रहता है, इस कारण वह वहाँ बड़ा सुन्दर दीखता है।

हम सैनिक या पुलिस को सदा सजासजाया देखते हैं। इस कारण इसका प्रभाव जनता पर होता है। यह बात वैदिक समय के राजकतिशों ने जान ली थी।

ये जो बीर हैं वे 'मरुत्' के नाम से वर्णित हुए हैं। मरुत् का अर्थ है—

मरुतोऽमितराविणो वा अमितरोचनो वा महद् रवन्तीति वा । निरु० ११२०।१

कइयों की सम्मति से यास्काचार्य का यह वचन ऐसा है—

मरुतोऽमितराविणो वाऽमितरोचनो वा महद् द्रवन्तीति वा । निरु० १२२०।१

इसका भाव यह है—

१ मरुतः=मितराविणः= मितभाषी, अधिक बड़बड़ न करने वाले;

२ मरुतः=अमित-राविणः=बहुत भाषण करने वाले;

३ मरुतः=मितरोचनः=परिमित प्रकाश देने वाले;

४ मरुतः=अमित रोचनः=अपरिमित प्रकाश वाले;

५ मरुतः=महत्तद्रवन्ति=बड़ी गति से जो जाते हैं।

निश्चत्कार के इस वचन के ये दोनों प्रकार के अर्थ टीकाकार मानते हैं, इस कारण ये यहाँ दिये हैं। 'मरुत्' के और भी अर्थ हैं। वे अब देखिये—

१ मरुत्=(मा-रुद्)= न रोते वाले, युद्ध में न रोते हुए अपना कर्तव्य करने वाले ।

२ मरुत्=(मा-रुत्)= न बोलते वाले, कम बोलने वाले ।

३ मरुत्=(मर्त-रुत्)= मरने तक उठकर अपना कर्तव्य करने वाले ।

इस तरह अर्थ करके यह बताया है कि ये मरुद्वीर बहुत बड़बड़ नहीं करते, परन्तु चुप रहकर अपना कर्तव्य करते हैं। कभी रोते नहीं रहते, परन्तु तत्परता से अपना कर्तव्य करते हैं। मरने तक कार्य करते रहते हैं। आलस्य में कभी रोते नहीं रहते ।

वाशीमन्तोऽकृष्टिमन्तोऽमनीषिणः सुधन्वान् इषुमन्तो निषंगिणः ।

स्वश्वाः स्थ सुरथाः पृश्निमातरः स्वायुधा मरुतो याथना शुभम् ॥२॥

कृष्टयो वो मरुतो अंसयोरधि सह ओजो वाह्नोर्वो वलं हितम् ।

नृमणा शीर्षस्वायुधा रथेषु वो विश्वा वः श्रीरधि तनृषु पिपिशो ॥६॥ कृ० ५।५७

"(वाशीमन्तः) बछियाँ धारण करने वाले, (कृष्टिमन्तः) भाले बर्तने वाले, (सुधन्वानः) उत्तम धनुष धारण करने वाले, (इषुमन्तः) बाण पास रखने वाले, (निषंगिणः) तृणीर पास रखने वाले, (सु-रथाः) उत्तम रथ में बैठने वाले, (सु-अश्वाः) अपने पास उत्तम घोड़े रखने वाले, (पृश्निमातरः) मारुद्वीर की उपासना करने वाले आप बीर मन को अपने अधीन रखने वाले हैं। ये अपने मन को इधर-उधर भटकते नहीं देते। अच्छे कार्य में अपने मन को लगाते हैं। ऐसे तुम (शुभं याधन) शुभ कर्म करने के लिए आगे बढ़ो।"

'आपके (अंसयोः अधि) कन्धों पर (कृष्टयः) भाले हैं, (वः वाह्नोः) आपके बाहुओं में साहस, सामर्थ्य और बल है। आपके सिर पर साफे हैं।'

यहाँ 'नृमणा' पद 'साफा, मुकुट, अथवा (नृ-मणा) मनुष्यों का मन जिस पर आकर्षित होता है वह आभूषण, वस्त्र अथवा पहनने योग्य वस्तु' ऐसा भाव बताता है। 'नृमणा' का अर्थ 'हिरण्म-

यानि पदोप्णीषादीनि' यह अर्थं सायणाचार्य देते हैं। इसका अर्थ जरतारी का साफा है।

"रथों में शस्त्र या आयुध रखे हैं। समस्त शोभा इनके शरीरों में दीप्त है।" यह वर्णन सैनिकों का है। यूरोपियन सेना के सैनिकों के शस्त्रास्त्र भले ही दूसरे हों, पर उनके शरीर गणवेष धारण करने के पश्चात् ऐसे ही शोभित होते हैं, इसमें सन्देह नहीं है। ऐसे ही सैनिक वैदिक समय की सेना में थे, यह यहां द्रष्टव्य है—

समानमञ्जयेषां विभ्राजन्ते रुक्मासो अधि बाहृषु । विविष्टत्यृष्टयः ॥११॥

त उग्रासो वृषण उग्रबाहृतो नकिष्टनृषु येतिरे ।

स्थिरा धन्वान्यायुधा रथेषु बोझीकेषु अधिक्षियः ॥१२॥ अ० ८।२०

"इन सब सैनिकों के आभूषण समान हैं।" सब की वेषभूषा, सबका गणवेष समान है। यह महस्त्र का वर्णन यहां देखने योग्य है। जिनने सैनिक हों उन सबकी वेषभूषा समान होनी चाहिए। जो पोशाक, जो शस्त्र-अस्त्र एक के होंगे वे ही सबके होंगे। ऐसा होने को ही 'गणवेष धारण करना' कहते हैं। गणवेष सबका समान ही होता है।

बाहुओं पर चांद चमकते रहते हैं। वे भी सब सैनिकों के एक जैसे ही होते हैं। सबके भाले चमक रहे हैं।

वे उग्र दीखने वाले बलवान् वीर जिनके बाहु उग्र प्रभावी दीखते हैं, अपने शरीर के संबंध में कुछ भी विचार नहीं करते। अर्थात् युद्ध के समय या जनता की सेवा करने के समय अपने शरीर की पर्वाह न करके जन-सेवा का कार्य करते हैं। कहीं भी आग लगी तो अन्दर धुसरे हैं और किसी को बचाना हो तो उसको बचाते हैं।

आपके आयुध रथों में स्थिर रहते हैं। जहां जो शस्त्र रखना हो वह ठीक उसी स्थान पर रखा जाता है। कभी इधर-उधर नहीं रखा जाता। इतनी व्यवस्था तथा अनुशासन इनके शस्त्रास्त्र रखने के कार्य में रहता है। रात में या अन्धेरे में भी वहां से कोई शस्त्र लाना हो तो वहां से ये ला सकते हैं क्योंकि प्रत्येक शस्त्र का स्थान नियत है और वह अपने स्थान पर ही रखा जाता है। सैनिकों की हर एक कार्यवाही में यह अनुशासन अत्यन्त आवश्यक है। सेना का सामर्थ्य इस अनुशासन से बढ़ता है।

यहां कहा है—'रथों में स्थिर धनुष हैं।' अर्थात् दो प्रकार के धनुष होते हैं। एक स्थिर धनुष रथ के स्तम्भ के साथ लगे रहते हैं। ये धनुष बड़े होते हैं। इनसे छूटा हुआ बाण बहुत दूर जाता है। दूसरे धनुष हाथ में पकड़कर चलाए जाते हैं। ये धनुष छोटे होते हैं। ये धनुष हाथ में लेकर जिधर चाहिए उधर जाकर शत्रु पर चलाए जाते हैं। स्थिर धनुष अपने स्थान से हिलाए नहीं जाते। परन्तु चल-धनुष को हाथ में पकड़कर जहां चाहिए वहां ले जा सकते हैं। वीरों के लिए इन दोनों धनुषों की आवश्यकता रहती है।

युवानो रुद्रा अजरा अभोधना ववक्षु अधिगावः पर्वता इव ।

वृद्धा चित्तिश्वा भुवननि पार्थिवा प्रच्यावयन्ति दिव्यानि मज्जना ॥३॥

चित्रैरजिभिर्वपुषे व्यंजते वक्षःसु रुक्मां अधि येतिरे शुभे ।

अंसेष्वेषां नि मिमिक्षु ऋष्टयः साकं जन्मिरे स्वधया दिवो नरः ॥४॥

ये तरुण वीर शत्रु को रुलाने वाले, जरारहित, अनुदार शत्रु का वध करने वाले, अप्रतिहत गति, पर्वतों के समान स्थिर रहते हैं; जनता को सुखी करने की इच्छा रखते हैं। अपने सामर्थ्य से स्थिर पृथ्वी पर तथा आकाश में सब भुवनों को भी हिला देते हैं।

ये वीर चित्र-चित्र भूषणों से अपने शरीर को सुशोभित करते हैं। शरीर की शोभा बढ़ाने के लिए वक्षःस्थल पर चांद धारण करते हैं। इनके कन्धों पर भले चमकते रहते हैं। ये नेता वीर अपनी धारण-शक्ति के साथ चुलोक से प्रकट हुए, ऐसा प्रतीत होता है।

सैन्य-रचना

अब देखना है कि उस सेना की रचना कैसी होती थी और उसको कैसी शिक्षा दी जाती थी।

इस विषय में ये वचन दर्शनीय हैं—

गणशो हि मरुतः

ताण्ड्य ब्रा० १६१४१२

मरुतो गणानां पतयः ।

तै० आ० ३११४१२

“ये मरुत् वीर गणशः रहते हैं, ये मरुत् गणों के पति हैं।” इस तरह वीर मरुतों का वर्णन गण के साथ होता है। नियत संख्या में जहाँ लोग रहते हैं उनको गण कहते हैं। इनकी संख्या सात नियत की गई है।

सप्त हि मरुतो गणाः ।

श० ब्रा० ५४१३१७

सप्त गणा वै मरुतः ।

तै० ब्रा० १६१२१३

सप्त सप्त हि मारुता गणाः ।

वा० यजु० १७।८०-८५;

३६७; श० ब्रा० ६।३।१२५

मरुतों का गण अर्थात् संघ सात का होता है। एक कतार में सात सैनिक होते हैं। इनको जब उपहार दिया जाता है, सात कटोरियों में ही दिया जाता है—

मारुतः सप्तकपालः (पुरोडाशः) ।

ताण्ड्य ब्रा० २१।१०।२३; श० ब्रा० २।५।१।१२; ५।३।१।६

एक-एक वीर एक-एक कटोरी लेता है और अपना पुरोडाश लेकर खाता है।

शृणवत् सुदानवः त्रिसप्तासः मरुतः स्वादुसंमुदः ।

अथर्व० १३।१।३

सप्त मे सप्त शाकिनः ।

ऋ० ५।५।२।१७

प्र ये शुभ्मन्ते जनयो न सप्तयः ।

ऋ० १।८।५।१

आ चो वहन्तु सप्तयः रघुव्यदः ।

ऋ० १।८।५।६

भेषजस्य वहत सुदानवः यूयं सखायः सप्तयः ।

ऋ० ८।२०।२३

“(सु-दानवः) उत्तम दान देने वाले (त्रि-सप्तासः) तीन गुणा सात अर्थात् इक्कीस मरुत् वीर (स्वादु-संमुदः) प्रेम से मीठा बत्ताव करने वाले हमारी बात सुनें। सात गुणा सात अर्थात् उनचास वीर (शाकिनः) बड़े सामर्थ्यवान् हैं। ये (सप्तयः) सात-सात की कतार में रहने वाले वीर (जनयः न शुभ्मन्ते) स्त्रियों के समान शोभते हैं। (रघुव्यदः सप्तयः) शीघ्र गति से जाने वाले ये वीर आपको ले जाएं। (सप्तयः) सात-सात की कतारों में रहने वाले (सखायः) परस्पर उत्तम

मित्र (भेषजस्य वहत) श्रीषंघ को आपके पास पहुंचा देवे ।"

इन मंत्रों में 'सप्त, सप्ति, सप्तयः' ये पद हैं। ये यह भाव बता रहे हैं कि ये बीर सात की पंक्ति बनाकर आते-जाते और धूमते हैं। शत्रु पर हमला करने के समय में भी ये प्रायः सात-सात की पंक्ति में जाते हैं। ये बीर मरते हैं। ये (मा-रुद) रोते नहीं, परंतु (मर्-उत्) मरने तक उठकर अपना कर्तव्य पालन करते हैं।

प्रजा में से भर्ती

ये मरुत प्रजा में से आए वीर हैं अतः इनका वर्णन इस तरह भिलता है—

मरुतो ह वै देवविशः ।

कौ० ब्रा० ७१५

विशो वै मरुतो देवविशः ।

तां० ज्ञा० १६

मरुतो वै देवानां विशः ।

ऐ० बा० २१६

देवानां भृतो विट् ।

मा० ४।५।३।१६

विट वै मरुतः ।

तै९ आ९ १८।३।३

विशो मरुतः ।

श० ब्रा० स॑५।२६

कीलाशा आसन मरु

ପ୍ରକାଶିତ

मरुतो वै क्रीडिनः ।

श० ब्रा० ३।५।३।२०

इन्द्रस्य दै मरुतः क्रीडिनः ।

ग्रौ० आ० १२३

"मरुत् वीर देवों के प्रजाजन हैं। ये प्रजाजन हैं पर दिव्य प्रजाजन हैं। प्रजाजन ही मरुत् वीर हैं। किसान ही ये मरुत् वीर हैं, पर वे उत्तम दात देने वाले हैं। मरुत् वीर उत्तम खिलाड़ी हैं। इन्द्र के साथ खेलने वाले ये मरुत् वीर हैं।"

इन वचनों में यह कहा है कि मरुत् वीर सैनिक हैं। वे दिव्य प्रजाजन हैं और (कीनाशः) किसान हैं। जिनका नाश नहीं होता है वे की-नाश हैं। जो अच्छा किसान है, भूमि को कसने वाला है, उसका नाश नहीं होता।

सैनिक प्रजाजनों में से ही बनते हैं, किसानों से ही बनते हैं। वे ही सैनिकीय प्रशिक्षण मिलने पर बड़े लड़ाकू वीर सैनिक बन जाते हैं। आज भी ऐसा ही हो रहा है और सदा ऐसा ही होता रहेगा। वे ही राष्ट्र की रक्खा करने के लिए युद्ध में लड़ते हैं।

इन सैनिकों की एक-एक पंचित ७१७ की होती है। 'सप्त, त्रिःसप्त, सप्त सप्त'—सात, तीन गुणा सात और सात गुणा सात यह इनकी गिनती है। इससे सेना की रचना ऐसी होती है—

(पाश्वरक्षक) ←— सैनिक —→ (पाश्वरक्षक)

* * * * *

सात-सात सैनिकों की सात पंक्तियां बनकर $7 \times 7 = 49$ का एक गण बनता है। इनके दोनों बाजू में एक-एक पाश्वरक रक्षक होता था। सात पंक्तियों में एक-एक रक्षक रहा तो वे $7 \times 2 = 14$ पाश्वरक होते हैं अर्थात् $49 + 14 = 63$ हुए। ऋग्वेद में कहा है—

त्रिः पृष्ठिः त्वा महतो वावृथानाः ।

ऋ० ८।६।८

“तीन और साठ मरुत् वीर तुभे बढ़ाते हैं।”

इस मंत्र पर सायणभाष्य ऐसा है—

“त्रिः त्रयः पृष्ठिद्युतर-संख्याकाः मरुतः । ते च तंत्रिरीयके ईदृढ् चान्यादृढ् च । (तै० सं० ४।६। ५।५) इत्यादिना नवमु गणेषु सत्त सप्त प्रतिपादिताः । तत्रादितः सप्तगणाः संहितायामान्नायन्ते ‘स्वतवांश्च प्रधासी च सान्तपनश्च गृहमेधी च क्रीडी च शाकी चोज्जेषी’ (वा० सं० १।७।७।५) इति, खंतिकः पृष्ठो गणः । ततो ‘धुनिश्च ध्वान्तश्च’ (तै० आ० ४।२।४) इत्याद्यास्त्रयो-उरण्येऽनुवाद्याः । इत्यं त्रयः पृष्ठिसंख्याकाः ।”

वा० यजु० आ० १७ मंत्र ८० से ८५ तक के मंत्रों में तथा ३।६।७ में तथा तै० सं० ४।६। ५।५; तै० आ० ४।२।४ इनमें इन मरुतों के ये गुणबोधक नाम दिए हैं—

मरुत् सैनिकों के नाम

१	२	३	४	५	६	७
१ शुक्रज्योतिः	चित्रज्योतिः	सत्यज्योतिः	ज्योतिष्मान्	शुक्रः	कृतपः	अत्यंहः
२ ईदृढ्	अन्यादृढ्	संदृढ्	प्रतिसंदृढ्	मितः	संमितः	सभरस्
३ कृतः	सत्यः	ध्रुवः	धरुणः	धर्ता	विधर्ता	विधारयः
४ कृतजित्	सत्यजित्	सेनजित्	सुषेणः	अन्तिमित्रः दूरेमित्रः	गणः	
५ ईदृक्षासः	एतादृक्षासः	सदृक्षासः	प्रतिसदृक्षासः	सुमितासः	संमितासः	सभरसः
६ स्वतवान्	प्रवासी	सांतपनः	गृहमेधी	क्रीडी	शाकी	उज्जेषी
७ उत्रः	भीमः	ध्वान्तः	धुनिः	सासह्वान्	अभियुग्मा	विक्षिपः

ये ४९ हैं। इनमें (तै० आ० ४।२।४ में अधिक दिए) १४ मिलाने से ६३ होते हैं—

१ ध्वन्	ध्वनयन्	निलिम्पः	विलिम्पः	सहस्र्हान्	सहमान्	सहस्वान्
२ सहीयान्	एत्यः	प्रेत्यः	ध्वान्तः	मितः	ध्वनः	धरणः

ये ६३ नाम गुण-कर्मों से दिए गए हैं। ये एक गण में रहने वाले वीरों के नाम हैं। इनमें कुछ और भी होंगे, अथवा इनमें भी कई पुनरुक्त होंगे। सैनिकीय परिभाषा के अनुसार इनके ठीक-ठीक अर्थ क्या हैं, इसका निश्चय करना आज बड़ा कठिन है, क्योंकि वह सैनिकीय परिभाषा आज नहीं रही और ये मंत्र यज्ञप्रक्रिया में किसी न किसी तरह लगा दिए गए हैं। इसलिए यह कार्य विद्वानों और भविष्य पर ही छोड़ना होगा।

एक गण के ये ६३ सैनिक वीर पृथक्-पृथक् कार्य करने वाले हैं, इसमें संदेह नहीं है। इस तरह एक सेनाविभाग में आवश्यक सैनिकीय कार्यों को करने वाले जितने चाहिए उतने सैनिक उस सघ में रखे जाते थे, अर्थात् प्रत्येक सेनाविभाग अपना कार्य निभाने की उपलब्धि से स्वयं पूर्ण रहता था।

सेना के विभाग

सैन्य के छोटे और बड़े विभाग हैं, पर वे सब ७ की संख्या में विभाजित होते हैं। शर्ष, ब्रात और गण ये तीन विभाग मुख्य हैं।

शर्ष शर्ष व एषां ब्रातं ब्रातं गणं गणं मुशस्तिभिः ।

अनुकामेम धीतिभिः ॥

ऋ० ५।५।३।११

“इन तुम्हारे प्रत्येक सेनापथक के साथ, सेनासूह के साथ और सैन्यनगण के साथ उत्तम अनुशासन की धारणा के साथ हम अनुक्रम से चलते हैं।”

यहां शर्ष, ब्रात और गण इन सेना विभागों का उल्लेख है और ये अनुशासन-शीलता के साथ अनुसरणीय हैं, ऐसा कहा है।

अक्षीहिणी सेनाओं के नाम तथा उनकी संख्या इस प्रकार है—

	गजरथ	अश्व	पदाति
१ पत्ति	१	३	५
२ सेनामुख	३	६	१५
३ गुल्म	६	२७	४५
४ गण	२७	८१	१३५
५ वाहिनी	८१	२४३	४०५
६ पृतना	२४३	७२६	१२१५
७ चमू	७२६	२१८७	३६४५
८ अनीकिनी	२१८७	६५६१	१०६३५
९ अक्षीहिणी	२१८७०	६५६१०	१०६३५०

पत्ति से अनीकिनी तक तीन-तीन गुणा सेनासूह है, अनीकिनी से दस गुणा अक्षीहिणी है। २१८७० रथ, २१८७० हाथी, ६५६१० घोड़े और १०६३५० पदाति सेना मिलाकर एक अक्षीहिणी सेना होती है। इसके अतिरिक्त रथ, हाथी, घोड़ों के साथ कई मनुष्य और होते हैं। इस संख्या में किसी-किसी की सम्मति से न्यूनाधिक भी होता है।

मरुत् वीरों की संख्या ७ के अनुपात से होती है। ७×७=४९ साधारण संघण संख्या। इसमें पाश्वरक १४ मिलाने से यह संख्या ६३ होती है। ६३×७=४४१ और ४४१×४४=२४०१, ६३×६३=४६६६ ऐसी संख्या इनके सैनिकों की होती है। इस तरह संख्या बढ़ती है। शर्ष, ब्रात और गण इनकी संख्या कोन-सी है यह मन्त्रों के प्रमाण से निश्चित करना इस समय कठिन है। तथापि वह ७ के अनुपात से रहेगी, यह निश्चित है।

इस सेना की गति अव्याहत होती है, इस विषय में एक मंत्र देखिए—

न पर्वता न नद्यो वरन्त चो यत्राचिधं मरुतो गच्छयेदु तत् ।

उत द्यावापृथिवी यायना परि शुभं यातामनु रथा अवृत्सत ॥ ऋ० ५।५५।७

“हे मरुद्वीरो ! न पर्वत और न नदियां तुम्हारे मार्ग को अवरुद्ध कर सकती हैं, जहां जाना चाहते हो वहां तुम पहुंचते ही हो। तुम द्यावापृथिवी के ऊपर जहां चाहे वहां जाते हो, शुभ स्थान को जाने के समय आपके रथ आगे ही बढ़ते हैं, उन्हें कोई नहीं रोक सकता।”

इन सैनिकों को जहां जाने की इच्छा हो, जहां जाने की आवश्यकता हो, वहां वे जाते हैं। बीच में पर्वत आ गया, नदी आ गयी, तालाब आ गया, तो इनका मार्ग रुकता नहीं। उस प्रतिबंध को दूर करके सेना को वहां पहुँचना ही चाहिए।

ऐसी सेना की गति होगी, तभी तो सेना वहां जाएगी और विजय प्राप्त करेगी। अपनी सेना की ऐसी निष्प्रतिबंध गति हो ऐसा प्रबन्ध करना चाहिए।

चार प्रकार के मार्ग

सैनिकों के चार प्रकार के मार्गों का वर्णन निम्नलिखित मंत्रों में है—

आपथयो वियथयोऽन्तस्थाः अनुपथाः ।

एतेभिर्महां नामभिः यज्ञं विष्टार श्रोहते ॥१०॥

य ऋष्वा ऋष्टिं विद्युतः कवयः सन्ति वेघसः ।

तमृष्ये मारुतं गणं नमस्या समया गिरा ॥१३॥

सप्त ते सप्ता शाकिन एकमेका शता वदुः ।

यमूनायामधि श्रुतं उद्ग्राधो गवयं मृजे निराषो अवश्यं मृजे ॥१७॥ कृ० ५।५२

“सीधे मार्ग से, विश्व या प्रतिकूल मार्ग से तथा अन्दर के गुप्त मार्ग से या विवर के गुप्त मार्ग से, और सबके लिए अनुकूल मार्ग से इन प्रसिद्ध मार्गों से जाने वाले यज्ञ के पास पहुँचते हैं।”

“जो दर्शनीय शस्त्रों के तेज से प्रकाशिन हुए जानी और विदान हैं, उन मरुदीरों के गणों को नम्रवाणी से आनंदित करो।”

‘वे सामर्थ्यशाली सात-सातों के संघ एक-एक को सौ-सौ दान देते रहे। नदी के तीर पर सुप्रसिद्ध गोधन दान में दिया, अश्व-घन भी दिया।’

ये दीर इन चारों मार्गों से जाते हैं और किसी भी मार्ग से इनकी गति अवश्व नहीं होती। इनमें ‘अन्तः पथा’ अन्दर के गुप्त विवर मार्ग का जो उल्लेख है वह विशेष रूप से द्रष्टव्य है। यह मार्ग बनाना भी कठिन है, सुरक्षित रखना भी कठिन है और इस मार्ग से जाना भी कठिन है। जनता का संरक्षण करने के लिए इन्हें ऐसे मार्गों से जाना होता है। ये जाते हैं और विजयी होते हैं।

महतों के रथ

ये मरुदीर पैदल चलते हैं और रथों में बैठकर भी जाते हैं। इस विषय में निम्न मंत्र देखने योग्य हैं—

मरुतां रथे शुभे शार्दूः अभि प्र गायत ।

कृ० १।३।७।१

“उत्तम रथ में सुशोभित उनका सांधिक बल प्रशंसा करने योग्य है।” और देखिए—

एषां रथाः स्थिराः सुसंस्कृताः ।

कृ० १।३।८।१२

वृषभश्वेन वृषप्सुना वृषनाभिना रथेन आगतं ।

कृ० ८।२।०।१०

बन्धुरेषु रथेषु वः आ तस्यो ।

कृ० १।६।४।९

विद्युन्मदिभः स्वकैः ऋषिष्टमदिभः अश्वपर्णः रथेभिः आ यातं ।

कृ० १।८।८।१

वः रथेषु विश्वा भद्रा ।
 वः अक्षः चक्रा समया वि विवृते ।
 मष्टो रथेषु अश्वान् आ पूज्यते ।
 रथेषु तस्थुषः एतान् कथा पथुः ।
 पूज्याकं रथान् अनु दधे ।
 शुर्ग यातां रथा अनु अवृत्सत ॥

ऋ० ११५६१६
 ऋ० ११६६१६
 ऋ० २१३४१८
 ऋ० ५१५३१२
 ऋ० ५१५३१५
 ऋ० ५१५५११

“(एषां रथाः) इन वीरों के रथ (स्थिराः) स्थिर हैं, अर्थात् सुड़ङ हैं और (सुसंस्कृताः) उत्तम संस्कारों से युक्त हैं। इनमें बैठ कर युद्ध करने का स्थान जैसा चाहिए वैसा कारीगरों ने बनाया है।”

“(वृषणश्वेन) बलवान् घोड़े जिनके रथों को जोतते हैं, (वृषप्सुना) बलवान् बंधन जिनमें लगे हैं और (वृषनाभिना) बलवान् रथ-नाभि जिनमें लगी है, ऐसे रथों से ये जाते हैं। रथ दो प्रकार के होते हैं। एक में वनी लोग बैठकर इधर-उधर जाते हैं। ये रथ साधारणतः मजबूत होते हैं। दूसरे रथ सैनिकीय रथ होते हैं। ये रथ अधिक दृढ़ होते हैं। गङ्गाओं और ऊचे-नीचे स्थान से जाने तथा युद्धस्पर्ध में टिकने योग्य विशेष मजबूत ये रथ होते हैं। युद्ध के इन रथों में घोड़े भी विशेष मजबूत जोते जाते थे। ‘मिलिटरी कार’ आजकल होती है और सादी गाड़ियाँ भी होती हैं। इन दोनों में जो फरक है वह बताने के लिए ‘वृषणश्व, वृषप्सु, वृषनाभि’ ये शब्द यहां प्रयुक्त हुए हैं।

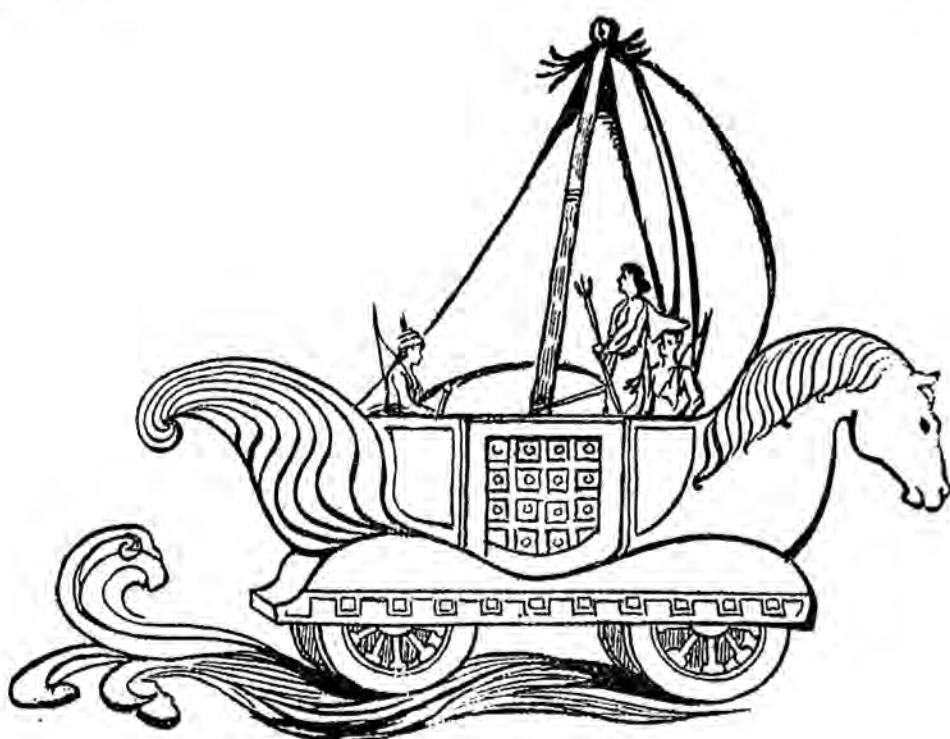
(विद्युन्मदिभः) विजली के समान तेजस्वी (स्वकैः) प्रदीप्त (ऋष्टिमदिभः) भाले जिनमें हैं और (अश्वपर्णः) अश्वों की गति के समान जिनकी गति है, ऐसे रथों से ये वीर आते हैं। यहां ‘विद्युन्मदिभः’ इस पद से रथ विजली के समान चमक रहे हैं, यह भाव प्रकट हो रहा है। ये अत्यन्त तेजस्वी रथ थे। ‘स्वकैः’ (सु-अकैः) उत्तम कान्ति वाले, जिनकी चमक-दमक खूब अच्छी है, यह भाव इस पद में है। ‘ऋष्टिमदिभः’ इस पद से इनके रथों में अस्त्र-शस्त्र भरपूर रहते थे, यह भाव प्रकट हो रहा है।

अश्वपर्ण रथ

इस मंत्र में ‘अश्व-पर्णः’ यह पद विचार करने योग्य है। अश्व के स्थान पर ‘पर्ण’ जिन पर रखा है ऐसा इसका अर्थ है। सामान्यतया रथ में अश्व अर्थात् घोड़े जोते जाते हैं। पर इनके रथ को खींचने के लिए ‘पर्ण’ जोड़े होते हैं। ‘पर्ण’ वह होता है जो जहाज पर लगाया जाता है और जिसमें हवा भरने से जहाज चलता है अर्थात् पाल। रथ भी ऐसे होते हैं जो बड़े विस्तीर्ण बालुकामय प्रदेश में कपड़े के पर्णों से चलते हैं। जहाज के समान रथों पर ये लगाए जाते हैं इनमें हवा भरती है और उसके बेग से ये रथ चलते हैं।

सहारा, राजपूताना के बालू के प्रदेशों में ऐसे रथ चल सकते हैं। अन्य भूमि पर नहीं चलते। क्योंकि विस्तीर्ण बालू प्रदेश में वैसे ही हवा चलती है जैसे समुद्र में चलती है और कपड़े में हवा भरने से रथ को बेग भी मिलता है।

(वः रथेषु विश्वा भद्रा) आपके रथों में सब प्रकार के कल्याण करने वाले पदार्थ भरे रहते हैं। (अक्षः चक्रा) आंख और चक्र (समया विवृते) योग्य समय पर फिरने लगते हैं। ये वीर



अश्वपर्ण रथ

(शुभं यातां रथाः अनु अवृत्सत) शुभ कार्य करने के लिए जाते हैं, इसलिए इनके रथों के पीछे-पीछे लोग भी जाते हैं।"

ऐसे इन वीरों के रथ हैं। इनके रथ अनेक प्रकार के होते हैं। उनमें हिरण जुड़ते वाले रथ भी थे। देखिए—

हिरण रथ

इन वीरों के रथों में हिरणियां तथा हिरणों में से बड़े हिरण जोड़े जाते थे। इस विषय में ये मंत्र देखने योग्य हैं—

ये पृष्ठतीभिः श्रजायन्त ।

ऋ० ११३७।२

रथेषु पृष्ठतीः श्रयुग्ध्वम् ।

ऋ० ११३८।६

एषां रथे पृष्ठतीः ।

ऋ० ११८।५; ८।७।२८

रथेषु पृष्ठतीः श्रयुग्ध्वम् ।

ऋ० ११८।५।४

पृष्ठतीभिः पृक्षंयाथ ।

ऋ० २।३।४।३

संभिशला पृष्ठतीः श्रयुक्षत ।

ऋ० ३।२।६।४

रोहितः प्रष्टिः वहति ।

ऋ० १।३।६।६

'पृष्ठी' का अर्थ है 'बब्बों वाली हिरनियाँ' और 'रोहितः प्रविष्टः' का अर्थ है 'बड़े सोंग वाला विशाल हिरन', इन दोनों को रथों के साथ जोता जाता था, ऐसा इन मंत्रों को देखने से पता चलता है।

हिरन की गाड़ियाँ बर्फीली भूमि पर ही चलती हैं। ऊंची-नीची जमीन पर वे नहीं चल सकतीं। इन गाड़ियों में चक्र नहीं होते, इस विषय में यह मंत्र देखिए—

सुषोमे शर्यणावति आर्जीके पस्त्यावति । यदुः निचक्या नरः ॥ क्र० ८।७।२६

(सु-सोमे) जहाँ उत्तम सोम होता है, वहाँ शर्यणा नदी के समीप, आर्जीक के समीप चक्र-रहित रथ से ये बीर जाते हैं।

जहाँ उत्तम से उत्तम सोम होता है, वह स्थान १६००० फुट की ऊंचाई पर होता है। यहाँ 'सु-सोम' पद है। उत्तम सोम जहाँ होता है, वहाँ ये बीर (नि-चक्या) चक्ररहित गाड़ी से (यदुः) जाते हैं। इतनी ऊंचाई पर बर्फ होती है। ऐसे बर्फीले प्रदेश में ये बीर हिरनियाँ और हिरन जोड़ी हुई चक्रहीन गाड़ियों से जाते हैं।

आज भी बर्फीले प्रदेश में चक्रहीन रथ का, जिन्हें अंग्रेजी में 'स्लेज' (Sledge) कहते हैं, उपयोग होता है। इनमें हिरनियाँ तथा बड़े हिरन जोते जाते हैं। ये रथ जल्दी जाते हैं और चक्र न होने के कारण बर्फ पर से फिसलते हुए चलते हैं।

अब इन बीरों के 'अश्वरहित रथ' का वर्णन देखिए—



अश्वरहित रथ

अश्वरहित रथ

मरुत् बीरों का और भी एक रथ है, वह अश्वरहित है। देखिए इसका वर्णन यह है—
अनेनो वो मरुतो यामोऽस्तु अनश्वरहित यमजत्परथीः ।

अनश्वसो अनभिशू रजस्तूः वि रोवसी पञ्चा याति साधन् ॥ क्र० ३।६६।७

"हे वीरो ! आपका यह रथ (अन्-एनः) बिलकुल निर्दोष है (अन्-अश्वः) घोड़ों के बिना ही यह रथ (अजति) दौड़ता है, वेग से जाता है। (अ-रथीः) उत्तम रथी वीर इसमें न हों तो भी यह चलता है। उत्तम सारथी न होने पर भी यह वेग से चलता है। (अन्-अवसः) इसे दूसरे पृष्ठ रक्षक की आवश्यकता नहीं है। (अन्-अभीशुः) इसे चलाने के लिए चाबुक की आवश्यकता नहीं है।" घोड़े अथवा हिरन जोते रहने पर चाबुक की आवश्यकता रहती है। पर जहाँ ये पशु नहीं, और यन्त्र से रथ चलाया जाता हो, उसके लिए चाबुक की आवश्यकता नहीं रहेगी।

(अन्-अवसः) अवस् रक्षक का नाम है। यह रथ वेग से चलने के कारण स्वयं अपना रक्षण करता है। दूसरे रक्षक की आवश्यकता नहीं रहती।

(रजस्-तूः) घूलि उड़ाता हुआ (पथ्या साधन् याति) मार्ग को साधता हुआ अर्थात् इधर-उधर न जाता हुआ, सीधा मार्ग तय करके यह रथ चलता है।

आकाशयान

ऐसा प्रतीत होता है कि उस समय आकाशयान भी थे। इस विषय के मन्त्र ये हैं—
ते भ अद्वृद्य आययुः उप द्युभिर्विभिर्मवे ।

नरो मर्या अरेपसः इमान् पश्यन्ति तिष्ठद्विः ॥ ऋ० ५।५३।३

'वे (अरेपसः मर्या: नरः) हे निष्पाप वीर (मे) मेरे पास (द्युभिः विभिः उप आययुः) तेजस्वी पक्षी सदृश यानों से आकर (आहुः) कहने लगे कि (इमान् स्तुहि) इन वीरों की प्रशंसा करो।'

यहाँ 'द्युभिः विभिः' पद है। तेजस्वी पक्षी ऐसा इसका अर्थ है। पक्षी के आकार के तेजस्वी विमान, ऐसा भी इसका अर्थ हो सकता है। 'द्युभिः विभिः उप आययुः' तेजस्वी पक्षियों से समीप आ गये। यह इसका सरल अर्थ है। पर पक्षियों से समीप आना कैसे हो सकता है। इसलिए पक्षी के आकार वाले विमान से आना संभव है। तथा—

वयः इव महतः केनचित् पथा । ऋ० १।८।१२

'ये महत् वीर (वयः इव) पक्षियों के समान (केन चिद् पथा) किसी भी मार्ग से आते हैं। किसी भी मार्ग से पक्षियों के समान आने का वर्णन यहाँ है। तथा—

आ विद्युन्मद्भिः महतः स्वकैः रथेभिः यात् ऋषिमद्भिरश्वपर्णः ।

आ वर्षिष्ठया न इषा वयः न पष्टत सुमायाः ॥ ऋ० १।८।१

(विद्युन्मद्भिः) विजली के समान तेजस्वी और (स्वकैः) चमकीले तथा (ऋषिमद्भिः अश्वपर्णः) शस्त्रों से युक्त और अश्वों के स्थान पर जहाँ पर्ण लगे हैं ऐसे रथों से (आयात) आओ। हे (सुमायाः) उत्तम कुशल वीरो ! (वयः न पष्टत) पक्षियों के समान आओ।

वयो न ये श्रेणीः पष्टुरोजसा अन्तान् दिवो वृहतः सामुनस्परि ।

अश्वास एषामुभये यथा विदुः सं पर्वतस्य नभनूरच्छपवुः ॥ ऋ० ५।५।३

"हे वीर (वयः न) पक्षियों के समान (श्रेणीः) श्रेणियां बांधकर (ओजसा) वेग से (दिवः अन्तान्) आकाश के अन्त तक तथा (वृहतः सामुनः परि) वडे-वडे पर्वतों के शिखरों पर (परि पष्टतु) उड़ते हैं, पहुंचते हैं। इनके (अश्वासः) घोड़े पर्वतों के ढुकड़ करके वहाँ से (प्र अच्छपवुः)

जल को नीचे गिराते हैं।”

इस मंत्र में वर्णित आकाश के अन्त तक पक्षियों के समान श्रेणियाँ बनाना और उड़ना तथा पर्वतों के शिखरों पर पहुंचकर शिखरों को तोड़ना—यह विमानों के बिना नहीं हो सकता। आकाश में पक्षी पंक्तियाँ बांधकर घूमते हैं, वैसे ही ये बीर पंक्तियाँ बनाकर विमानों में बैठकर, आकाश के अन्त तक भ्रमण करते हैं। विमानों की श्रेणियों से ही यह वर्णन सार्थक हो सकता है।

इस तरह विमान भी इन बीरों के पास थे, ऐसा हम कह सकते हैं। पक्षियों के समान आकाश में पंक्तियाँ बांधकर भ्रमण करना हो तो अनेक विमान उनके पास चाहिएं, इसमें संदेह नहीं है। यदि यह वर्णन सत्य है तो मरुष्टीरों के पास विमान थे और वे आकाश में श्रेणियों से घूमते थे। इस विषय में और प्रमाण हैं जो यहाँ दृष्टव्य हैं—

यत् अक्षतून् विः अहानि विः अन्तरिक्षं विः रजांसि विः अजयः यथा नाथः दुर्गाणि विः

मरुतो न रिष्यथ ।

ऋ० ५।५४।४

“जब रात्रि के समय तथा दिन के समय, अन्तरिक्ष में से तथा (रजांसि) रजोलोक में से नौकाओं के समान तुम जाते हो, तब छठिन प्रदेश को पार करते हो, पर यकते नहीं हो।”

यहाँ आकाश में, अन्तरिक्ष में, दिन में तथा रात में मरुतों के भ्रमण करने का स्पष्ट उल्लेख है। जिस तरह नौका से समुद्र पार करते हैं, उस तरह ये आकाश और अन्तरिक्ष पार करते हैं, यह उल्लेख स्पष्ट है। तथा—

उत् अन्तरिक्षं भविते व्योजसा ।

ऋ० ५।५५।२

“(ओजसा) अपनी शक्ति से अन्तरिक्ष को धेरते हो।” यहाँ अन्तरिक्ष को धेरना स्पष्ट लिखा है। तथा—

आ यत् मरुतो विव आ अन्तरिक्षात् अमात् उतः ।

ऋ० ८।७।३५

“अन्तरिक्ष से (पततः) उड़ने वालों के वाहन (अकणायावानः) आंख की गति से उड़ा ले जाते हैं।” अन्तरिक्ष से उड़ने वाले वाहन शीघ्र गति से जाते हैं। और देखिए—

आ यात् मरुतो विव आ अन्तरिक्षात् अमात् उत ।

ऋ० ५।५३।८

“हे मरुष्टीरो ! आकाश से अपरिमित अन्तरिक्ष से इधर आओ।”

यहाँ स्पष्ट ही कहा है कि अपरिमित अन्तरिक्ष से यहाँ आओ। अन्तरिक्ष से आने का अर्थ ही आकाशयान से आना है। तथा—

श्येनानिव ध्रुजतः अन्तरिक्षे ।

ऋ० १।१६।१२

“श्येन पक्षी के समान तुम अन्तरिक्ष में भ्रमण करते हो।” श्येनपक्षी अन्तरिक्ष में ऊपर उड़ता रहता है, वैसे ये बीर अन्तरिक्ष में उड़ते हैं। तथा—

ये वावृष्टत पार्थिवा ये उरौ अन्तरिक्षे आ ।

वृजने वा नदीनां सधस्ये वा महः दिवः ॥

ऋ० ५।५२।७

“ये बीर पृथिवी पर, आकाश में तथा नदियों में बढ़ते हैं।” अर्थात् जिस तरह पृथिवी पर ये बीरता दिखाते हैं, उसी तरह अन्तरिक्ष में भी ये बीरता दिखा सकते हैं। इसका अर्थ यह है कि ये बीर अन्तरिक्ष में जाकर शत्रुओं का पराभव कर सकते हैं।

इनके पास सब कठिनाइयाँ पार करने के यान थे। जल को पार करने के लिए नौका है,

भूमि पर भ्रमण करने के लिए घोड़े के रथ हैं, हिरनों के रथ हैं तथा बिना घोड़ों के चलने वाले रथ हैं। आकाश में जाने के लिए विमान हैं। इसलिए इनकी गति किसी कारण रुकती नहीं।

मरुत् वीर मनुष्य हैं

कई लोग कहेंगे कि वीर मरुत् देवता हैं इसलिए वे जैसा जाहें वैसा कर सकते हैं। पर ऐसा नहीं है। मरुत् मनुष्य हैं, मर्त्य हैं—ऐसा वर्णन वेद में कई स्थानों पर है। देखिए—

यूयं मतर्सिः स्यातन वः स्तोता अमृतः स्यात् ।

ऋ० १।३८।४

“आप मर्त्य हैं, आपका स्तोता अमर होता है।” आपका स्तुतिगान करने वाला अमर बनता है।”

मरुतः सगणाः मानुषासः ।

अथवा० ७।७७।३

मरुतः विश्वकृष्टयः ।

ऋ० ३।२६।५

“ये मरुत् वीर अपने गणों के साथ सबके सब मनुष्य ही हैं। ये मरुत् वीर सब कृषि कर्म करने वाले किसान हैं।” अर्थात् किसानों में से भरती हुए हैं।

गृहमेधासः आ गत मरुतः ।

ऋ० ७।५६।१०

“ये मरुत् वीर गृहस्थी हैं।” अर्थात् ये वीर विवाह करके गृहस्थी बने हैं। इनके गृहस्थी होने के विषय में एक दो वेदमंत्र यहां द्रष्टव्य हैं—

युवानः निमिश्लां पज्ञां युवर्तिं शुभे
अस्थापयन्त ।

ऋ० १।१६।७।६

“(युवानः) ये तरुण वीर (निमिश्लां) सहवास में रहने वाली (प्रच्छां) बलवती (युवर्ति) तरुणी पत्नी को (शुभे) शुभ यज्ञकर्म में लगाते हैं।” अपनी पत्नी उत्तम यज्ञकर्म करती रहे, ऐसा वे करते हैं। तथा—



वीर मरुत्

स्थिरा चित् वृषमनाः अहंयुः सुभागा जनीः वहते ।

ऋ० ११६७।७

“(स्थिरा चित्) घर में स्थिर रहने वाली, (वृषमना) बलवान् मन वाली (अहंयुः) अपने विषय में अभिमान वारण करने वाली (सु-भागा:) सौभाग्यशाली (जनीः वहते) स्त्री गर्भ को धारण करती है।” अर्थात् ये वीर गृहस्थ होते हैं, घर में इनकी स्त्रियाँ रहती हैं, जो सौभाग्यवती, उत्तम मन वाली, पति में अनुरक्त रहने वाली हैं। ये वीर वीरता के कार्य करते हैं। इनके वीर कर्मों को सुनकर इनकी पत्नियाँ घर में प्रसन्न होती हैं।

गण का महत्व

वीर मरुतों की सेना में गणों का विशेष महत्व था। गण गिने हुए या चुने हुए सैनिकों का नाम था। गणों में लेते समय उनमें विशेष शौर्य, धैर्य, वीर्य पराक्रम होना आवश्यक था। ऐसे श्रेष्ठ वीर गणों में लिए जाते थे। इन गणों के विषय में ऐसे वर्णन वेद के मंत्रों में आते हैं—

आपत्ता मरुतां गणः ।

ऋ० १०।१३।७।५

“मरुत् वीरों का गण हमारा संरक्षण करे।” इस गण का कर्तव्य होता था कि वह प्रजाजनों का संरक्षण करे। इसलिए मरुतों के गणों को सदा तैयार रहना पड़ता था। किसी भी समय कोई कार्य करना पड़े तो सूचना पाते ही ये गण उस कार्य को करने के लिए तैयार रहते थे।

मारुतो हि मरुतां गणः ।

वा० य० १८।४५; कठ० १८।७५

तस्यैष मारुतो गणः स एति छिक्याकृतः ।

ऋ० १९।४।८

“मरुतों का गण वायुवेग से चलता है। यह मरुतों का गण छिक्के में बैठा जैसा चलता है।” छिक्के में बैठे मनुष्य जैसे छिक्के के साथ जाते हैं वैसे ये मरुद्वीर अपने गणों के साथ जाते हैं। किसी की अपनी पृथक् गति नहीं होती, परन्तु गण के साथ होती है। जहाँ गण जाता है वहाँ प्रत्येक जाता है। उनकी पृथक् सत्ता नहीं रहती। ये विलगे नहीं रहते परन्तु संघ में संघटित रहते हैं। इस कारण इनकी विलक्षण शक्ति बढ़ी-बढ़ी रहती है।

मरुतो गणानां पतयः ।

तै० ३।१।१।४।२

“मरुत् वीर गणों के स्वामी हैं।” गणशः ही ये रहते हैं। कहीं कार्य के लिए जाना हो तो ये गणशः ही जाते हैं। ये सदा संघटित ही रहते हैं। इस कारण इनका शत्रु पर आक्रमण बढ़ा प्रभावशाली होता है। व्यक्तिशः आक्रमण संघशः आक्रमण के समान प्रभावी नहीं होगा। इस कारण सर्वत्र मरुत् सैनिकों की प्रशंसा होती है।

मरुतो मा गर्णेरवन्तु ।

ऋ० १६।४५।१०

“मरुत् वीर गणों के साथ आकर मेरी रक्खा करें।” किसी भी मंत्र में अकेला-अकेला वीर आए और मेरा संरक्षण करे, ऐसा नहीं कहा है, परन्तु गणों के साथ आकर संरक्षण का कार्य करें ऐसा कहा है। इसका स्पष्ट कारण यह है कि इनका संघ ही विशेष प्रभावशाली होता है। इस कारण संरक्षण कार्य के लिए मरुतों को गणों में ही बुलाया जाता है।

गणश एव मरुतस्तर्पयति ।

काठ० २।१।३।६

गणशो हि मरुतः ।

ताण्ड्य० १६।१।४।२

मरुत् वीर गण के साथ ही संरक्षण का कार्य करते हैं। मरुतों को तृप्त करने के

लिए जिस समय बुलाते हैं, संघशः ही बुलाते हैं और संघशः ही उनको खाने पीने के लिए अन्न और रस अपर्ण करते हैं। किसी समय अकेले अकेले को बुलाकर, खानपान देकर उसका पृथक्-पृथक् सत्कार किया जाए, ऐसा कभी होता ही नहीं। उनको अन्न देना हो, पीने के लिए पेय देना हो तो संघ में ही बुलाना होता है। अतः कहा है—

वन्दस्व मारुतं गणं त्वेषं पनस्युम् ।	ऋ० १।३८।१५
तं श्रुष्टे मारुतं गणं नमस्य ।	ऋ० ५।६२।१३
शर्वंतमा गणं मरुतां अब त्वये ।	ऋ० ५।५६।१
त्वेषं गणं तवसं खादिहस्तं वन्दस्व ।	ऋ० ५।५८।२
मारुतं गणं वृषणं हुवे ।	ऋ० ८।६४।१२
प्रातं प्रातं गणं गणं सुशस्तिभिः ओज ईमहे ।	ऋ० ३।२६।६
प्रातं प्रातं गणं गणं सुशस्तिभिः अनुक्रामेम ।	ऋ० ५।५३।११
प्र साकमुक्ष अर्चत गणाय ।	ऋ० ७।५८।१

इन मन्त्रों में मरुतों की सेवा संघशः ही करनी चाहिए, ऐसा कहा है। एक-एक की पृथक्-पृथक् पूजा होने लगे तो एक-एक का अर्हंकार बढ़ेगा और संघ-शक्ति कम होगी। इसलिए उनका सत्कार संघशः ही हो, ऐसा स्पष्ट कहा है। यह महत्व की बात है और यह संघटना करने वालों को अवश्य व्याप्त में रखना चाहिए—

“उत्साही महद् गणों का वन्दन कर। हे ऋषे ! तू मरुतों के संघ का ही—गण का ही—वन्दन कर। मैं पराक्रम करने वाले मरुतों के संघ को ही बुलाता हूँ। उत्साहा, बलवान्, आभूषणों को हाथ में डालकर कार्य करने वाले मरुतों के संघ को प्रणाम कर। मरुतों के बलशाली संघ को मैं बुलाता हूँ। प्रत्येक गण, प्रत्येक समूह की उत्तम प्रशस्तियों से हम बल प्राप्त करने की इच्छा करते हैं। क्रमशः प्रत्येक गण को और संघ को हम प्रशंसा के खोत से प्रशसित करना चाहते हैं। गणों को संघशः, साथ-साथ ही, सुपूर्जित कर।”

इन मन्त्रों के वर्णनों से यह स्पष्ट है कि मरुतों का सत्कार संघशः ही करना चाहिए, न कि व्यक्तिशः। जनता सैनिकों की व्यक्तिशः प्रशंसा करने लगे तो उनकी संघटना टूट जाने की संभावना होगी। इस भय को दूर करने के लिए वेद में ऐसी आज्ञाएं हैं।

गण, शर्व और ब्रात ये मरुत् वीरों के संघों के नाम हैं। विभिन्न सैनिकों की संख्या से ये बनते हैं। शर्व के विषय में वेद मन्त्रों में ऐसा वर्णन आया है—

तं वः शर्वं मारुतं सुभ्नयुः गिरा ।	ऋ० २।३०।११
------------------------------------	------------

“आपका वह संघ वाणी द्वारा प्रशंसा योग्य है।” अर्थात् प्रशंसा करने योग्य कार्य आपके सैनिकीय संघ द्वारा होता है।

तं वः शर्वं रथानाम् ।	ऋ० ५।५३।१७
-----------------------	------------

“आपका रथों का संघ है।” जैसे पदाति सैनिकों का संघ होता है वैसे रथों वाली सेना का भी संघ होता है। इस तरह पदाति सैनिक, रथी सैनिक, घुड़सवार सैनिक, वैमानिक सैनिक ऐसे अनेक संघ मरुतों की सेना में होते हैं।

प्र वः शर्वाय घृष्ण्ये त्वेषद्युम्नाय शुष्मिणे ।	ऋ० १।३७।४
--	-----------

“आपके शूर तेजस्वी बलवान् संघ के लिए हम सम्मान प्रकट करते हैं।”

प्रश्नार्थी मारुताय स्वभानवे पर्वतच्छुते अर्चत । क्र० ५५४।१

प्रश्नार्थी प्रयज्यवे मुखादये तवसे मन्ददिष्टये धुनिवताय शवसे । क्र० ५५७।१

“मरुतों के अत्यन्त तेजस्वी, पर्वतों को भी हिलाने वाले, संघ का सत्कार करो।”

“अत्यन्त पूज्य, शरीर पर सुन्दर आभूषण धारण करने वाले, बलवान्, इष्ट कार्य करने वाले, शत्रु को उखाड़ने वाले, अति बलवान् मरुतों के संघ का स्वागत करो।

या शर्वाय मारुताय स्वभानवे अवः अमृत्यु धुमत । क्र० ६।४८।१२

विवः शर्वाय शुचयः मनीषा उप्रा अस्पृष्टन् । क्र० ६।६६।११

“मरुत् वीरों के तेजस्वी संघ के लिए अक्षय धन दो। वीरों के संघ के लिए वीरता पैदा करने वाले शुद्ध स्तोत्रों के गान चलते रहें।”

इन वीरों के काव्य शुद्ध हैं, बल और उत्साह बढ़ाने वाले हैं, तेजस्विता का संवर्धन करने वाले हैं, इस कारण वे गेय हैं।”

शृण्ये शर्वाय मारुताय भरधं हव्या वृष प्रयावने ॥ क्र० ८।२०।६

“जिनका आक्रमण बलशाली होता है उन वीरों के संघ के लिए भरपूर अन्न दो।”

उपं व ओजः स्थिरा शवासि । अथ महादिभः गणः तुविष्मान् ।

शुभ्रो वः शुभ्यः कुधमी मनांसि धुनिमुनिरिव शर्वस्य शृणोः ॥ क्र० ७।५६।७ द

“हे वीरों ! आपका तेज बड़ा प्रवर है, आपका बल स्थिर है। मरुत् वीरों का संघ बड़ा बलशाली है। बल निर्मल है, आपके मन शत्रु पर क्रोध करने वाले हैं। आपका आक्रमण मननशील मुनि के समान विचारपूर्ण होता है।”

ये वीर शत्रु पर वेग से आक्रमण करते हैं तथापि उनमें शत्रु का नाश करने का सामर्थ्य होने पर भी वे अविचार से आक्रमण नहीं करते, परन्तु ऋषि-मुनि के समान वे जो करना है वह विचार-पूर्वक करते हैं, उनमें शत्रु पर क्रोध है, शत्रु का नाश करने की इच्छा है, पर अविचार नहीं है। इस कारण इन वीरों को यश प्राप्त होता है।

क्रीडं वः शधमौ मारुतं अनवार्णं रथे शुभम् । कण्वा अभि प्र गायत ॥

ये पृथिवीभिर्ऋष्टिभिः साकं वाशीभिरछिजिभिः । अजायत स्वभानवः ॥

क्र० १।३।७।१-२

“क्रीड़ा-कुशल, आपस में भगड़ा न करने वाले, रथ-शोभी, मरुत् वीरों के संघ का है कण्वो ! वर्णन करो। जो व्यवहारों वाले हरिणों को अपने रथों में जोतते हैं, कुलहाड़े, भाले आदि वीरों के योग्य शस्त्र धारण करते हैं, तथा अलंकारों से अलंकृत तेजस्वी वीर हैं, उनका वर्णन करो।”

मरुतों का सांघिक बल इस तरह वेद-मन्त्र में वर्णित है।

वीरों का आक्रमण

इनकी आक्रमण-शक्ति के विषय में ये मन्त्र देखने योग्य हैं—

आ ये रजांसि तविषीभिरव्यत प्र व एवासः स्वयतासो अध्यजन् ।

भयन्ते विश्वा भुवनानि हर्ष्या चित्रो वो यामः प्रथतास्वष्टिषु ॥ क्र० १।१६।१४

(ये) जो तुम वीर (तविषीभिः) अपनी सामर्थ्यों से (रजांसि श्रा अव्यत) लोकों का संरक्षण करते हो (वः एवासः) तुम्हारे आक्रमण (स्वयतासः) अपने संयमपूर्वक (प्र अध्यजन्) शत्रु पर वेग से होते हैं। तब (प्रयतामु ऋषिट्षु) अपने शस्त्रास्त्र सम्भालकर जो (वः यामः चित्रः) आपका विलक्षण आक्रमण होता है उसे देखकर (विश्वा भुवनानि) सब भुवन और (हम्या) बड़े-बड़े महल भी (भयन्ते) भयभीत हो जाते हैं। ऐसे भयंकर आक्रमण इन वीरों के होते हैं। शत्रु पर हुए इनके हमले देखकर सबको भय लगता है। तथा—

चित्रो वोज्स्तु यामः चित्र ऊती मुदानवः। मरुतो अ-हि-भानवः॥ क्र० ११७२।१

“हे उत्तम दान देने वाले मरुद्वीरो ! (अ-हि-भानवः) आपका तेज कभी कम नहीं होता और (वः यामः चित्रः) आपका शत्रु पर आक्रमण बड़ा विलक्षण और भयंकर होता है।”

नि वो यामाय मानुषो दध्र उपाय मन्यवे। जिहीत पर्वतो गिरिः

येवामज्मेषु पृथिवी जुजुर्वां इव विशप्तिः। भिया यामेषु रेजते क्र० ११३७।७-८

“(वः उपाय मन्यवे यामाय) आपके उग्र त्रोष से होने वाले आक्रमण से डरकर (मानुषः) मनुष्य (नि दधे) आश्रय में जाकर रहता है, पर्वत और पहाड़ भी कांपने लगते हैं, जिनके (यामेषु अज्मेषु) आक्रमण के समय (जुजुर्वान् विशप्तिः) क्षीण निर्बंल राजा के समान पृथिवी भी (भिया रेजते) भय से कांपती है।

इस तरह इन वीरों के हमले भयंकर होते हैं, जिन्हें देखकर सब भयभीत होते हैं, कांपते हैं, आसरा ढूँढ़ते हैं, पृथिवी और पर्वत कांपते हैं, फिर निर्बंल मानव घबरा जाएं तो उसमें आश्चर्य ही क्या है ?

दीर्घं पूषु यामभिः प्रच्यावयन्ति। क्र० ११३७।११

यत् यामं अचिद्वं पर्वताः नि अहासत्। क्र० ११३७।२

“अपने आक्रमण से आप सुषृङ तथा विशाल शत्रु को भी हिला देते हैं। आप जब हमला करते हैं, उस समय पर्वत भी कांप उठते हैं।”

निष्कर्ष

१ वीरों की सेना में सात-सात वीरों की एक-एक पंक्ति होती थी। ऐसी सात पंक्तियों का एक पथक होता था।

२ ये वीर प्रजाजनों में से भरती होते थे।

३ सात-सात की एक पंक्ति, ऐसी सात पंक्तियां मिलकर ४६ वीर और सात पंक्तियों के दो-दो पार्श्वरक्षक मिलकर १४—अर्थात् ये ६३ वीर होते थे।

४ ये ६३ वीर मिलकर अनेक कार्य करने वाले वीरों का समूह होता था। इसलिए यह पथक स्वावलंबी होता था।

५ विभागशः सेना की संख्या पत्ति, गण, पृतना आदि नामों से पृथक्-पृथक् होती थी।

६ इन वीरों की गति अप्रतिहत होती थी।

७ इन वीरों के मार्ग चार प्रकार के थे : आपय, विपथ, अन्तःपथ और अनुपथ।

८ मरुतों के रथ अनेक प्रकार के थे — अश्व रथ, हिरण्य रथ, आकाश-संचारी रथ, अश्वपण

- ८ रथ । आकाश में ये विमान पंक्तिबद्ध होकर उड़ते थे ।
 ९ ये रथ दिन में, रात में, अन्धेरे में संचरण कर सकते थे ।
 १० इन रथों की गति अव्याहृत होती थी ।
 ११ मरुत्वीर मनुष्य ही थे । इनको देवत्व उनके शुभ कर्मों से प्राप्त हुआ था ।
 १२ मरुत्वीर गृहस्थी होते थे ।
 १३ इन वीरों के आकमण भयंकर और सबको भयभीत करने वाले होते थे ।

वैदिक अर्थ-व्यवस्था

इस समय जगत् में 'समाजवाद, साम्यवाद और व्यक्तिवाद' के आन्दोलन चल रहे हैं। अनेक देशों में गुट बने हुए हैं और वे अपने सिद्धान्त के प्रचार के लिए बड़ी-बड़ी दलबंदियां करके तथा भयानक घोर संहारक युद्ध करके, दूसरे पक्ष को संपूर्णतया विनष्ट करने को तत्पर हैं। ऐसे घोर समय में वेद के ऋषि वैदिक सिद्धान्त को अपने वैयक्तिक, सामाजिक और राष्ट्रीय व्यवहार में किस तरह लाते थे, उन्होंने अपनी अर्थ-व्यवस्था किस तरह की बनाई थी, एवं वन के ऊपर अपने स्वामित्व के विषय में उनकी विचारधारा क्या थी, यह जानना विशेष उपयोगी है।

धन किसका है ?

वेद में 'कस्य स्वित् धनं' (यजु० ४०।१) यह एक वचन है। 'भला किसका धन है?' यह इसका उत्तान अर्थ है। हम सबको ही धन किसका है, इसका विचार करना चाहिए। यह प्रश्न इतना सहज स्पष्ट होने वाला नहीं है। इसीलिए यह प्रश्न वेद में पूछा गया है।

'कस्य स्वित् धनं' में 'स्वित्' बड़ा महत्व का शब्द है।

स्वित् प्रश्ने च वितकं च ।

अमर० ३।२४।

'स्वित्' का अर्थ प्रश्न और वितकं है। 'वितकं' का अर्थ नाना प्रकार के पक्षों और उपपक्षों का विवेक है। इस विवेक के स्वरूप में 'स्वित्' का भाव समझता चाहिए। धन किसका है, यहाँ क्या धन व्यक्ति का है, अथवा समाज का है, वा जाति का है, या राज्याधिकारी का है, विद्वान् का है अथवा यज्ञ के लिए है, किंवा परमेश्वर का है, ऐसे अनेक प्रश्न उत्पन्न होते हैं। इन प्रश्नों का विचार करके निर्णय करना चाहिए। इसी का सूचक यहाँ का 'स्वित्' पद है।

'स्वित्' का अर्थ 'निश्चय' भी है। इस निश्चयार्थ में 'क' का अर्थ 'प्रजापति' है। 'प्रजापतिर्वेद कः' (श० न्ना०) 'क' का अर्थ प्रजापति है। प्रजापति प्रजा के पालनकर्ता का नाम है। इस अर्थ को लेकर 'कस्य स्वित् धनं' का अर्थ 'निःसंदेह सब धन प्रजापालक का है' ऐसा होता है। इस तरह 'कस्य स्वित् धनं' इस एक मंत्र भाग के प्रश्न, वितकं और निश्चय रूप तीन अर्थ हुए। ये तीनों अर्थ अत्यन्त महत्वपूर्ण हैं।

'धन किसका है?' यह पहिला अर्थ है। इसमें यह वोधित होता है कि धन पर अधिकार चाहने वाले अनेक हैं, उनमें से धन सचमुच किसका है? क्या हम नहीं जानते कि धन पर अनेक व्यक्ति अधिकार चला रहे हैं! जिसके पास धन है वह तो यह धन 'मेरा' है ऐसा कहता ही है। उसके पुत्र भी कहते हैं कि पिता का धन हमारा है। चौर, डाकू, लुटेरे कहते हैं कि धन हमारा है। इसके साथ राजा कहता है कि यह धन मेरा है और प्रजा से कर लेकर उस धन को अपने धनकोश में वह रख भी लेता है।

इतने लोग इस पर स्वामित्व जतला रहे हैं, इसके अतिरिक्त यज्ञकर्ता यज्ञ के लिए धनिकों

से धन मांगता है और धनी उसको धन देते भी हैं। इस तरह अनेक लोग धन पर अधिकार बताते हैं। इसीलिए मंत्र में पूछा है कि 'कस्य स्वित् धनं?' भला धन किसका है?

किसी निर्बल के पास धन हो, तो बलवान् आ जाता है और थप्पड़ लगाकर उसका धन ले लेता है। इससे धन निर्बल का तो नहीं कहा जा सकता। क्योंकि निर्बल का धन सबल लूटता है और अपने अधिकार में कर लेता है इसलिए निर्बल का अधिकार तो धन पर निःसंदेह नहीं हो सकता। इसीलिए वेद में अनेक बार कहा है कि—

सुवीरां रथ्य आमर

'उत्तम वीर जिसके साथ संरक्षण करने के लिए हैं ऐसा धन हमें चाहिए।' अपने घर में रहने वालों के अन्दर वीरता रहे, अथवा अपने पुत्र शूर हों, जो धन का संरक्षण कर सकें, तो वह सुवीरों अथवा वीर पुत्रों से संरक्षित धन अपने पास रह सकता है। इसलिए वीर का धन है, ऐसा हम कह सकते हैं।

वीर भी कभी न कभी मर जाता है, और सब धन यहाँ छोड़कर चला जाता है। इसलिए यह धन उस वीर का है, ऐसा हम कैसे कह सकेंगे? मरने के पश्चात् वह धन यहीं पड़ा रहता है। इसलिए जैसे निर्बल का धन नहीं हैं वैसे ही शूरवीर का भी नहीं, क्योंकि शूरवीर भी मरते हैं और धन यहीं छोड़कर चले जाते हैं। फिर किसका भला धन है?

यहाँ शिल्पी आकर कहते हैं, हम शिल्पों का निर्माण करते हैं और उन शिल्पों से धन निर्माण करते हैं, इसलिए धन निर्माण करने वाले होने के कारण धन हमारा है। किसान भी ऐसा ही कहते हैं—खेती हम कर रहे हैं, धान्य हम उत्पन्न कर रहे हैं और ये पूजीपति घर में बैठकर सब मञ्चन खा रहे हैं। यह नहीं चलेगा। धन उसका है जो जमीन की सेवा करता है। मजदूरों और किसानों की यूनियनें बन रही हैं और वे कहती हैं कि धन हमारा है।

यहाँ वैश्य आकर कहते हैं कि हम धन कारखानों में लगाते हैं, कलें और यन्त्र चलाते हैं, देश-विदेश में व्यापार करते हैं, नाना प्रकार की योजना सम्पन्न करते हैं और इनसे धन-निर्माण होता है, इसलिए इन योजनाओं को कार्यान्वित करने वाले जो हम हैं, धन उनका है। हम इन योजनाओं का प्रबंध न करें तो शिल्पी मजदूर और किसान अकेले-अकेले क्या कर सकेंगे।

यहाँ अधिक्षिय आते हैं और कहते हैं कि हम सबका संरक्षण करते हैं, लूट-मार होने नहीं देते, दंगों और युद्ध के अवसर पर अपने जीवन संकट में डालकर भी हम तुम सबका और तुम्हारी सब आयोजनाओं का संरक्षण करते हैं। हम न रहें तो 'जिसकी लाठी उसकी भैंस' होगी और बली निर्बलों को खाजाएंगे। हमारे प्रयत्नों से धन का संरक्षण हो रहा है इसलिए धन पर हमारा अधिकार है।

तब ब्राह्मण भी आकर कहते हैं कि हम पूजा-पाठ, यज्ञ-याग आदि करते हैं, देवों की अनु-कृत्ता संपादन करते हैं, इसलिए वृष्टि होती है, तुम्हारे मनों को शान्ति और सन्तोष मिलता है और उसी शान्ति से तुम अनेक कार्य कर रहे हो और धन उत्पन्न हो रहा है। तुम्हारे सब व्यवहारों के लिए जो अन्तःकरण का उत्साह चाहिए वह हमारे पूजा, मंत्र, पाठ, होम, हवन से मिलता है, इसलिए धन पर अधिकार हमारा है।

इस तरह अपने-अपने पक्ष का समर्थन करने का नाम वितर्क है। 'स्वित्' अव्यय का यह भाव

है। तर्क-वितर्क करना और अन्तिम निर्णय तक पहुंचना वितर्क का काम होता है। यह 'स्वित' पद का कार्य है। 'स्वित' पद में 'सु+इत्' ऐसे दो पद हैं। 'सु' का अर्थ उत्तम और 'इत्' में 'इ' धातु 'प्रगति', अध्ययन, ज्ञानसंपादन और 'स्मरण' अर्थ में है। इन दो विभागों से (सु+इत्) स्वित् बना है अर्थात् इसका अर्थ 'उत्तम प्रगति, उत्तम ज्ञान-संपादन और प्राप्त ज्ञान का उत्तम स्मरण' करना है। 'कस्य स्वित् धनं' धन किसका मानने से सब जनता की उत्तम प्रगति होगी, सबको उत्तम से उत्तम ज्ञान मिलेगा और सबकी मेघा बुद्धि विशाल होगी इसका मनन करना—यह स्वित् का भाव है। इस दृष्टि से देखा जाय तो 'कस्य स्वित् धनं' इस मन्त्र भाग में स्वित् का बड़ा महत्व है।

सब झगड़े, कलह, स्पर्धा और युद्ध धन के कारण ही होते हैं। वेद में 'महाधन' नाम युद्ध का है। युद्ध और धन का सम्बन्ध इस तरह है। धन न हो तो कौन किससे किसलिए युद्ध करेगा? वेद ने युद्ध का मूलकारण धन माना है और इसीलिए 'कस्य स्वित् धनं' यह धन के स्वामित्व का विचार भी वेद ही बता रहा है, ताकि यह ज्ञान लोगों को ही और लोग युद्ध से पीछे हटें और आनन्द में रहें।

वेद में युद्धनामों में एक नाम 'वाजसातौ' भी है। 'वाजसाति' का अर्थ 'धन का बंटवारा, धन का योग्य विभाग है। धन का विभाग करने के समय झगड़े होते हैं। इसलिए इस बंटवारे के समय सबको मालूम होना चाहिए कि सबमुच धन पर किसका अधिकार है। यहां आग्रह नहीं होना चाहिए, परन्तु वितर्कपूर्वक इसका उचित निर्णय होना चाहिए।

क्या मेरा धन है!

ऊपर अनेक पक्षों की सम्मतियां दी हैं, जिनमें प्रत्येक पक्ष का वक्ता कहता है कि 'धन मेरा है'। क्या यह सत्य नहीं है? ऊपर के सब वक्ता अपने-प्रपने पक्ष की बात कह रहे हैं, पर उनके ध्यान में यह नहीं आ रहा है कि प्रत्येक यदि मेरा ही धन है, ऐसा कहे तो उन सबकी ही सम्मति से धन उन सबका सांझा है अथवा उनमें से किसी का भी नहीं, यह स्वयं सिद्ध हो जाता है।

युद्ध में जिसका पराभव होता है उसका धन विजयी योद्धा छीन लेता है और विजयी वीर कहता है कि 'यह सब धन मेरा है।' वीर अर्जुन का नाम 'धनञ्जय' था। इसका अर्थ ही यह है कि वह युद्ध करता था, शत्रु का पराभव करता था, जय प्राप्त करता था और धन लाता था।

पर क्या इस तरह धातपात करके लूटमार करके, खून-खराबी करके धन लूटकर लाना मानवों के लिए उचित है? यह तो पशुओं का काम है। वैसा ही मानव करे? यदि पशुओं से मनुष्य श्रेष्ठ है, तो मन से तर्क-वितर्क करके किसका धन है, इसका निर्णय मनुष्य करें, इसलिए यह प्रश्न वेद ने सब लोगों के सामने रखा है, ताकि मनुष्य पशु न बने, मनन करके निश्चय करने वाला मानव बने और निश्चय करे कि 'धन किसका है?'

एक सुलतान था, उसने अपनी आयु भर देश देशान्तर में जाकर, अपने साथ सहस्रों गुणों को लेकर कल्प और लूट मार करके अपने पास अगणित धन इकट्ठा कर लिया। वह जब मरने लगा, तब उसने कहा कि सब धन मेरे विस्तरे के पास ढेर लगाकर रख दो। सेवकों ने वैसा ही किया। हीरे, लाल, मोती, सोना आदि के पर्वत जैसे ढेर उसकी मृत्युशय्या के पास लगा दिए। वह

उनकी ओर देखता था और रोता था। ऐन मृत्यु के समय उसको पता लगा कि 'इस धन का स्वामी मैं नहीं हूँ।' पर मृत्यु के समय ही इस बात का ज्ञान उसको हुआ, पहिले नहीं।

उसके मरने के पश्चात उसका पुत्र उस धन का स्वामी बना। उसने और भी अधिक लूटमार करके उस धन में और वृद्धि की। वह भी मर गया और रोते-रोते मरा, पर अपने साथ उसमें से थोड़ा भी धन न ले जा सका, क्योंकि वस्तुतः वह धन उस व्यक्ति का नहीं था। उसने सारा 'धन किसका है' इसका विचार ही नहीं किया था। लूटमार करने में उसका समय चला गया। 'धन किसका है' इस वचन का विचार करने के लिए उसके पास समय ही नहीं रहा!

नगरों में बड़े-बड़े सेठ-साहूकार, धनी-पूँजीपति अपने पास धन का संग्रह करके रखते हैं, मरते समय सब धन को यहीं छोड़कर अकेले चले जाते हैं। किर उनका पुत्र स्वामी बन जाता है, पर वह भी वैसे ही धन को छोड़कर मर जाता है। ऐसा होते-होते जिस समय उसके वंश में कोई संतान नहीं रहती, कोई वारिस नहीं होता, उस समय वह सब धन सरकार अपने कोश में जमा कर लेती है। यहां वेद कहता है कि 'कस्य (प्रजापतेः) स्वत् धनं' प्रजापालक राजा का यह सब धन है। जिसका धन था उसके पास चला गया।

एक ही मन्त्र भाग में प्रश्न भी है और उस प्रश्न का उत्तर भी है। वहां 'कः' का 'कौन' ऐसा एक अर्थ है और 'प्रजा' को सुख देने वाला, उसी का दूसरा अर्थ है। 'क' का ही अर्थ 'सुख तथा सुखदायी' है। जो पालक जनता का सुख बढ़ाता है और जनता को सुखी करने के लिए ही प्रजापालन करता है उसका नाम 'क' है और उसी का सब धन है। अर्थात् यह धन प्रजा के पालन के लिए है, न कि उस पालक व्यक्ति के उपभोग के लिए। प्रजा के सुख की वृद्धि होनी चाहिए। 'विष्णु' प्रजा का पालन करता है इसलिए उसके पास 'महालक्ष्मी' (बड़ी संपत्ति), रहती है। यह धन इस तरह प्रजापालक के कोश में जाना चाहिए और प्रजा का सुख बढ़ाने के लिए ही उसका व्यय होना चाहिए।

प्रजा का हित मुख्य है

आज भी 'व्यक्ति के हित और प्रजा के हित' में जब विरोध होता है, तब प्रजा का हित मुख्य और व्यक्ति का हित गौण माना जाता है। मान लीजिए कि किसी नगर में सार्वजनिक हित के लिए मार्ग बड़ा करने की आवश्यकता हुई, तो बीच के वैयक्तिक स्वामित्व के मकान तोड़े जाते हैं और सार्वजनिक हित का मार्ग तैयार किया जाता है, क्योंकि स्थान रूपी धन सार्वजनिक है, वैयक्तिक नहीं है। जब तक सार्वजनिक हित का विरोध नहीं होता, तब तक भले ही व्यक्ति के पास वह धन रहे, पर जिस समय सार्वजनिक हित उसको चाहेगा, उस समय वह सार्वजनिक हित के लिए लिया ही जायगा और उस समय वैयक्तिक स्वामित्व गौण होगा।

दूसरा उदाहरण देखिए। सरकार प्रजा से 'कर' लेती है। करों में 'साधारण कर, विशेष-कर, अत्यन्त विशेष कर' ऐसे अनेक प्रकार के कर होते हैं। साधारण कर षष्ठांश माना जाता है, प्रतिशतक १५ या १६ समझ लीजिए। 'विशेष कर' प्रतिशतक ५० तक लेते हैं और अत्यन्त विशेष कर प्रतिशतक ६० या ६५ तक भी सरकार ले सकती है। साधारण कर सर्वसाधारण मानवों से षष्ठांश रूप में लेते हैं, विशेष धनिकों से लाभ का आधा तथा अत्यन्त धनिकों से प्रतिशतक ६०

या उससे भी अधिक सरकार लेती है। प्रत्येक सरकार को यह अधिकार है, ऐसा सब विचारवान् लोग मानते हैं और यूरोप, अमेरिका तथा भारतवर्ष में ये कर हैं इसलिए प्रजा का पालन करने वाला शासक अपना धन वसूल करता है। 'प्रजापते: स्वित् धनं' प्रजा का पालक धन है वह प्रजा पालक ने वसूल किया। इतना ही इसका अर्थ है।

युद्धादि विशेष प्रसंगों में इससे अधिक धन सरकार लेती है और वह उचित है, ऐसा सब विद्वान् मानते हैं। इसका कारण यही है कि प्रजा का हित करने के लिए ही वह धन था, प्रजापालक ने प्रजा का पालन और हित करने के लिए ले लिया। इस तरह आज भी, 'प्रजापति का धन है' ऐसा ही माना जाता है। वेद का वचन इस तरह प्रच्छे राज्य शासनों में स्वीकृत किया गया है। यहाँ तक से यह सिद्ध हुआ कि—

१ धन व्यक्ति का नहीं है,

२ धन प्रजापालक का है,

३ इस धन का उपयोग प्रजा के सुख का संवर्धन करने के कार्यों में ही प्रजापालक को करना चाहिए,

४ इस धन का उपयोग अपने भोग के लिए करने का अधिकार प्रजापति को नहीं है।

यह सब भाव ध्यान में धारणा करके ही वेद में 'कस्य स्वित् धनं' के पूर्व 'मा गृधः' (मत ललचाओ) ऐसी आज्ञा दी है।

मा गृधः

मनुष्य धन का लालच करता है और इस धन का उपयोग अपने भोग बढ़ाने में करता है। जिस समय एक व्यक्ति अत्यधिक धन का उपयोग अपने भोगों के लिए करने लगता है, उस समय कई दूसरे लोग उतने भोगों से वंचित रहते हैं और उनको दुःख होने लगता है। ये दुःखी जीव उस स्वार्थी धनिक से द्वेष करने लगते हैं और इस तरह स्वर्धा बढ़ती है तथा कलह, युद्ध और विनाश में इसका पर्यवसान हो जाता है। इसलिए वेद ने कहा कि "धनं प्रजापति का है, अतः कोई व्यक्ति लालच न करे।"

मनुष्य को जीवित रहना ही है, जीव मरना नहीं है। इसलिए दीर्घ जीवन प्राप्त करने के लिए, सुख से रहने के लिए जितना अन्न-वस्त्र का भोग चाहिए उतना तो उसको अवश्य ही मिलना चाहिए। इतना लेने में दोष भी नहीं है। इससे अधिक अथवा अत्यधिक लेना दोष है। 'परिग्रह-वृत्ति' अर्थात् अपने पास अत्यधिक भोगों को संग्रहीत करके रखने की इच्छा से दोष होते हैं और दुःख बढ़ जाते हैं। इसलिए 'अ-परिग्रह-वृत्ति' धारण करनी चाहिए। जीवन निर्वाह के लिए आवश्यक उपभोग प्रत्येक व्यक्ति ले सकता है, उससे अधिक नहीं। इसी उद्देश्य से कहा है कि 'मा गृधः' (मत ललचाओ), अत्यावश्यक जीवन निर्वाह की वस्तु लेना दोष नहीं, वह लालच भी नहीं। अनावश्यक भोग-संग्रह करना दोष है। यही दोष समाज में उपद्रव मचाता है।

एक मनुष्य के लिए दो चार कुर्ते चाहिए। उतने मनुष्य रखे और पहने। पर चार दर्जन कुर्ते रखना यह व्यवहार दोष उत्पन्न करने वाला है। इससे अन्य लोगों को जीवन निर्वाह के लिए कपड़े नहीं मिलते और वर्ग-कलह खड़ा हो जाता है। इसी तरह अन्यान्य उपभोगों के विषय में

समझना चाहिए।

धन का अर्थ है—सब उपभोग के पदार्थ। प्रजापति का अधिकार उस सब पर है। प्रजापालन के लिए उसके पास सब धन रहेगा और उसका उपयोग वह प्रजापालन के कार्य निभाने के लिए करेगा। 'प्रजापति का धन है—' इतना कहने से जो प्रजा का अच्छी तरह पालन नहीं करता, उसका धन पर अधिकार नहीं है, यह आप ही आप सिद्ध हो जाता है।

(१) "मा गृषः, (२) कस्य स्वित् धनं" ये दो मन्त्र भाग हैं और इनका अर्थ ऊपर दिया है। कई विद्वान् इनको दो वचन न मानकर, अर्थात् इसका एक ही वचन मानकर अर्थ करते हैं। "मा गृषः कस्य स्विद् धनं" किसी के धन का लालच न कर, ऐसा इसका अर्थ समझते हैं। पर यह अर्थ अशुद्ध है। 'स्वित्' का अर्थ 'प्रश्न और विर्तक' है। दूसरी आपति यह है कि 'किसी दूसरे के धन का लालच न कर' ऐसा इसका अर्थ मानने से अपने पास के धन का लालच करने में तो कोई प्रतिबन्ध नहीं रहता। एक लखपति और करोड़पति अपने धन से जो चाहे सो करे, यह अर्थ समाज में धनी और निर्धन में विश्रह करने वाला है। सचमुच समाज के सामने धनी अपने धन का उपयोग कैसे करे, यही एक समस्या है। निर्धन विचारा अपनी निर्धनता में सड़ता ही रहता है, वह लालच तो क्षण करेगा और वह परिग्रह भी कितना करेगा। धनी दूसरे के धन का लोभ न करे, इतना ही कहने से सामाजिक अर्थ की समस्या दूर नहीं होगी। धनी के पास जो धन का संग्रह है, वह किसका है, उस पर स्वामित्व किसका है—यह महत्त्व का प्रश्न है।

यज्ञ के लिए धन

सब धन यज्ञ के लिए हैं, यह वैदिक विचारधारा है। सब धन प्रजापालक प्रजापति का है, यह ऊपर दिये मन्त्र का कथन है। यज्ञ के लिए सब धन है—ऐसा कहने से भी वह धन सब प्रजा के पालन के लिए लगना चाहिए, यही तात्पर्य निकलता है। क्योंकि 'यज्ञ' का अर्थ ही "(१) जिस कर्म से श्रेष्ठों का सत्कार होता है, (२) संगतिकरण अर्थात् प्रजा का संगठन होता है और (३) अत्थायों को आवश्यक सहायता मिलती है" यह है। 'सत्कार-संगति-शानात्मक कर्म' यज्ञ कहलाता है। इससे प्रजाजनों का कल्याण होगा ही। यज्ञ में जो धन लगता है वह सब यज्ञकर्त्ता के उपभोग के लिए नहीं रहता, परन्तु सब जनों के हित के लिए है। इसलिए यज्ञार्थ धन लगा अथवा प्रजाहित के लिए लगा, तो भी किसी व्यक्ति के उपभोग के लिए वह नहीं आ सकता। इसलिए "किसी दूसरे के धन की अभिलाषा न कर" यह अर्थ अशुद्ध है और हमने जो अर्थ किया है वही सत्य है। किसी दूसरे के धन की अभिलाषा तो कोई कभी न करे पर अपना धन भी अपना नहीं, वह यज्ञ के लिए अथवा प्रजापालन के लिए है, ऐसा मानना ही वैदिक धर्म की विचारधारा के अनुसार उचित है।

अब प्रश्न उत्पन्न होता है कि मनुष्य अपने धन का उपभोग कैसे करे? इसका उत्तर वेद मन्त्र ने यह दिया है कि 'तेन त्यक्तेन भुजीथा:' उसका त्याग से भोग कर। यहां 'त्याग' का अर्थ 'दान' है। दान से अपने धन का उपभोग करना चाहिए। यह एक अपूर्व उपदेश है।

(१) धन प्रजापालन करने वाले प्रजा शासक का है।

(२) इसलिए धन का लालच न कर।

(३) धन का उपभोग त्याग से कर।

(१) कस्य (प्रजापतेः) स्वित् धनं, (२) मा गृधः, (३) तेन त्यक्तेन भुञ्जीथाः। ये तीन मन्त्र-भाग क्रमपूर्वक देखने से इनका सच्चा आशय स्पष्ट हो जाता है। वस्तुतः यह मन्त्र ऐसा है—

तेन त्यक्तेन भुञ्जीथाः, मा गृधः, कस्य स्विद्वनम्। (यजु० ४०।१) हमने इसके तीन विभाग, उलटे क्रम से विचार के लिए लिए हैं।

“धन का दान से भोग कर, धन का लालच न कर, धन निःसन्देह प्रजापालक का है।” यहां धन का दान से भोग करने की आज्ञा है।

दान और भोग

धन का दान से भोग होता है और भोग से भी भोग होता है। इसमें श्रेष्ठ भोग कौन-सा है और कनिष्ठ भोग कौन-सा है इसका मनन अपेक्षित है।

भोग से भोग वह है, जो प्रत्येक मनुष्य अपनी इन्द्रियों से स्वयं करता है। इस भोग की मर्यादा होती है। यह भोग से भोग अमर्याद नहीं किया जा सकता। देखिए अपने घर में लड्डू, जलेबियां बनी हैं और इनका भोग से भोग करना है, तो उनका सेवन हम उतना ही कर सकते हैं कि जितना हम पचा सकते हैं। अधिक नहीं कर सकते। यदि अधिक खाया जाए, तो पचेगा नहीं और अपचन से अनेक कष्ट उत्पन्न होंगे। इस तरह मुख से अन्त भोग करने में ईश्वर की मर्यादा लगी है। उस मर्यादा का उल्लंघन कोई नहीं कर सकता। कोई मनुष्य १० जलेबियां खाएगा, कोई बीस खाएगा। अधिक खाएगा तो जलेबियां ही उसका भोग करने लगेंगी और उस समय खाने वाले को बड़ा कष्ट होगा।

इसी तरह आपके दस घर हैं, पर आप किसी एक समय एक ही घर में रह सकते हैं और एक ही कमरे में रह सकते हैं। यहां ईश्वर की मर्यादा लगी है, उसका उल्लंघन करके अनेक मकानों में एक ही समय रहना असंभव है। आपके घर में अनेक गाड़ियां हैं, पर आप एक समय एक ही गाड़ी में बैठ सकते हैं। एक समय दो-चार गाड़ियों में बैठना किसी मनुष्य के लिए असंभव है। यह ईश्वर ने मर्यादा नियत की है। आपके घर में सैकड़ों कपड़े हैं, पर एक समय आप दो-चार ही कपड़े पहन सकते हैं। एक ही समय सैकड़ों कपड़ पहनना मनुष्य के लिए अशक्य है।

मनुष्य अनेक विवाह कर सकता है, सैकड़ों स्त्रियां जनानखाने में रखने वाले अनेक नवाब ही चुके हैं। पर एक समय में किवा एक दिन में अधिकाधिक स्त्रियों का समागम होना अशक्य है। यहां मर्यादा लगी हुई है, उसका उल्लंघन मनुष्य नहीं कर सकता।

इतने उदाहरणों से स्पष्ट हुआ कि भोग से भोग अत्य मर्यादा तक ही संभव है। मनुष्य की भोग भोगने वाली इन्द्रियां थक जाती हैं और मर्यादा उल्लंघन करके अधिक भोग कर नहीं सकती। इतका अनुभव प्रत्येक मनुष्य चाहे जिस किसी इन्द्रिय से कर सकता है। इसलिए इसके अधिक स्पष्टी-कारण की आवश्यकता नहीं है।

अब दान से भोग कैसा अमर्याद है, देखिए। आप मिष्ठान घर में जितना चाहिए उतना लीजिए और लोगों को खिलाइए। आप जितना अन्त तैयार कर सकते हैं और जितना खिला सकते हैं, उतना आप दान कीजिए। उनके तृप्त हुए मुखों को देखकर जो आनन्द आपको होगा वह अमर्याद

आनन्द है। आप अन्नदान, विद्यादान, धनदान जितना चाहे उतना कीजिए, दवाखाने खोलिए, अनेक प्रकार के दानों से जो जनता का उपकार हो सकता है, करते रहिए। उन लोगों के आनन्दित मुख देखकर जो दाता को आनन्द प्राप्त हो सकता है वह आनन्द अमर्यादि है। हजारों विद्यार्थी आपके विश्वविद्यालय से विद्यान् होकर बाहर आएंगे, आपके दवाखाने से प्रतिदिन हजारों रोगी रोगमुक्त होंगे, उनका अमर्याद आनन्द देखने से जो आनन्द आपको प्राप्त होगा, वह आनन्द दिव्य आनन्द होगा और वह अमर्याद आनन्द होगा। अर्थात् दान से जो भोग होता है वही यह है। इसका विस्तार अमर्याद, आनन्द भी अभीतिक और इसका क्षेत्र भी व्यापक तथा अत्यन्त विस्तृत है। इसलिए वेद कहता है कि 'लालच न कर' और 'दान से भोग कर।' दान करते हुये ही घोड़ा-सा भोग अपने लिए करो, वह तुम्हारा आनन्द बढ़ायेगा। व्यवहार में भी जनता का उपकार करने से जो आनन्द होता है वह किसी पदार्थ के भोग करने से प्राप्त होने वाले आनन्द से सहस्रगुणा अधिक होता है। इसलिए 'दान से भोगकर' (तेन त्यक्तेन भुञ्जीयाः) यह वेद की आज्ञा सबका सुख बढ़ाने वाली है, अमर्याद आनन्द देने वाली है।

महां तक हमने वेद के तीन उपदेश देखे। उनका परस्पर सम्बन्ध भी है। वे उपदेश ये हैं—(१) कस्य (प्रजापते:) स्वित् धनं—सब धन निःसदेह प्रजापति का है, किसी व्यक्ति का नहीं, इसलिए—(२) मा गृष्णः—कोई व्यक्ति लालच न करे और—

(३) तेन त्यक्तेन भुञ्जीयाः—उस (धन का) दान से भोग करे, भोग से भोग नहीं।

ये तीन उपदेश वैदिक अर्थ-व्यवस्था का स्वरूप बता रहे हैं। (१) धन किसी व्यक्ति का नहीं, व्यक्ति मरणघर्षा है, धन घोड़कर मर जाता है। समाज स्थायी रहता है, इसलिए जो स्थायी रहता है, उसका धन है। उस समाज की पालना प्रजापति संस्था से होती है, इसलिए सब धन प्रजापति संस्था का है। (२) यदि यह मान लिया गया तो व्यक्ति को किसी धन के लालच में फँसना उचित नहीं, यह स्वयं ही सिद्ध हो चुका है। यदि धन प्रजापालक संस्था का है तो वह व्यक्ति का नहीं। भले ही धन व्यक्ति के पास रहे, पर वह व्यक्ति उसका ट्रस्टी बनकर रहे, उपभोग करने वाला स्वामी नहीं। इस तरह धन पर आसक्ति घोड़ना मनुष्य का कर्तव्य हो जाता है। इतना हाने पर भी मनुष्य भोग बिना जीवित रह नहीं सकता, इसलिए वह कैसा भोग करे? इस प्रश्न के उत्तर में वेद कहता है कि (३) 'त्याग से दान देकर जो बचता है, यज्ञ करके जो यज्ञ शेष रहता है उस अमृत का भोग करे।' ये तीनों उपदेश वैदिक अर्थ-व्यवस्था का स्वरूप दर्शा रहे हैं। सब धन यज्ञ के लिए उत्पन्न हुआ है, इसका अर्थ यह है—समाज के आधार से व्यक्ति रहता है।

समाजाश्रित व्यक्ति

यज्ञकी कल्पना मूलतः कहां से, किस सिद्धान्त से उत्पन्न हुई यह भी यहां देखना चाहिए। इसलिए वेद ने मानव समाज की व्यवस्था दो शब्दों से कही है। वह देखिए—

जगत्यां जगत् ।

(यजु० ४०।१)

"जगती के आधार से जगत् रहता है।" यह इस बचन का पदार्थः अर्थ है। पर इसका आशय क्या है? जगती किसका नाम है और जगत् किसको कहते हैं, यह विचारणीय विषय है। 'जगत्'

का अर्थ (गच्छति इति जगत्) जो गतिमान हैं, जिसमें चलन-बलन की शक्ति है, जो अपनी प्रगति करता है, वह जगत् है। पृथिवी स्वयं अपने ईर्द्ध-गिर्द तथा सूर्य के चारों ओर धूमती है, इसलिए और पृथिवी पर के सब पदार्थ गतिमान हैं। सूर्य अपनी ग्रहमाला के साथ बहुतसूर्य के चारों ओर धूम रहा है। इसलिए संपूर्ण सूर्यमाला धूम रही है, अतः गतिमान है। सब विश्व गतिमान है। इस विश्व में कोई वस्तु गति रहित नहीं है। इसलिए प्रत्येक वस्तु को, गतिमान होने से, जगत् कह सकते हैं।

पर यदि गति का अर्थ प्रगति माना जाए, तो केवल मनुष्य ही ऐसा है जो प्रगति कर सकता है। मनुष्य में स्वतन्त्र बुद्धि है इसलिए वह अपनी उच्च गति-प्रगति-भी कर सकता है और नीचगति-अधोगति—भी कर सकता है। मनुष्य को छोड़कर अन्य प्राणी गतिमान तो हैं, पर उनमें स्वतन्त्र प्रतिभा नहीं है, अपनी स्थिर बुद्धि से, जन्म-जात मति से—वे जैसे हैं वैसे ही रहते हैं। चिड़िया जैसी १०,००० वर्ष पूर्व थीं वैसी ही आज हैं और वैसी ही १०,००० वर्षों के बाद भी रहेंगी। पर मनुष्य वैसा नहीं, वह प्रगति करता है और अपनी अधोगति भी करता है। इसलिए सामान्यतः सब विश्वान्तर्गत पदार्थ 'जगत्' कहलाते हैं, परन्तु पूर्ण रीति से मनुष्य ही 'जगत्' है, क्योंकि मनुष्य ही सच्चा गतिमान है। जिस तरह प्रभावी पुत्र जिस माता का होता है, उस माता को 'पुत्रवती' कहते हैं, नहीं तो बहुत स्त्रियां पुत्र उत्पन्न करती हैं और सूअरी की तो दस-दस संतान होती हैं, पर उनको कोई नहीं पूछता। इसी तरह सब ही गतिमान होने से 'जगत्' कहलायेंगे, परन्तु अपनी गति की प्रगति करके मनुष्य अन्त में परमपद प्राप्त कर सकता है, इसलिए मनुष्य गति संपन्नता का उत्तमोत्तम उपयोग करता है। मनुष्य ही सच्चा गतिमान है, अतएव सत्य अर्थ से 'जगत्' है।

एक व्यक्ति को 'जगत्' कहा जाता है और उन अनेक जगतों की समष्टि को 'जगती' कहते हैं। इसकी तालिका ऐसी है—

जगत्	...	जगती
एक	...	बहुत
व्यष्टि	...	समष्टि
व्यक्ति	...	समाज
असंभूति	...	संभूति
असंभव	...	संभव
विनाश	...	अविनाश

यहां प्रश्न होता है कि क्या व्यक्ति स्थायी है अथवा समाज स्थायी है। व्यक्ति मरता है और समाज स्थायी रहता है, यह अनुभव हर कोई जानता है। हिन्दू व्यक्ति मरता है, परन्तु हिन्दू समाज अजामर है, स्थायी है। इसी तरह अन्य समाजों के विषय में है। किन्तु प्रत्येक व्यक्ति मरने वाला है, उन व्यक्तियों का बना समाज स्थायी और अमर है, यह हम सर्वं देखते हैं। तो धन मरने वाले, नाश होने वाले का नहीं हो सकता, धन तो स्थायी रहने वाले समाज का ही हो सकता है।

मुख्य कौन—राजा या प्रजा ?

यहां प्रश्न उत्पन्न हो सकता है कि 'कस्य (प्रजापते:) धन' इस मन्त्रभाग का अर्थ नाह्यण

‘वचनानुसार ‘प्रजापति का धन है’ ऐसा है। यहां कोई पूछ सकते हैं कि धन प्रजा का है वा प्रजापति का है? अर्थात् धन जनता का है वा शासक का है। प्रजा और प्रजापति में स्थायी भाव किसका है? उत्तर में हम कह सकते हैं कि ‘प्रजा’ स्थायी है और ‘प्रजापति’ बदलने वाला है। ‘प्रजा’ स्थायी रहती है, ‘राजा’ बदलता रहता है। प्रजा का अर्थ ‘लोक समूह, जनता, मानव समाज’ ऐसा है, ‘राजा’ रहे या न रहे, ‘पालन करने वाला’ हो या न हो, प्रजा रहती है और रहेगी। इसलिए ‘प्रजा’ मुख्य है और ‘प्रजापति’ गौण है। प्रजा के रहने पर प्रजापति रहेगा, परन्तु प्रजापति के कारण प्रजा रहती है, ऐसा नहीं कह सकते।

राजा, पालक, शासक की कल्पना पीछे से उत्पन्न हुई है। पहिले जनसमाज था। जनसमाज बहुत वर्णों से था, पश्चात् राजा से कुछ लाभ है, यह सोचकर राजा बनाया गया और कहा गया कि ‘राजा रञ्जनते प्रजा’। राजा वह है जो प्रजा का रञ्जन करता है। अर्थात् प्रजा निरपेक्ष है, राजा-शासक-पालक रहे या न रहे ‘प्रजाजन’ तो रहेंगे। वेद में वहा है—‘विराह् वा इदमग्र आसीत्। अथव० १५। ‘वि-राज्’ अर्थात् राजविहीन प्रजाजन ही पहिले थे।’ उस समय राजा की कल्पना भी नहीं थी। पर प्रजाजन थे, जनता थी। पश्चात् शासक की कल्पना हुई। अर्थात् जनसमाज शाश्वत अथवा मुख्य और शासक (प्रजापति) गौण है। रञ्जन करने वाला गौण होता है और जिसका वह रञ्जन करता है, वह मुख्य होता है। प्रजाजन न रहे तो राजा रह ही नहीं सकता, परन्तु राजा रहे या न रहे, प्रजाजन तो रह सकते हैं।

‘कस्य (प्रजापते:) धन’ इस मंत्रभाग में जो कहा है कि धन प्रजापति का है, प्रजापालक का है, उसमें यह भाव है कि प्रजा की पालना के लिए ही धन है, क्योंकि प्रजा ही मुख्य है, पालक उस प्रजा का आद्य सेवक, पालन करने के लिए नियुक्त कार्यवाहक है। प्रजापालन अच्छी तरह से करेगा तो वह कार्यालय में रहेगा, प्रजा का पालन अच्छी तरह से उससे न होने पर वह अपने स्थान से हटाया भी जाएगा। वेद में एक प्रजापति को हटाकर दूसरे प्रजापति को उसके स्थान पर रखने का वर्णन है।

वास्तोष्पति द्रतपां निरतक्षन् ।

ऋ० १०।६।१७

“नियमों का पालन करने वाले दूसरे प्रजापति को पहिले प्रजापति के स्थान पर नियत किया।” पहला प्रजापति नियमविरुद्ध कार्य कर रहा था, अतः उसको शासक के स्थान से हटाया गया और दूसरा प्रजापति वहां नियुक्त किया गया।

‘राजसूय’ यज्ञ इसीलिए है। राजा का, शासक का चुनाव इस यज्ञ में होता है। प्रजा सम्मति देती है और वह राज्य का शासक होता है। इसका तात्पर्य यह है कि प्रजा मुख्य है और सेवक गौण हैं।

परन्तु राजगढ़ी पर नियुक्त होने पर वही सब प्रजाजनों से अधिक आदरणीय समझा जाता है। उसके शासन से राज्य बलशाली, विजयी और प्रभावी हो जाता है। शासन के सब कार्यों में राजा ही अधिक वन्दनीय है। जिस समय वह राजा प्रजाधात के कार्य करने लगेगा, उस समय प्रजा के प्रतिनिधि उसको स्थानभ्रष्ट कर देंगे, परन्तु उससे पहले वही सर्वोपरि रहेगा।

प्रजा और राजा का गौणत्व और मुख्यत्व इस तरह देखने योग्य है। विशिष्ट प्रसंग के अनुसार

एक का और दूसरे का मुख्यत्व हो जाता है। मुख्य बात—धन व्यक्ति का नहीं, समष्टि का है, यह सिद्धान्त सार्वभौमिक है। अतः इसका विस्मरण नहीं होना चाहिए।

भूमि रूपी धन ग्राम की जनता के हित के लिए है। किसी व्यक्ति का वह धन नहीं है। राष्ट्र की भूमि राष्ट्र की जनता के लिए है। इसी तरह सब पृथिवी सब मानवों के हित के लिए ही है। किसी व्यक्ति को यह अधिकार नहीं कि वह अपने अपने अत्यधिक भूमि रखे और दूसरों को भूख से मरने का आपत्ति में डाले। भूमि के समान ही अन्य धनधार्य के विषय में समझना चाहिए।

मुख्य समष्टि है और व्यक्ति गौण है। समष्टि स्थायी और अमर है तथा व्यक्ति नाशवान् है, इसलिए कहा है कि धन समष्टि का है, प्रजा का है, किसी व्यक्ति विशेष का नहीं।

व्यक्ति समाज का आश्रित

बच्चा जिस समय उत्पन्न होता है, उस समय वह सर्वथा पराधीन रहता है। मनुष्य की संतान तो सर्वथा पराधीन रहती है। एक दो वर्ष तक तो मां का दूध पीकर रहना पड़ता है। पश्चात् माता, पिता, कुटुंब की सहायता से वह बढ़ता है, अनेतर गुरु से ज्ञान प्राप्त करके विद्वान् बनकर स्वयंप्रज्ञ कहलाता है। तब तक उसका पालन समष्टि द्वारा होता है। इसलिए कहा है कि समष्टि के आधार से व्यक्ति रहता है। 'जगत्यां' सप्तमी विभक्ति है। सप्तमी का अर्थ 'आधार, आश्रय, निवास' है। जगत् का आधार, जगत् का आश्रय, जगत् को निवास स्थान देने वाली जगती है। इसलिए जगत् के मन में जगती के विषय में आदर होना चाहिए। व्यक्ति सर्वथा समष्टि के आधार से रहता है, इसलिए व्यक्ति को उचित है कि वह समष्टि के लिए अपने भोग का त्याग करे। यह तालिका ऐसी बनती है—

१ व्यक्ति कुटुंब में रहता है,

२ " ग्राम में " "

३ " जाति में " "

४ " राष्ट्र में " "

५ जगत् जगती में रहता है

इसीलिए व्यक्ति कुटुंब, ग्राम, राष्ट्र के लिए दान करे। व्यक्ति के पास जो धन है, वह राष्ट्र या नगर के लिए है, ऐसा उस व्यक्ति को मानना चाहिए और त्यागपूर्वक जीवन व्यतीत करना चाहिए। व्यक्ति जीवित है, उसके जीवन के लिए उसकी जाति ने, उसके राष्ट्र ने, उसके ग्राम ने और कुटुंब ने बहुत कुछ साक्षात् अथवा परम्परया दान किया है। यह कर्जा व्यक्ति पर है, इसको उत्तम रीति से उतारना चाहिए। यदि व्यक्ति ने जाति और राष्ट्र के लिए कुछ भी नहीं किया, तो वह व्यक्ति जाति और राष्ट्र के कर्जे में रहा। कर्जे में रहना बुरा है। यहां यह भी ध्यान में रखना चाहिए कि व्यक्ति जिस कुटुंब में रहता है, उस कुटुंब का धारण राष्ट्र द्वारा होता है। परम्परया यह कहन कुटुंब पर रहता है। इस सब व्यवहार का विचार करके वेद ने संझेप में कहा है कि (जगत्यां जगत्) समष्टि के आधार से व्यक्ति है। व्यक्ति का जीवन समाज के आश्रय से है। इसलिए व्यक्ति के पास का धन समाज का धन है। प्रजापति का धन—इसका अर्थ यही है कि प्रजा का धन है,

समष्टि का धन है, जगती का धन है। संभूति का धन है।

शिष्य गुरु के आश्रय में रहता है, बालक माता-पिता के आश्रय में रहता है। इसलिए शिष्य के लिए गुरु और बालक के लिए माता-पिता संसेव्य हैं। इसी तरह व्यक्ति समाज और राष्ट्र के आश्रय से रहता है, इसलिए व्यक्ति के लिए समाज और राष्ट्र संसेव्य है, पूज्य है। इसी कारण कहा है कि धन प्रजापति का है, किसी एक व्यक्ति का नहीं। धन प्रजा के त्वित के कार्यों में खर्च होना चाहिए, किसी व्यक्ति के उपभोग के लिए नहीं। 'जगती के आश्रय से जगत् रहता है' ऐसा कहने से व्यक्ति का गौणत्व और समष्टि का मुख्यत्व सिद्ध होता है।

पाठक देखें कि वेद के एक वचन का आश्रय दूसरे वचन के साथ किस तरह मिलता है और किस तरह वाधक न होते हुए परिपोषक ही होता है। पाठक देखें कि वेद व्यक्ति की स्वतन्त्रता को समाज के हितार्थ अपर्ण कर रहा है।

आज प्रत्येक समाज में व्यक्ति का धन व्यक्ति के पास ही बंद रहता है। यद्यपि सरकार अनेक करों के रूप में उस धन का बहुत-सा भाग ले लेती है, तथापि व्यक्ति के पास धन-संग्रह बढ़ता जाय और उस कारण दूसरे व्यक्ति तदपेक्षया निर्धन रहें, ऐसी ही अर्थ-व्यवस्था आज है। इस कारण समाज में जो विषमता बढ़ रही है, वह जाना प्रकार के विलंबों को निर्माण करती है और इसी हेतु से सर्वेत्र अशांति फैल रही है। यदि यह अर्थ-व्यवस्था इस वैदिक सिद्धान्त के अनुसार बन जाए, तो सब लोग यहीं अपूर्व सुख का लाभ प्राप्त कर सकेंगे।

प्राचीन समय में अनेक प्रकार के यज्ञ किए जाते थे, उनमें एक 'सर्वमेघ' यज्ञ होता था। उसमें अपना सब धन जनता के हित के लिए दिया जाता था। जो इस यज्ञ को करते थे, वे धन-हीन जैसे बन जाते थे। सप्तांश भी दूसरे दिन से मिट्टी के पात्र बर्तने लगते थे। ऐसे यज्ञ का उद्देश्य इतना ही था कि किसी एक व्यक्ति के पास धन संग्रह न हो, धन जनता के हित के कार्य में लगे। ऐसा आज नहीं होता। भारत, यूरोप, अमेरिका में व्यक्ति के पास धनसंग्रह बढ़त हो रहा है। यह अवज्ञीय जीवन है। यह पाप हो रहा है। इसी से दुःख बढ़ रहे हैं। प्रत्येक मानता है कि 'मेरा धन है' कोई ऐसा नहीं मानता कि 'यह सब धन प्रजा का है'।

स्वामी कौन ?

यहां तक वैदिक अर्थ-व्यवस्था के मुख्य तत्त्वों का विवेचन किया। अब धन के स्वामित्व के विषय में वेद क्या कहता है, वह देखना है। वेद कहता है—

ईशा वास्यं इवं सर्वं यत् किंच । (वा० यजु० ४०।१)

"यहां जो भी कुछ है, उस सब पर ईश का स्वामित्व होने योग्य है।" यहां ईश का ही स्वामित्व होगा। अनीश का यहां रहना भी असंभव है। ईश ही यहां रहेगा, अनीश नहीं।

जिसमें ईशन शक्ति रहती है उसको ईश कहते हैं। 'ईश' का अर्थ 'शासन करना, शक्तिमान् होना, समर्थ होना, आज्ञा करना है।' जो राज्य शासन कर सकता है, जिसमें शासनशक्ति है, जिसमें सामर्थ्य है, जो दूसरों को आज्ञा करके उनसे कार्य ले सकता है, वह ईश है। जो राज्य शासन नहीं कर सकता, जिसमें शासन करने की शक्ति नहीं है, जो निर्बल है, जिसमें सामर्थ्य नहीं है, वह ईश नहीं है, वह अनीश है। अनीश ही दास होते हैं। ईश सामर्थ्यवान् होते हैं, स्वामी होते हैं, वे आर्य कहलाते हैं।

'ईशा वास्य' इस वचन में 'वास्य' क्रिया है। ईश क्या करता है वह इस क्रिया द्वारा बताया है। 'वास्य' में वस् धातु है, इस धातु का अर्थ (वस् निवासे) निवास करना, रहना, (वस् आच्छादने) आच्छादन करना, घेरना, लपेटना, (वस् स्तम्भे) स्थिर करना, सीधा करना, (वस् स्नेह-छेद-अपहरणे) प्रेम करना, काटना और अपहरण करना, यह है।

जो शासक शक्तिमान् है वह यहाँ रहता है, इसको घेरता है, इसको स्तब्ध करता है, अपने विश्व हलचल करने नहीं देता, विरोध करने पर इसको काटता है और इसके धन का अपहरण करता है और यदि जनता शान्त रहे, तो उस पर प्रेम भी करता है। ऐसा सामर्थ्यवान् पुरुष इस विश्व में राज्य शासन करता है। ऐसा प्रभावी वीर स्वामी होने योग्य है। जो इन गुणों से हीन हैं वे स्वामी अथवा शासक होने योग्य नहीं हैं।

परदेश में जाकर जिन्होंने वहाँ राज्य शासन किया उनमें यह सामर्थ्य था। जिनमें ये शक्तियाँ नहीं थीं उन्होंने अपना राज्य खो दिया। इन गुणों से जो युक्त होगा वही धन का स्वामी हो सकता है। इन गुणों से हीन स्वामी होने योग्य नहीं है। परदेश के लोग यहाँ आकर रहे, यहाँ के लोगों को उन्होंने घेर लिया, अपनी शक्ति से आच्छादित किया, यहाँ के लोगों को उन्होंने स्तब्ध किया, हिलने नहीं दिया, विरोध करने पर यहाँ के निवासियों का वध किया, धनादि का अपहरण किया और जो उनके वश हुए उन पर उन्होंने प्रेम भी किया, इसलिए उन परदेशियों का राज्य शासन यहाँ हुआ और बढ़ा। उनकी अपेक्षा हमारे अन्दर निर्बलता थी, इसलिए न हम बाहर जा सके और न वहाँ राज्य शासन कर सके। सभी देशों के इतिहासों में यह वेद सिद्धान्त स्पष्ट रूप से दिखाई देता है। इसलिए यह त्रिकालाबाधित सत्य है।

इस समय तक के विवेचन से निम्नलिखित सिद्धान्त प्रस्थापित हुए हैं—

१ ईशा वास्यं इदं सर्वं यत् किंच—यहाँ जो भी कुछ है उस पर ईशन शक्ति वाले का ही अधिकार रहेगा,

२ जगत्यां जगत्—समष्टि के आधार से व्यक्ति रहता है, इसलिए व्यक्ति को उचित है कि वह—

३ तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा:—अपने पास के धन का दान करके भोग करे,

४ मा गृधः—धन का लोभ न करे, लोभ छोड़ देवे।

५ कस्य स्विद् धनम् ?—धन किसका है, इसका विचार करे और जाने कि (कस्य प्रजा-पते: धनं) प्रजापालक का धन है। किसी व्यक्ति का धन नहीं है।

यह पूरा मन्त्र इस तरह है—

ईशा वास्यमिदं सर्वं यत्किंच, जगत्यां जगत् ।

तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा:, मा गृधः, कस्य स्विद्धनम् । वा० यजु० ४०।१ ईश० १,

यह मन्त्र अर्थ-सिद्धान्त और स्वामित्व के सिद्धान्त का प्रतिपादन करता है। इस मन्त्र के प्रत्येक पद का इतना महत्व है कि कोई पद उसके नियत स्थान से हटाया नहीं जा सकता। प्रत्येक पद अपने स्थान पर विशेष महत्व रखता है। अर्थ-सिद्धान्त पर इस समय बड़े-बड़े गन्थ लिखे मिलते हैं और स्वामित्व के विषय में भी प्रचुर वाड़मय है। पर इतने थोड़े शब्दों में यहाँ जो अर्थ रखा है वह दर्शनीय है। वेद की शैली की यही विशेषता है।

वैदिक समाजवाद

इस समय जगत् में व्यक्तिस्वतन्त्र्यवाद, समाजवाद, राष्ट्रीय समाजवाद, साम्यवाद—ऐसे अनेक वाद चल रहे हैं और उनके अनुयायियों ने अपने-अपने गुट बनाकर दूसरों को प्रभावशाल्य करने का प्रयत्न शुरू किया है।

आश्चर्य की बात यह है कि युद्ध के अनेक नामों में 'मम सत्य' यह एक नाम वैदिक कोश निघण्टु में दिया है। ठीक यह नाम आजकल के इन युद्धों के लिए प्रयुक्त किया जा सकता है। 'मम सत्य' का अर्थ है 'जो मैं कहता हूँ वही सत्य है, दूसरा जो कहता है वह सत्य नहीं है।' मेरा पक्ष सत्य पक्ष है, दूसरे का पक्ष असत्य पक्ष है, इसलिए दूसरे का पूर्ण नाश करना चाहिए। जो नाश के उपाय पचास वर्षों के पुर्व नहीं थे, वे आज उपलब्ध हैं, वे श्रीर बढ़ाये भी जा रहे हैं।

इस 'मम सत्यं' का प्रयोग वेद मन्त्र में देखिये—

त्वां जना ममसत्येष्विन्द्र संतस्थाना वि हृयन्ते समीके अत्रा युजं कृणते यो हृविष्मान् ।

ता सुन्वता सख्यं वष्टि शरः ॥ त्रृ० १०।४२।४; अथर्व० २०।८६।४

“हे इन्द्र ! लोग (सम सत्येषु) युद्धों में खड़े होके अपने विजय के लिए तुम्हे सहायतार्थ बुलाते हैं । वह शूर वीर इन्द्र उदार दाता को ही अपना मित्र बनाता है, परन्तु जो यज्ञ करने वाला नहीं होता, उससे मित्रता करने की इच्छा नहीं करता ।”

इस मन्त्र में 'मम सत्यं' पद बहुवचन में है, 'युद्धों में' ऐसा उसका अर्थ है। 'जनाः ममसत्येषु संतस्थानाः विद्वयन्ते' लोग मेरा मत सत्य है ऐसा कह के अपनी-अपनी पृथक्-पृथक् संघटना करते हैं, अपने अलग-अलग गुट बनाते हैं और प्रत्येक पक्ष अपने पक्ष की विजय के लिए इन्द्र को बुलाता है। प्रत्येक युद्ध के लिए दो पक्षों का होना आवश्यक है। दो पक्ष उपस्थित न हों, तो संघर्ष ही नहीं होगा। इसलिए प्रत्येक युद्ध में दो पक्ष हैं और 'ममसत्येषु' यह बहुवचनी पद कम से कम तीन युद्धों का तो भाव बताता ही है। तीन युद्धों के लिए छः पक्ष-प्रतिपक्ष चाहिएं और यह संख्या कम से कम है।

इस मन्त्र से स्पष्ट होता है कि 'ममसत्य' 'मेरा मत सत्य है' ऐसा कहने वाले पक्ष कम से कम छः तो होने चाहिए और उनमें कम से कम तीन युद्ध के प्रसंग तो उत्पन्न होने चाहिए। ऐसे पक्ष-प्रतिपक्ष उत्पन्न होने पर और उनमें युद्ध छिड़ने पर ये लड़ने वाले अपनी विजय चाहते ही होंगे, ऐसे समय में लड़ने वाले बीर अपनी विजय के लिए इन्द्र को बुलाते हैं। यह शूरवीर इन्द्र किस पक्ष के पास जाता था यह हम इसी मन्त्र में देखें—

१ यः हविष्मान् (तं) शुरः युजं कृष्टे ।

२ असन्वंता सख्यं न वहित ।

(१) जो यज्ञों में अन्त लाकर उसका यथेच्छ दान करता है, उसके साथ वह शूरवीर मित्रता करता है और उस मित्र की सहायतार्थ वह सत्त्वर जाता है। (२) पर जो यज्ञ नहीं करता उसकी

सहायता वह नहीं करता और युद्ध में उसकी सहायता करने के लिए भी नहीं जाता।

यज्ञ का अर्थ है (१) श्रेष्ठ पुरुषों का सत्कार करना, (२) आपस की संघटना करना और (३) दीनों की सहायता करना। इन विविध कर्मों को जो करता है वह मानो यज्ञ करता है। और जो इन विविध कर्मों को नहीं करता, वह यज्ञ नहीं करता। यज्ञ करने वाले की सहायता इन्द्र करता है। 'ममसत्य' नामक भगवे में इन्द्र उसकी सहायता करता है, जो श्रेष्ठों का सत्कार, आपस की संघटना और दीनों की सहायता करता रहता है। इन सर्वजनहितकारी कर्मों को करने वाले की ही सहायता की जाती है। इसलिए ऐसे श्रेष्ठ कर्म करते रहना मनुष्यों के लिए लाभदायी है। यहां युद्ध में किसकी सहायता प्रभु करता है और किसका नहीं, यह स्पष्ट हुआ।

'मेरा मत सत्य है' (मम सत्यं) यह अहंकार वेद से लेकर इस समय तक चला आया है। व्यक्तिवादी, समाजवादी, राष्ट्रीय समाजवादी और साम्यवादी के रूप में वही 'मम सत्यं' युद्ध शुरू है। आज ये लोग क्या कहते हैं, देखिए—

व्यक्ति स्वातन्त्र्यवादी कहते हैं कि 'व्यक्तियों से समाज तथा राष्ट्र बनता है। प्रत्येक व्यक्ति उन्नत हो तो सारा समाज और सारा राष्ट्र उन्नत होता है, इसलिए अपनी उन्नति का साधन करने के लिए व्यक्ति को पूर्ण स्वातन्त्र्य मिलना चाहिए। परतन्त्र व्यक्ति अपनी उन्नति किस तरह कर सकता है? मनुष्य की सब शक्तियों का पूर्ण विकास होना चाहिए और ये सब विकसित शक्तियां मनुष्य के अधीन रहनी चाहिए, इतना ही नहीं प्रत्युत ये सब विकसित शक्तियां मानवता का प्रकाश करने में लगनी चाहिए। मनुष्य को स्वतन्त्रता न रहे, तो यह शक्ति-विकास नहीं हो सकता। इसलिए प्रत्येक मनुष्य को पूर्ण स्वातन्त्र्य मिलना चाहिए।'

प्रत्येक व्यक्ति स्वतन्त्र रीति से जन्म लेता है, स्वतन्त्र रीति से मरता है। जन्मते समय वह किसी से पूछता नहीं और न मरने के समय वह किसी से पूछता है। प्रत्येक का कर्म उसके साथ रहता है। प्रत्येक जीव व्यक्तिशः तथा स्वभावतः स्वतन्त्र है। प्रत्येक की निद्रा और जाग्रति स्वतन्त्र होती है, प्रत्येक की भूख और प्यास स्वतन्त्र है, रोगी तथा निरोगी अवस्था प्रत्येक की स्वतन्त्र है। एक के ग्रन्थ भगवण से दूसरे का पेट नहीं भर सकता। पुत्र, मित्र, भाई आदि नाते के सम्बन्ध औपचारिक हैं, ये सम्बन्ध सत्य मानना ही भ्रम है। जल में नाना पात्र पड़े हैं, उनमें से कुछ पात्र एक स्थान पर आ गये और मिल गये, तो उनका सम्बन्ध एक नाते का नहीं माना जा सकता। अतः प्रत्येक जीव स्वतन्त्र है। कौन है किसका मित्र और किसका भाई। ये नाते का सम्बन्ध मिथ्या भ्रम है। प्रत्येक व्यक्ति स्वरूपतः भिन्न है। इस भिन्नता को स्वीकार करके ही उन्नति का विचार करना चाहिए। इसलिए हम व्यक्ति की पूर्ण स्वतन्त्रता मानते हैं और प्रत्येक व्यक्ति को स्वतन्त्र रीति से अपनी उन्नति करने के लिए पूर्ण अधिकार देते हैं।

यह सम्मति व्यक्ति-स्वातन्त्र्यवादियों की है। यह व्यक्तिस्वातन्त्र्यवादियों का 'मम-सत्यं' है।

समाजवादियों का मत

समाजवादियों का 'ममसत्यं' अर्थात् उनकी सम्मति देखिए। समाजवादी कहते हैं कि जिस समय व्यक्ति की ज्ञान और कर्मशक्ति बढ़ जाती है, बुद्धि और प्रबन्ध-शक्ति बढ़ जाती है, उस समय

उसके पास धन आदि का संचय अधिक होता है। वह पूँजीपति बनकर बड़े-बड़े कारखाने निर्माण करता है और अधिक धन संचय करने लगता है। धनशक्ति लोभ बढ़ाती है और लोभ बढ़ जाने से स्वार्थ इतना बढ़ जाता है कि उसकी कोई सीमा नहीं रहती। धनी व्यक्ति अपने धन के बल से अनेक उपभोग के साधन अपने अधिकार में कर लेता है और दूसरे को इन भोगों से वंचित रखता है। इसीलिए वर्ग-कलह होता है। धनी और निर्धन के अन्दर द्वेष होता है। इसलिए सब धन और कारखानों का समाजीकरण करना आवश्यक है। समाजवाद ही इन दुःखों को दूर कर सकता है, कोई दूसरा उपाय नहीं है। धन का अथवा किसी भी शक्ति का केन्द्रीकरण नहीं होना चाहिए। विकेन्द्रीकरण से ही समाज सुखी हो सकता है। व्यक्ति को पूर्ण स्वतन्त्र करने से ज्ञान, शासन, धन और कर्म की शक्तियों का केन्द्रीकरण अनिवार्य है। अतः समाजवाद की दृष्टि से ही समाज-व्यवहार पद्धति बननी चाहिए। वस्तुतः समाज ही मुख्य है।

व्यक्ति की स्वतंत्रता मानने से संघ शक्ति नष्ट होती है। बिखरे हुए व्यक्ति अपने स्वातंत्र्य में मस्त होते हैं और अपनी संघटना नहीं होने देते। संघ शक्ति का बड़ा महत्व है। और यदि संघटना का बल प्राप्त करने की इच्छा हो तो व्यक्ति के स्वातन्त्र्य पर अंकुश रखना चाहिए। व्यक्ति कितना भी समर्थ हो, वह समाज के सांघिक बल की बराबरी नहीं कर सकता। इसलिए व्यक्ति को बहुत स्वातन्त्र्य देना ठीक नहीं।

समाजवादी पक्ष का मत यह है कि समाज का हित साधन करने के लिए व्यक्ति पर नियमन करना अत्यन्त आवश्यक है। समाज हित मुख्य है। समाज सुखी हुआ तो व्यक्ति का सुख उसी में हो जाता है। समाजवाद से सांघिक बल बढ़ता है और समाज का सुख सामुदायिक आयोजनाओं से बहुत बढ़ाया जा सकता है। इसलिए समाजवाद की पद्धति से ही राज्य शासन होना चाहिए।

राष्ट्रीय समाजवाद के तत्व भी ऐसे ही हैं। 'समाज' के स्थान पर वे 'राष्ट्र' शब्द का व्यवहार करते हैं।

साम्यवाद का मन्तव्य

साम्यवाद का मुख्य तत्व सबकी समता व्यवहार में लाना है। जैसे सेवक और स्वामी—ये दोनों मनुष्य हैं, दोनों की आवश्यकताएं समान रीति से पूरी होनी चाहिए। सेवक चार-पांच रोटियां खाकर उनको पचा सकता है, परन्तु स्वामी आधी रोटी भी नहीं खा सकता। परन्तु स्वामी का वेतन पांच हजार रुपए मासिक होता है और सेवक के लिए पचास रुपए भी मिलना कठिन होता है। यह विषमता टीक नहीं है। इस विषमता के कारण मानवता का विकास नहीं हो रहा है। इसलिए जहां तक हो सके वहां तक सब मानवों की समता व्यवहार में स्थापित करनी चाहिए।

मनुष्य को रहने के लिए अच्छा स्थान चाहिए, भोजन के लिए पुष्टिकारक आल चाहिए, औद्धने और पहनने के लिए अहतु अनुसार उचित वस्त्र चाहिए, योग्य शिक्षण, ज्ञान प्राप्त करने के साधन सबको मिलने चाहिए। धन न होने के कारण किसी को ज्ञान प्राप्त नहीं हो सका, ऐसा नहीं होना चाहिए। रोग होने पर श्रौतध मिलना चाहिए, समय पर विश्राम मिलना चाहिए, वृद्ध

अवस्था में जो आवश्यकताएं होंगी, उनकी पूर्ति की व्यवस्था होनी चाहिए। ऐसा प्रबन्ध राज्य शासन द्वारा होना चाहिए कि कोई मनुष्य मानवी आवश्यकताओं से बंचित न रहे।

इसमें व्यक्ति की पृथक् सत्ता नहीं है। राष्ट्र का एक अवश्यक है व्यक्ति। वह राष्ट्र के लिए जीवित रहता है। उसे राष्ट्र सेवा के कार्य अनिवार्य रूप से करने ही चाहिए। कोई व्यक्ति पूर्ण रूप से स्वतन्त्र नहीं है। राष्ट्रहित के कार्य उत्तम रीति से निभाने के लिए व्यक्ति पूर्णतया परतन्त्र है।

इस तरह इन पक्षों के ये मत हैं और इनके आग्रह के कारण इनके अन्दर बड़ा वैमनस्य फैल रहा है और जगत् में ये एक दूसरे का पूर्ण नाश करने के लिए कटिबद्ध दीखते हैं। यही इनका 'मम सत्यं' है। ये सब पक्ष वस्तुतः मानव जाति का कल्याण करने की इच्छा करते हैं, उनके कार्यक्रम में जनता का कल्याण करने की इच्छा व्यक्त होती है। परंतु इनमें अपने पक्ष का दुराग्रह और दूसरे के पक्ष का तिरस्कार रहता है। यही मानसिक वृत्ति 'मम सत्यं' इस वैदिक पद में है और यही मनोवृत्ति सब भागड़ों का मूल है। इसको देखने से वैदिक मन्त्र की सचाई दिखाई देती है।

यहां तक हमने विश्व में प्रचलित नाना प्रकार की मत-प्रणालियों के कार्यक्रम देखे। सबमें 'व्यक्तिवाद और समाजवाद' का संघर्ष ही है। हमें विचार करना चाहिए कि इस संघर्ष का निवारण वेद ने किस रीति से किया है।

व्यक्ति और संघ

अन्धन्तमः प्रविशन्ति येऽसंभूतिमुपासते । ततो भूय इव ते तमो य उ संभूत्यां रताः ॥६॥

अन्यदेवाहुः संभवादन्यदाहुरसंभवात् । इति शुश्रुम धीराणां ये नस्तद्विच्चक्षिरे ॥१०॥

संभूतिं च विनाशं च यस्तद्वेदोभयं सह । विनाशेन मृत्युं तीर्त्वाऽसंभूतमश्नुते ॥११॥

(वा० यजु० ४०, काण्व ४०, ई० ८०)

इन मंत्रों में व्यक्ति और समाज के सम्बन्ध कैसे होने चाहिए, इसका उत्तम वर्णन है। व्यक्ति और समाज के सम्बन्ध कैसे होने से बिगड़ होता है और कैसे होने से सुधार होता है—इसका विचार इन मंत्रों में किया गया है।

इनमें मुख्य विषय का वर्णन करने वाले पद ये हैं:—

असंभूति—(मंत्र ६) — संभूति

असंभव („ १०) — संभव

विनाश („ ११) — संभूति

जगत् („ १२) — जगती

इस तालिका से स्पष्ट है कि 'संभूति, संभव और जगती' ये पद एक अर्थ बताने वाले हैं। और 'असंभूति, असंभव विनाश और जगत्' ये पद एक अर्थ बताने वाले हैं।

'जगत्' एक वस्तु का नाम है और उसी वस्तु की समछिद अथवा संघ का नाम 'जगती' है। 'जगती' समाहारः जगती' अनेक जगतों का संघ जगती कहलाता है। 'जगत्' उसको कहते हैं जो 'गच्छति' हलचल करता है, गति करता है। ऐसे गतिमानों के संघ का नाम 'जगती' है। एक व्यक्ति और उनका संघ यह भाव 'जगत् और जगती' का है।

'संभूति' का अर्थ है (सं—) मिलकर, एक होकर, संघ बनाकर (भूति) रहना, होना, बढ़ना। मिलकर रहना, एक होकर रहना, संघ बनाकर रहना, समाज बनाकर बढ़ना। यह संभूति का मूल अर्थ है। यह अर्थ पूर्वोक्त 'जगती' के अर्थ के साथ मिलता-जुलता है। जो अर्थ 'संभूति' का है वही अर्थ 'संभव' का है क्योंकि दोनों में एक ही धातु और एक ही उपसर्ग है। अतः धात्वर्थ एक ही है।

'संभव' शब्द का अर्थ 'उत्पत्ति, जन्म' ऐसा प्रसिद्ध है। 'कुमारसंभव' का अर्थ कुमार का जन्म है। यहाँ भी 'पञ्चतत्व, पंच कर्मन्दिय, पंच ज्ञानेन्द्रिय, अन्तःकरणचतुष्टय, आत्मा ये प्रत्येक विखरे थे, वे एक होकर इस कुमार के रूप में जन्मे हैं। यहाँ भी विखरे तत्त्वों की संघटना ही है। जहाँ जन्म होता है, जहाँ नवजीवन प्रकाशित होता है, वहाँ ऐसी 'अनेक विखरी शक्तियों की संघटना ही प्रथम होती है पश्चात् उस संघ के कारण नवजीवन प्रकट होता है। संभूति में प्रथम शक्तियों का संघटन और पश्चात् नवजीवन का संचार है। विश्व का संभव (जन्म, उत्पत्ति) होने में अथवा बालक का संभव (जन्म) होने में यही तत्व है।

मानव संघ में भी यही बात है, प्रथम (सं) एक होकर (भू) रहना और पश्चात् नवजीवन के स्फुरण से प्रकाशित होना।

'संभूय समुत्थान' का अर्थ है संघ करके उठना, अथवा संघ से शत्रु पर आक्रमण करना। इसलिए ये पद (१) सैनिकों के सांधिक आक्रमण के लिए तथा (२) व्यापारियों के सांधिक व्यवहार के लिए अथवा (३) कर्मचारियों के संघों के लिए प्रयुक्त होते रहे हैं। स्मृति शास्त्रों में इस अर्थ में ये पद प्रयुक्त हुए हैं। इनका पदशः अर्थ (सं-भूय) एक होकर, मिलकर संघ बनाकर, (समुत्थान) उठना, कार्य करना ऐसा है। जो संभूति और संभव नहीं, वह असंभूति और असंभव है। इनका अर्थ संघ बनाकर न रहना, अर्थात् व्यक्तिशः रहना, व्यक्ति का पृथक्-पृथक् रहना है।

अब एक पद रहता है वह है 'विनाश'। यह पद 'अ-सं-भूति' अर्थ में यहाँ प्रयुक्त हुमा है। 'असंभूति' का अर्थ 'व्यक्ति की पृथक्-पृथक् दिथिति है' ऐसा है। यह असंघटना की अवस्था है, इसी का नाम 'विनाश' है। क्योंकि व्यक्ति विनाश को प्राप्त होता है और संघ अजरामर रह सकता है। असंघटना के जीवन का नाम 'विनाश' देकर यहाँ बड़ा ही बोधप्रद सिद्धान्त वेदमंत्र ने बताया है कि मानवों का अमरत्व संघभाव से है और व्यक्ति बिखरा हुआ रहे, तो व्यक्ति का नाश निश्चित है। इतने विवरण के पश्चात् अब वही तालिका देखिए कौसी परिपूर्ण अर्थ वाली बनी है।

असंभूति	संभूति
असंभव	संभव
विनाश	अग्ररत्व
जगत्	जगती
व्यक्ति	संघटि, संघ

इस तालिका से यह स्पष्ट हुआ कि 'असंभूति' का अर्थ 'व्यक्ति, असंघटित व्यक्ति' और 'संभूति' का अर्थ 'संघ, संवित समाज' है। इन पदों के अर्थों के विषय में इतना स्पष्टीकरण करने

की आवश्यकता यहां इसलिए पड़ी कि कई विद्वानों ने इन पदों के अर्थ विलक्षण किए हैं। वे अर्थ यहां नहीं हैं, यह प्रथम विवित होना चाहिए।

अन्य टीकाकार

उदाहरणार्थं श्रीमात् परमपूजनीय शंकराचार्यजी ने 'संभूति-असंभूति' का पहिले मंत्र में कुछ अर्थ किया, पर वह तीसरे मंत्र में अनुकूल न पड़ा, इसलिए उन्होंने लिखा कि 'अत्र अकारलोपो द्रष्टव्यः' अर्थात् यहां 'संभूति' के स्थान पर 'असंभूति' और 'असंभूति' के स्थान पर 'संभूति' लेकर अर्थ करना चाहिए। दूसरे कई टीकाकारों ने इसका खंडन भी किया है। ये लोग हमारे लिए सदा बदनीय हैं, पर इस तरह मंत्र का अर्थ ठीक तरह नहीं हो सकता। वस्तुतः इन पदों का अर्थ करने के लिए इसी सूक्त के अन्तर्गत प्रमाण लेने चाहिए। प्रथम मंत्र में 'जगत्यां जगत्' ये दो पद हैं। जगत् कैसा है, 'जगती' के अधिकरण में रहने वाला जगत् है। जगती के आधार पर रहने वाला जगत् है। जगत् एक व्यक्ति है और अनेक जगतों की समष्टि जगती है। अर्थात् समष्टि के आधार से व्यक्ति रहता है। यह सिद्धान्त प्रथम मंत्र में स्थिर किया, पश्चात् उसी सिद्धान्त का अधिक स्पष्टीकरण करने के लिए ये तीन मंत्र दिए हैं।

यह अध्याय के अन्दर का ही प्रमाण है और इसकी ओर ध्यानपूर्वक देखने से 'व्यक्ति और समष्टि' का विचार यहां है—यह स्पष्ट हो जाता है। अतः यह भाव लेकर ही अर्थ करने से मंत्रों का सत्य अर्थ प्रकट हो जाता है और कोई संदेह नहीं रहता।

इस समय तक के विवरण के अनुसार निम्नलिखित पदों के निम्नलिखित अर्थ हमने यहां लिए हैं—

१ संभूति, संभवन—(सं) एक होकर (भूति, भवन) रहना, होना, बढ़ने का कार्य करना, संघीय जीवन व्यतीत करना। समाज भाव से रहना। समाजवाद।

२ असंभूति, असंभव—एक होकर न रहना, संघभाव से न रहना। अकेले-अकेले पृथक्-पृथक् रहना। व्यक्ति-स्वातंत्र्यवाद मानना। इसी का नाम 'विनाश' है क्योंकि व्यक्ति मरता है। 'असंभूति तथा विनाश' यहां एक ही भाव बताने वाले दो पद हैं।

ये अर्थ स्वीकार करके अब पूर्वोक्त मंत्रों का अर्थ नीचे देते हैं—

१ (ये असंभूति उपासते) जो व्यक्तिस्वातंत्र्यवाद का अवलंबन करते हैं, वे अवपत्ति को प्राप्त होते हैं। (६)

२ परन्तु जो समाजवाद में रमते हैं वे उससे भी अधिक नीचे गिरते हैं। (६)

३ समाजवाद का एक विलक्षण फल है और व्यक्ति स्वातंत्र्य का भी एक विलक्षण फल है। ऐसा हमने ज्ञानियों से सुना है, जो इस विषय की चर्चा करने में प्रवीण हैं। (१०)

४ समाजवाद और व्यक्तिवाद ये दोनों साथ-साथ रहें तो लाभदायक होते हैं। व्यक्तिवाद के अनुष्ठान से व्यक्ति के कष्ट दूर किए जाते हैं और समाजवाद से ग्रमरत्व की प्राप्ति होती है। (११)

यही इन मंत्रों का भावानुवाद है।

असंभूति के उपासक

कई लोग असंभूति के पुजारी होते हैं और कई संभूति के उपासक होते हैं। अर्थात् कई व्यक्तिवादी होते हैं और कई समाजवादी होते हैं। 'अ-सं-भूति का अर्थ न मिलकर रहने वाले' अर्थात् समाज संगठन की पर्वाह न करते हुए व्यक्ति पूर्णरूप से स्वतन्त्र है ऐसा मानने वाले (अन्धंतमः प्रविशन्ति) अन्धकार में जाते हैं, अज्ञान में रहते हैं और बड़ा दुःख उठाते हैं। यह कैसे होता है देखिए—

व्यक्तिवादी लोग व्यक्ति का सुधार करते रहते हैं और समझते हैं कि प्रत्येक व्यक्ति सुधर गया तो उनका बना समाज सुधर जाता है। ऐसा विचार करके ये लोग व्यक्ति को पूर्णरूप से स्वतन्त्र मानकर व्यक्ति की पवित्रता, सुधार और उन्नति के लिए जो चाहिए सो करते हैं। व्यायाम, स्नान, संध्या, उपासना, पूजा, पाठ अध्ययन, भोजन, रहन-सहन जो भी व्यक्ति की सुस्थिति के लिए आवश्यक हैं वह सब ये करते हैं। व्यक्ति स्वतन्त्र रूप से अकेला जन्मता है और अकेला ही मर जाता है। न यह जन्मते समय दूसरे को साथ लाता है और न यह मरने के समय दूसरे को साथ ले जाता है। प्रत्येक व्यक्ति के पीछे उसका कर्म लगा रहता है, वही मरणोत्तर उसके साथ जाता है। कोई किसी दूसरे से सम्बद्ध नहीं, इसलिए प्रत्येक को अपने उद्धार के लिए यत्न करना चाहिए, दूसरे के भंजटों में पड़ने की ज़रूरत नहीं। ऐसा ये कहते हैं और व्यक्ति के लिए जो करना आवश्यक होता है वह ये करते रहते हैं। इसलिए संघर्षकित से वंचित रहते हैं। मुझे दूसरों की कुछ भी नहीं पड़ी है, दूसरा अपनी व्यवस्था देखे, मैं अपनी देखूँगा।

कर्मानुगो गच्छति जीव एकः ।

अपने कर्मों के अनुसार मनुष्य की उच्च अथवा नीच गति होती रहती है। इसलिए मैं अपने हित के लिए यत्न करूँगा। पूर्ण व्यक्तिवाद का यह स्वरूप है।

पूर्ण व्यक्तिवाद जब बढ़ जाता है, तब वह व्यक्ति की पवित्रता में दत्तचित्त होता है। परिणामतः दूसरे से धूणा इसके मन में उत्पन्न हो जाती है। अपने शरीर से दुर्गन्धि आने के कारण वह अपने शरीर से ही धूणा करने लगता है, फिर दूसरे से धूणा करे तो इसमें आश्चर्य ही क्या है?

शौचात् स्वांगजुगुप्सा । 'परैः असंसर्गः ॥' योगदर्शन

"पवित्रता करते-करते अपने शरीर के अंगों से धूणा उत्पन्न होती है। परिणामतः दूसरों के साथ इसका संसर्ग ही कम हो जाता है। अपने नाक, कान से मल बाहर आता है, पसीना आता है, उसकी बदबू आती है, अन्य इंद्रियों से अन्य मल बाहर आते हैं इसलिए वह अपने शरीर की दुर्गन्धि देखता है और अपने तथा दूसरों के शरीर से धूणा करने लगता है। व्यक्तिवादी जीवन का यह भयंकर परिणाम है।

भारतवर्ष में हिन्दू जाति में यही हुआ है। यहां प्रत्येक व्यक्ति पृथक्-पृथक् है। व्यक्तिवाद की यहां पराकाष्ठा हुई है। वैदिक धर्म से लेकर उपनिषद् तथा गीता तक समविट या संभूति का जीवन था। इसलिए वहां यज्ञ-याग आदि सामुदायिक प्रशस्त कर्म होते थे, जन-संपर्क अधिकाधिक होता था। न इस समय 'स्वांगजुगुप्सा' थी और न ही 'परैः असंसर्गः' (दूसरों से सम्पर्क न रखने का भाव) था। गीता कहती है कि व्यक्तिवादी मनुष्य 'विविक्तदेशसेवित्वं अरतिजन्नसंसदि'

(गी० १३।१०) 'एकान्त में रहता है और जनसभा में नहीं जाता' । यह व्यक्तिवाद की अन्तिम अवस्था होती है ।

दूसरे तथा अपने भी शरीर की जिसको धूणा होती है, वह अकेला ही धूमेगा, वह दूसरे के साथ बैठेगा भी नहीं । उसको दूसरों के शरीरों से दुर्गच्छ आने लगेगी । ऐसी अवस्था में वह किसी स्त्री से विवाह भी कैसे करेगा ? इसलिए ये व्यक्तिवादी ब्रह्मचर्य की ओर झुकते हैं । तरुणपन में ब्रह्मचर्य और ब्रह्मचर्य के पश्चात् संन्यास ही ये लेते हैं और स्त्री-सम्बन्ध को बहुत बुरा मानते हैं । व्यक्तिवादी अपने शरीर की शुद्धता करते-करते, इस भयानक अवस्था तक पहुंचते हैं । वैदिक धर्म में यह नितान्त व्यक्तिवाद है ही नहीं । वहां ब्रह्मचर्य के बाद गृहस्थाश्रम है, उसके बाद वानप्रस्थ है । ये सब आश्रम जनसंपर्क के ही हैं । यहां न अपने शरीर से धूणा है और न ही दूसरों के शरीर की निन्दा है । यहां शरीर तो देवताओं का मन्दिर है, सप्त क्रृषियों का आश्रम है । इसलिए वैदिक धर्म में स्वांग जुगुप्सा किस तरह हो सकती है ?

व्यक्ति स्वातन्त्र्यवादियों की यह और कुलपना है, जो मानव-समाज का घात करने वाली है । कैसा घात इस कल्पना ने हिन्दू समाज का किया है ? कहावत ही है कि यहां 'दस मनुष्य हों तो ग्यारह चूल्हे होंगे ।' यह व्यक्तिवाद की पराकाष्ठा है । यहां संघटना का पूर्ण अभाव इसी व्यक्तिवाद के कारण है ।

"व्यक्तिवाद के पूजक अन्धकार में जाते हैं" यह जो कहा है वह इस व्यक्तिवाद के परिणाम को देखकर ही कहा है । जो व्यक्तिवादी होते हैं वे धमणी भी होते हैं । धमण्ड इनमें इसलिए होता है कि मैं अधिक तपस्त्री, अधिक शुद्ध, अधिक सात्त्विक हूं । इस तरह ये मैं अधिक शुद्ध और दूसरा अधिक अपवित्र है, ऐसा मानकर व्यवहार करते लगते हैं । [इस कारण विद्वेष बढ़ता है । जो अपने आपको अधिक उच्च समझता है उसी से अन्य लोग देष्ट करते लगते हैं ।

जहां व्यक्तिवाद बढ़ता है वहां दो आदमियों का समझौता होना कठिन हो जाता है । इससे असंघटना होती है और संव बल का अभाव होने से वह समाज अत्यन्त निर्बल हो जाता है । कोई भी आ जाए और उसको दबा दे, यह प्रवस्था आ जाती है । हिन्दू समाज व्यक्ति-स्वातन्त्र्यवादी होने के कारण ही निर्बल बना है । वास्तव में सब हिन्दू एक धर्म के बंधन से बंधे हैं, परंतु देखा जाय तो वेषभूषा, खान-पान, भाषा, रहन-सहन में इतनी पृथकता है कि इस समाज को एक कहना असम्भव प्रतीत होता है । पराङ्मियों [देखिए, प्रान्त-प्रान्त की पृथक् तो हैं ही, पर प्रत्येक प्रांत में भी जाति उपजाति की पृथक् हैं । इस तरह अन्य वेषभूषा के विषय में जान सकते हैं । एक देश में रहने वाले और एक धर्म के मनुष्यों के रहन-सहन में इतनी विभिन्नता किसी दूसरे देश में नहीं दिखाई देती ।

इसीलिए कहा है, जो व्यक्तिनिष्ठ होते हैं वे अन्धकार में जाते हैं । यह अन्धकार असंघटना से उत्पन्न होने वाला है । इसका परिणाम सामृद्धिक निर्बलता है । ये असंघटित होने से बड़ा दुःख प्राप्त करते हैं । इनकी उन्नति नहीं हो सकती । ये अवपत्ति होकर गिरते ही जाएंगे ।

संभूति के उपासक

इसके आगे कहा है कि "ततो भूय इव ते तमो य उ संभूत्यां रताः ।" जो संभूतिकी—

संघटना की ही उपासना करते हैं वे उससे भी अधिक घने अन्धेरे में जाते हैं। जो संघ शक्ति की उपासना करते हैं वे अधिक दुःख में गिरते हैं। केवल व्यक्तिभाव की उपासना करने वाले जितने गिरते हैं, उससे अधिक संघभाव में रमने वाले गिरते हैं। यह प्रथम विचित्र-सा प्रतीत होता है, पर विचार करने पर पता लगेगा कि इसमें सत्य है।

देखिए, जो संघटनावादी, समाजवादी, संघवादी होंगे, वे संघटन शक्ति बढ़ाने के लिए व्यक्ति का स्वातन्त्र्य नष्ट कर देंगे, क्योंकि किसी व्यक्ति को यदि स्वातन्त्र्य मिला तो वह व्यक्ति पृथक् रहेगा, और उस प्रमाण में संघटना शिथिल होगी। इसलिए ये समाजवादी व्यक्ति की स्वतन्त्रता विनष्ट करते हैं और अपने समाज की संघटना की शक्ति बढ़ाते हैं। समाजवादियों के समाज का व्यक्ति अत्यन्त दब जाता है अतः विकसित नहीं होता।

जिस समाज का प्रत्येक व्यक्ति इस तरह दब जाता है, वह समाज भी दबा हुआ; गुलामी वृत्ति वाले लोगों का समाज बन जाता है। यद्यपि इस समाज में सांघिक बल बढ़ा हुआ दीखता है तथापि वह समाज दबे हुए व्यक्तियों का होने के कारण मानवता की दृष्टि से अवनत ही होता है। सब लोग मानसिक गुलामी से दबे हुए और ऐसे दबे हुओं का समाज, यद्यपि सांघिक शक्ति से युक्त होगा, तो भी वह गुणों का सा समाज होगा और मानवता के उच्च स्तर पर उसका कुछ भी मूल्य नहीं होगा।

केवल व्यक्ति स्वातन्त्र्यवाद जैसा बुरा है, वैसा अथवा उससे भी अधिक बुरा है समाज संघटनावाद। इन दोनों की उपासना पृथग्भाव से करने वाले गिरते ही जाते हैं। यहां के वाक्य मनन करने योग्य हैं—

१ असंभूति उपासते—व्यक्तिभाव के उपासक।

२ संभूत्यां रताः—संघजीवन में रमने वाले।

यहां भाव यह है कि (१) समाज संघटना की ओर दुर्लक्ष्य करके जो व्यक्ति को पूर्ण स्वातन्त्र्य देते हैं वे गिरते हैं, वैसे ही (२) जो समाज संघटित करने में ही रमते हैं, परन्तु व्यक्तिविकास की ओर बिलकुल ध्यान नहीं देते वे भी उससे अधिक गिरते हैं। एक ही मन्तव्य में दत्तचित्त रहना और दूसरे मन्तव्य के विचारों की ओर नहीं जाना, यह अवस्था दोष बढ़ाने वाली है। यह इस वर्णन का तात्पर्य है। अपनी पद्धति को मनुष्य स्वीकारे और उसका प्रचार भी करे, परंतु दूसरी पद्धति में यदि कोई गुण हो तो उस पर भी मनुष्य विचार करे, यह अत्यन्त आवश्यक है। इसलिए कहा है कि दूसरे पक्ष का बिलकुल विचार न करने वाले और अपने विचार में ही रमने वाले गिर जाते हैं।

प्रत्येक पक्ष में कुछ न कुछ गुण भी होते हैं और दोष भी होते हैं। इनका विचार करना चाहिए और जहां जो गुण हो, उसको वहां से लेना चाहिए।

व्यक्ति को स्वतन्त्रता देने से वैयक्तिक गुण का विकास होता है, गुणों की वृद्धि होने से विशेषीकरण होता है, अर्थात् व्यक्ति का व्यक्तित्व रहता और बढ़ता है। यह अत्यावश्यक भी है। व्यक्ति की उन्नति, व्यक्ति स्वतन्त्र रहे, अपने भविष्य के विषय में सोचता रहे, अपनी उन्नति के लिए विशेष प्रयत्न करता रहे, तभी हो सकती है। यदि व्यक्ति गुलाम की तरह पराधीन ही रहे, यदि वह कैदी जैसा अस्वतन्त्र रहे, तो उसकी उन्नति नहीं होगी। व्यक्ति के गुणों का विकास

करने के लिए व्यक्ति को स्वतंत्रता चाहिए।

इसी तरह संघटना करने से सांघिक बल भी प्राप्त होता है। मानवी उन्नति के लिए जिस तरह व्यक्ति के गुणों का विकास होना अत्यन्त आवश्यक है उसी तरह सांघिक बल भी बढ़ना चाहिए। ऐसा होने से दोनों से लाभ हो सकते हैं और दोनों और की आपत्तियाँ टाली जा सकती हैं। दोनों आपत्तियाँ टल जाय और दोनों लाभ प्राप्त हों ऐसा करने की सूचना वेद यहाँ दे रहा है। इन दोनों का समन्वय वेद ने कैसे किया यह देखिए—

दोनों का समन्वय

संभूति च विनाशं च यस्तद्वेदोभयं सह । विनाशेन मृत्युं तीर्त्वा संभूत्यामृतमश्नुते ।

“संघभाव और व्यक्तिभाव इन दोनों का समन्वय करने से लाभ होते हैं। यह जो जानता है, वह व्यक्तिभाव से व्यक्तिगत दुःख दूर करके संघभाव से अमरत्व प्राप्त करता है।” मानवी उन्नति के लिए यह दोनों के समन्वय का सुवर्णनियम वेद ने दिया है।

मनुष्य अमरत्व चाहता है, वह अमरत्व ‘संभूति’ से ही मिल सकता है। ‘संभूत्या अमृतं अश्नुते’ संघ से अमरत्व प्राप्त होता है। व्यक्ति कभी अमर होने वाला नहीं है। व्यक्ति अनेक यत्न करने पर भी किसी न किसी समय अवश्य मर जाएगा। वसिष्ठ, वामदेव, अत्रि, दुर्वासा, पतंजलि आदि सब ऋषिमुनि मर गए हैं। योगाभ्यास करने वाले भी मर चुके हैं। इस प्रकार व्यक्ति से तो मृत्यु लगी ही हुई है। व्यक्ति से मृत्यु दूर हो सकती है अर्थात् वैयक्तिक प्रयत्न से दीर्घायु प्राप्त की जा सकती है। परंतु यह शरीर स्थायी नहीं रह सकता। कभी न कभी इसको मरना ही है। ‘जपी तपी सब मर गए, मर गए जंदर जोगी।’ यह वास्तविक स्थिति है। इस व्यक्तिभाव का ही नाम इस मंत्र में ‘विनाश’ रखा है। व्यक्ति विनाश को प्राप्त होगा। व्यक्ति स्वयं विनाश-वाला है। परंतु संघजीवन-सामुदायिक जीवन जीने से अमरत्व प्राप्त होता है। व्यक्ति मरने वाला है और समुदाय अमर है। हिन्दू-व्यक्ति मरता है, पर हिन्दू-समाज अमर है।

व्यक्तिभावों व्यक्ति को अमरत्व देने के प्रयत्न करते रहते हैं। इसके लिए इन्होंने बड़े अनुष्ठान किए हैं, पर वे सब व्यर्थ हुए हैं। जो कभी सिद्ध होना नहीं है उसके लिए उनका प्रयत्न है।

पर व्यक्तिभाव से व्यक्ति का व्यक्तित्व सुरक्षित रह सकता है। जैसे स्नान करने से शरीर स्वच्छ होता है, स्वच्छता से शरीर नीरोग हो जाता है। भोजन करने से शरीर पुष्ट होता है, व्यायाम करने से शरीर का बल बढ़ जाता है। संघ्या उपासना करने से अन्तःकरण की शान्ति सुस्थिर रह सकती है, जिससे दीर्घायु प्राप्त हो जाती है। इसका नाम है, मृत्यु को तैरकर पार होना (मृत्युं तीर्त्वा) मृत्यु को दूर करना। यह सब व्यक्तिभाव की व्यक्तिशः सेवा-सुश्रूषा करने से ही होता है। यह लाभ कोई कम नहीं है। व्यक्ति नीरोग, दीर्घजीवी, सुखी, हृष्टपुष्ट, आनन्द-प्रसन्न, कार्यक्षम, यशस्वी, पराक्रमी होना चाहिए। व्यक्तिभाव की उपासना से ही यह होना संभव है। जहाँ व्यक्तिभाव की उपासना ठीक तरह नहीं होती, वहाँ व्यक्ति निर्बल हो जाता है और निकम्मा बन जाता है। व्यक्ति के गुण विकसित होने चाहिए और ऐसा विकसित गुणों वाला व्यक्ति समाज की सेवा करने के लिए मिलना चाहिए। मनुष्य निकम्मे हो गए तो वे समाज की सेवा कैसे करें? और समाज-सेवा ठीक तरह न हुई तो समाज सुखी भी किस तरह होगा? अमर भी कैसे

होगा ? क्योंकि निर्बल व्यक्तियों का समाज निर्बल होगा और कोई दूसरा बलवान् समाज उसको खा जाएगा ।

वैयक्तिक जीवन

व्यक्ति में शरीर, इन्द्रिय और अवयव हैं। योग के आसनों के व्यायाम से शरीर के प्रत्येक अवयव का उत्तम विकास होता है और रोग दूर करने की शक्ति शरीर में बढ़ जाती है। यह कार्य सबसे प्रथम करने का है। इसके पश्चात प्राणायाम का अभ्यास होता है। प्राण के आधार से ही सब इन्द्रियों और अवयव कार्य करते हैं। दीर्घजीवन शरीर के लिए प्राप्त होना इस प्राणशक्ति के बल से ही सम्भव है। इसलिए जैसे आसन वैसे ही प्राणायाम व्यक्तित्वः करने के व्यायाम हैं। आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, ध्यान, धारणा, समाधि यह योगसाधन व्यक्ति के विकास के लिए है। वैदिक धर्म के अन्दर व्यक्ति के विकास का यह परिपूर्ण कार्यक्रम है। वैदिक धर्म ने व्यक्ति विकास की ओर दुर्लक्ष्य नहीं किया है। आसन व्यायाम से शरीर, प्राणायाम से प्राणशक्ति, प्रत्याहार से संयम, ध्यानधारणा से मन की शक्ति और समाधि से निज आत्मशक्ति विकसित हो जाती है। यह व्यक्ति की उपासना है। व्यक्ति की परम उन्नति इस अनुष्ठान से प्राप्त होती है। यह करना प्रत्येक व्यक्ति के लिए अत्यन्त आवश्यक और अनिवार्य भी है।

योगानुषठान के प्रारंभ में 'यम और नियम' कहे हैं। इनमें 'यम' सार्वजनिक जीवन के लिए हैं और नियम वैयक्तिक जीवन के लिए हैं। इनमें प्रथम व्यक्ति की उन्नति के लिए नियम कैसे उपयोगी हैं, यह देखिए—

शौच-सन्तोष-तपः स्वाध्याय-ईश्वरप्रणिधानानि नियमाः ॥ (योगदर्शन)

शुद्धता, पवित्रता, मन का सन्तोष, श्रीत उष्ण सहन करने की शक्ति, उत्तम ग्रंथों का अध्ययन और ईश्वर की भक्ति—ये नियम हैं। ये व्यक्ति की उन्नति के साधक हैं। शारीर की पवित्रता होने से शारीर नीरोग बनता है, मन का संतोष रहने से मन उत्साहयुक्त हो जाता है, श्रीत उष्ण सहन करने की शक्ति बढ़ने से रोग दूर होते हैं, शारीर को थकावट नहीं होती। उत्तम ग्रंथों का पठन-पाठन होने से उत्तम ज्ञान मिलता है जिससे जीवन सुधरता है, ईश्वर-भक्ति से अपनी आत्मशक्ति बढ़ती है। इस तरह ये सब नियम वैयक्तिक गृण विकास के लिए हैं।

इस अनुष्ठान से व्यक्ति उन्नत होता है। इस तरह उन्नत मनुष्य ही सार्वजनिक हित के कार्य अच्छी तरह कर सकते हैं।

सार्वजनिक जीवन

अब सार्वजनिक जीवन के नियमों का स्वरूप देखिए—

धर्मिसा-सत्य-प्रस्तेय लक्ष्यचर्य-अपरिप्रहा यमाः ॥ (योगदर्शन)

ये सब यम सार्वजनिक जीवन का आदर्श जनता के सामने रखते हैं। मनुष्य का सार्वजनिक जीवन इस आदर्श के अनुकूल होना चाहिए—

१ अर्हिसा—मनुष्य के व्यवहार में काया, बाचा, मनसा, अर्हिसा प्रकट होनी चाहिए। अर्हिसा, हिसा का निषेध करती है। भात-पात नहीं करना चाहिए, परन्तु प्रत्यक्ष दूसरों का हित करना चाहिए। दूसरों से द्वेष नहीं करना चाहिए। दूसरों से द्वेष

२ सत्य—मनुष्य के व्यवहार में सत्य रहना चाहिए। काया, बाचा, मन से मनुष्य सत्य के अनुकूल रहकर व्यवहार करे। दूसरों के साथ व्यवहार करते समय असत्य के व्यवहार से लाभ भी होता हो, तो भी उस समय सत्य का ही पालन करना चाहिए।

३ अस्तेय—चोरी नहीं करनी चाहिए। चोरी करने से लाभ होता है, ऐसा दीखता है, परंतु चोर का कभी कल्याण नहीं होता। चोरी, काला बाजार, मिथ्या व्यवहार का सर्वथा त्याग करके मनुष्य उत्तम सरलता का व्यवहार करे।

देखिए 'अहिंसा, सत्य, अस्तेय' ये मनुष्य के सार्वजनिक व्यवहार के नियम कितने अच्छे हैं। इनसे मनुष्य का सामर्थ्य बढ़ता है। मनुष्य की आत्मा उन्नत होती है। ऐसा मनुष्य ही मानव-समाज का आदर्श हो सकता है। यह संभूति के जीवन का आदर्श है।

४ ब्रह्मचर्य—‘ब्रह्म’ अर्थात् बड़ी शक्ति प्राप्त करने के लिए जैसे ‘चर्या’ अर्थात् चाल-चलन और व्यवहार करना आवश्यक है, वैसे सद्ब्रह्मचर्य है। समर्थ बनने के लिए आवश्यक श्रेष्ठ आचरण करने का नाम ब्रह्मचर्य है। योग परिभाषा में ‘ऊर्ध्वरेता’ बनने के अनुष्ठान को ब्रह्मचर्य कहते हैं। विवाह पूर्व स्त्री भोग का पूर्ण संयम और विवाह होने पर वैवाहिक नियमानुसार स्त्री सम्बन्ध करने का नाम ब्रह्मचर्य है। यह सुविदित है।

५ अपरिग्रह—अपने पास भोग्य पदार्थों का अत्यधिक संग्रह करने का नाम परिग्रह है। वैसा संग्रह अपने पास न रखने का नाम ‘अपरिग्रह’ है। किसी एक व्यक्ति के पास भोग के अनन्त साधन इकट्ठे हो गए, तो अन्य व्यक्ति उन भोगों से वंचित रहते हैं। ये वंचित व्यक्ति उस परिग्रह करने वाले से द्वेष करने लगते हैं। इस कारण विश्व में विग्रह उत्पन्न होते हैं। छोटे परिमाण में इनका नाम झगड़ा है और बड़े परिमाण में इनको युद्ध कहते हैं। परिग्रह के कारण ही ये युद्ध होते हैं। इसलिए भोगों का अत्यधिक संग्रह अपने पास करना उचित नहीं।

ये पांच यम हैं। वैदिक धर्मानुसार सामाजिक जीवन कैसा होना चाहिए, इस प्रश्न के उत्तर में यह कह सकते हैं कि इन पांच यमों का पालन करने से जैसा जीवन हो सकता है वैसा जीवन होना चाहिए।

वैयक्तिक जीवन और सामुदायिक जीवन का यह उत्तम समन्वय है। इस समन्वय से केवल वैयक्तिक स्वातंत्र्य से जो दोष उत्पन्न होते हैं वे सब दूर हो जाते हैं और वैयक्तिक उन्नति से जो लाभ होने की संभावना है वे लाभ प्राप्त होते हैं। इसी तरह केवल सामाजिक संघटना करने वालों के प्रयत्नों से व्यक्ति के दब जाने की जो संभावना है वह भी इससे दूर होती है और मनुष्य के सामुदायिक जीवन का सुधार होने से यतन्त लाभ होते हैं। इस कारण इस समन्वय से इन दोनों तरह के जीवनों के दोष दूर हो जाते हैं और गुण मिलते हैं। इसका तात्पर्य यह है कि केवल व्यक्ति स्वतंत्रतावाद जैसा हानिकारक है वैसा ही केवल समाजवाद भी हानिकारक है। पर दोनों का समन्वय लाभकारी है।

व्यक्ति की स्वतंत्रता बढ़ाकर समाज संघटना को हानि पहुंचाना जैसे उचित नहीं है, वैसे ही समाज-संघटना का प्रचण्ड बल प्राप्त करने के लिए व्यक्ति की निर्जीव यंत्र बनाना भी इष्ट नहीं है। केवल किसी एक ही पक्ष को स्वीकार करने से जो हानि होती है वह समन्वय से टालनी चाहिए।

विराट् पुरुष

यूरोप में अनेक बाद उत्पन्न हुए हैं। उनमें भारतीयों का वैदिक धर्म का सिद्धान्त विदित नहीं है। विराट् पुरुष के देह में सर्वत्र एक ही जीवन व्याप्त है। विराट् पुरुष का देह यह 'सारा विश्व' ही है। इसमें सूर्य चन्द्र पृथ्वी पशु पक्षी मानव आदि सब सम्मिलित हैं। पृथ्वी के ऊपर भी विराट् पुरुष का ही एक अखण्ड और अद्वितीय एकरस जीवन व्याप्त है। इसलिए यहां व्यक्ति दूसरे व्यक्ति से सर्वथा पृथक् नहीं है। सब विराट् पुरुष के एक जीवन में ही सम्मिलित हैं। सब इस विराट् पुरुष की देह के अंग और अवयव हैं।

इस एक शरीर में इंद्रिय और अवयव सबमें व्याप्त रहने वाला एक ही जीवन है। यह एक जीवन है, ऐसा मानकर ही यहां के इंद्रिय-व्यवहार होने चाहिए। यद्यपि प्रत्येक इन्द्रिय में अनेक अणुजीव रहते हैं और वे अपना स्वतंत्र अस्तित्व रखते हैं, तथापि वह इन्द्रिय अखण्ड शरीर का एक भाग है। इसलिए उसे शरीर का एक अंश मानकर ही व्यवहार करना चाहिए।

इसी तरह राष्ट्र में व्यक्ति का व्यवहार वह व्यक्ति राष्ट्र का अंग है, ऐसा मानकर ही होना चाहिए। यह अंग-अंगी सम्बन्ध किस तरह वेद ने बताया है, यह देखिए—

यस्य सूर्यस्त्रक्षुश्चन्द्रमाश्च पुनर्णवः ।

अग्निं यश्चक्ष आरस्यं तस्मै ज्येष्ठाय ब्रह्मणे नमः ॥

अथर्व० १०।७।३३

"जिसका सूर्य एक चक्र है, पुनः पुनः नया-नया बनने वाला चन्द्रमा जिसकी दूसरी आंख है, अग्निं जिसका मुख है, उस ज्येष्ठ ब्रह्म के लिए नमस्कार है।" सूर्य, चन्द्र जिसकी आंखें हैं और अग्निं जिसका मुख है वह ज्येष्ठ ब्रह्म है। जिस तरह मनुष्य के शरीर में, आँखों, कानों में तथा हाथों, पांवों में शरीर का एक ही जीवन संचरित होता है, उसी तरह इस विश्व में परमात्मा का, ज्येष्ठ ब्रह्म का जीवन रस संचरित हो रहा है। इसी तरह और भी वर्णन है—

यस्मिन् भूमिरन्तरिक्षं द्यौर्यस्मिन्नद्याहिता । यत्राग्निश्चन्द्रमाः सूर्यो वातस्तिष्ठन्त्यर्पिताः ॥१२॥

यस्य ऋर्यस्त्रशद्वेवा अंगे सर्वे समाहिताः ॥१३॥

समुद्रो यस्य नाड्यः पुरुषेऽधि समाहिताः ॥१५॥

यस्य चतुर्लः प्रविशो नाड्यस्तिष्ठन्ति प्रथमाः ॥१६॥

यस्य शिरो वैश्वानरः चक्षुरंगिरसोऽभवन् । अंगानि यस्य यातवः स्कंभं तं बूहि ॥१८॥

यस्य ऋर्यस्त्रशद्वेवा अंगे गात्रा विभेजिरे ॥२७॥

यस्य भूमिः प्रमाणतरिक्षमतोदरम् । दिवं यदवके सूर्यनिं तस्मै ज्येष्ठाय ब्रह्मणे नमः ॥३२॥

यस्य वातः प्राणापानी चक्षुरंगिरसोऽभवन् । विशो यश्चके प्रकानीस्तस्मै ज्येष्ठाय ब्रह्मणेनमः ॥३४॥

अथर्व० १०।७

"जिसमें भूमि अन्तरिक्ष, द्यु, अग्नि, चन्द्रमा, सूर्य और वायु समाए हुए हैं। जिसके अवयवों में तैतीस देवता हैं। समुद्र में मिलने वाली नदियां और चारों दिशाएं जिसके शरीर की नाड़ियां हैं। जिसका सिर वैश्वानर अग्नि है, अग्निरस जिसकी आंख हैं, सब प्राणी अथवा गतिमान् (यातवः) पदार्थ जिसके शरीर के अवयव हैं। जिसके शरीर के अवयवों में तैतीस देवता विभक्त होकर रह रहे हैं। भूमि जिसका पांव, अन्तरिक्ष जिसका उदर, द्यु जिसका सिर है, उस श्रेष्ठ ब्रह्म को मेरा

नमस्कार है। वायु जिसके प्राण और अपान हैं, अंगिरस जिसकी आँख हैं, दिशाएं जिसके ज्ञान देने वाले श्रोत्र हैं, उस ज्येष्ठ ब्रह्म के लिए प्रणाम हो ।"

इस वर्णन में ज्येष्ठ ब्रह्म का यह विश्वरूप देह है, यह स्पष्ट हुआ है। ज्येष्ठ ब्रह्म का जीवन इस विश्व में संचरित हो रहा है, यह यहां स्पष्ट होता है। संपूर्ण विश्व ज्येष्ठ ब्रह्म के जीवन से अनुप्राणित हुआ है। इसी तरह और भी वर्णन है, वह भी यहां देखिए—

सहस्रशीर्षा पुरुषः सहस्राक्षः सहस्रपात् । स भूमि विश्वतो वृत्वाऽत्पतिष्ठद्वशांगुलम् ॥

ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीत् बाहू राजन्यः कृतः । ऊरु तदस्य यद्वैश्यः पद्मभयां शूद्रोऽजायत ॥

ऋ० १०।६०, वा. य. ३१

हजारों सिरोंवाला, हजारों आँखों वाला और हजारों पांवों वाला एक पुरुष—विराट् पुरुष—है। वह भूमि के चारों ओर बसा है और बाहर भी है। ब्राह्मण उसके सिर हैं, क्षत्रिय उसके बाहु हैं, वैश्य उसकी जांचें हैं और शूद्र उसके पांव हैं। इस वर्णन से तो स्पष्ट हो गया कि जिसके शरीर में सिर, आँख, कान, हाथ, पेट, पांव ये हजारों हैं ऐसा एक विराट् पुरुष है, और ब्राह्मण क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र ये उसके सिर बाहु पेट और पांव हैं। अर्थात् हजारों ब्राह्मणों के सिर उसके सिर हैं, हजारों क्षत्रियों के बाहु उसके बाहु हैं, हजारों वैश्य उसके पेट तथा जांचें हैं और हजारों शूद्र उसके पांव हैं। यदि ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र, निषाद ये उसके शरीर के अवयव हैं तब तो निश्चय ही है कि उसका जीवन रस इन सबमें संचरित हो रहा है और ये सब मिलकर उसका शरीर हैं।

सब प्राणी मिलकर एक विराट् पुरुष है, यह वैदिक कल्पना सबसे प्रथम समझ में आनी चाहिए, तब वैदिक धर्म का व्यवहार-शास्त्र समझ में आ सकता है।

यहां 'एक जीवन है' ऐसा कहने से प्रत्येक व्यक्ति का व्यक्तित्व नहीं मारा जाता। जिस तरह मनुष्य के एक शरीर में करोड़ों अणुजीव रहते हैं और उनमें से प्रत्येक अणुजीव स्वतन्त्र रीति से जन्मता रहता और मरता रहता है। प्रत्येक जीव स्वतन्त्र रहने पर भी, इन करोड़ों अणुजीवों में एक श्रेष्ठ आत्मा की शक्ति एकरस व्याप रही है और उन करोड़ों अणुजीवों को अनुप्राणित कर रही है। ठीक उसी तरह ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र, निषाद हजारों-लाखों और करोड़ों की संख्या में हैं, इसमें से प्रत्येक स्वतन्त्र रीति से जन्मता, जीता और मरता है, अतः प्रत्येक स्वतन्त्र है, तथापि इनमें एक विराट् आत्मा की शक्ति एकरस व्याप रही है।

इस तरह प्रत्येक जीव स्वतन्त्र है, परन्तु समष्टि की जीवनदृष्टि से वह एक है। विभक्त होता हुआ अविभक्त है। स्वतन्त्र होता हुआ एक जीवन में बन्धा है। प्रत्येक स्वतन्त्र होने पर भी उसमें सामूहिक एकता है।

अपने शरीर में देखिए। प्रत्येक मनुष्य कहता है कि मैं एक व्यक्ति हूं, मुझमें नानात्व नहीं है। यह प्रत्येक का अनुभव है। तथापि एक व्यक्ति के एक शरीर में करोड़ों अणुजीव हैं और उन जीवों में से प्रत्येक कहता है कि मैं स्वतन्त्र हूं। प्रत्येक स्वतन्त्र तो है, परन्तु उसमें एक जीवात्मा का जीवन अनुप्राणित हो रहा है। इसी तरह पृथ्वी पर के करोड़ों मानवों में विराट् पुरुष का अखण्ड एकरस जीवन अनुप्राणित हो रहा है। यह विराट् पुरुष की दृष्टि से एकता है, विराट् पुरुष की दृष्टि से यहां नानात्व नहीं है। परन्तु जीव शरीर की दृष्टि से यहां नानात्व है।

मनुष्य के तीन देह

यह नानात्व में एकत्र और एकत्र में नानात्व कैसे होता है, यह देखिए। मनुष्य के स्थूल, सूक्ष्म और कारण ये देह हैं। कई तत्त्वज्ञानी महाकारण देह भी और एक है, ऐसा मानते हैं। स्थूल और सूक्ष्म देह प्रत्येक के विभिन्न हैं और कारण देह की दृष्टि से सबकी एकता है, वयोंकि कारण-देह सबका एक है। कारण-देह सबका एक है, यह सब शास्त्रों का सिद्धान्त है, और प्रत्येक का स्थूल देह भिन्न है, यह प्रत्येक का अनुभव है। इस तरह एकत्र और भिन्नत्व की व्यवस्था है। यही ज्ञान व्यक्तिवाद और समष्टिवाद की व्यवस्था अथवा समन्वय करने में सहायक है।

इस तात्त्विक विवरण से यह बात सिद्ध हुई कि मनुष्य स्थूल शरीर की दृष्टि से स्वतन्त्र है, तथापि कारण शरीर की दृष्टि से सब मानव एक हैं। इसलिए प्रत्येक मनुष्य स्वतन्त्र भी है और उनका समूह सामूहिक दृष्टि से एक भी है।

स्थूल देह का सम्बन्ध स्नान, खान-पान से रहता है। इस विषय में प्रत्येक मनुष्य स्वतन्त्र है, ऐसा मानकर ही व्यवहार होना चाहिए। प्रत्येक की स्नान, भोजन, रहन, सहन, व्यायाम, आराम आदि स्थूल शरीर की आवश्यकताएं पूरी होनी चाहिए। मनुष्य के शरीर की आवश्यकता के अनुरूप इनकी व्यवस्था होनी चाहिए। बालक, तरुण, वृद्ध तथा श्रम का कार्य करने वाले तथा बैठे रहने वाले के लिए एक ही भोजन उपयोगी नहीं होता। इसलिए व्यक्तिगत आवश्यकतानुरूप व्यवस्था की बात कही गई है।

स्थूल और सूक्ष्म देह प्रत्येक का पृथक्-पृथक् है। इसकी आवश्यकताएं सामूहिक नहीं हो सकतीं। प्रत्येक को विद्याध्ययन स्वतन्त्रता से करना चाहिए, ज्ञान-विज्ञान स्वतन्त्रता से प्राप्त करना चाहिए। शरीर की स्वच्छता, मन की पवित्रता, विचारों की शुद्धता के लिए प्रत्येक को व्यक्तिशः ही यत्न करना चाहिए। इस तरह वैयक्तिक उन्नति के लिए यत्न करना प्रत्येक व्यक्ति के लिए आवश्यक है। व्यक्ति को दबाकर उसकी उन्नति के प्रयत्न में हस्तक्षेप करना किसी को उचित नहीं है। यह वैयक्तिक जीवन की मर्यादा है। प्रत्येक व्यक्ति को इस मर्यादा में रहकर अपने जीवन को उच्च बनाना चाहिए। यह स्थूल शरीर और सूक्ष्म शरीर की सुस्थिति की बात है। प्रत्येक को इस विषय में स्वतन्त्रता से अपनी उन्नति के लिए यत्न करना चाहिए। इस तरह व्यक्तिशः प्रयत्न हुए, व्यक्ति की उन्नति हुई, तो इसके पश्चात् किसी व्यक्ति की शक्तियाँ किस प्रयोजन के लिए लगनी चाहिए? वह प्रयोजन सार्वजनिक सेवा है।

व्यक्ति अंग है और समाज अंगी है। अंग की उन्नति होने पर उस व्यक्ति की शक्ति से समाज की सेवा होनी चाहिए। मान लीजिए कि व्यक्ति ने अपने स्वतन्त्र प्रयत्नों के द्वारा ज्ञान, बल, धन और कर्म-कुशलता प्राप्त की। इतना करने के पश्चात् उस व्यक्ति ने समाज के लिए कुछ भी नहीं किया। तो उस समाज को आनन्द प्रसन्नता नहीं होगी। वह समाज दुखी ही रहेगा। अनेक सुयोग्य, उन्नत हुए मानवों की सेवा से ही जनता सुख को प्राप्त कर सकती है। संपूर्ण समाज को आनन्द-प्रसन्न रखना ही मानव उन्नति का अन्तिम ध्येय है। यह तब सम्भव है जब परम उन्नति को प्राप्त व्यक्ति समाज की सेवा के लिए अपने आपको अर्पण करें।

आदर्श समाज

समाज की उन्नति की कुछ बातें निश्चित् हुई हैं—

१ समाज में पूर्ण निर्भयता होनी चाहिए, किसी तरह कहीं से कोई भय नहीं होना चाहिए, (न तब भयं)।

२ समाज में बालमृत्यु, अपमृत्यु, रोग आदि का भय नहीं रहना चाहिए, (न मृत्युः)।

३ समाज में अतिदीर्घ आयु वाले पुरुष, अच्छी शारीरिक अवस्था में रहने चाहिए, (न जरा)।

४ खान-पान के अच्छे पौष्टिक और आरोग्यवर्धक पदार्थ प्रत्येक को आवश्यकतानुसार प्राप्त होने चाहिए। खान-पान का कष्ट नहीं होना चाहिए, (न अशानाया-पिपासे)।

५ समाज आनन्द-प्रसन्न, मुदृढ़, बलवान्, नीरोग और पुरुषार्थी होना चाहिए, (शोकातिगो मोदते)।

समाज में ये बातें होनी चाहिए। कोई मनुष्य इनसे वंचित नहीं रहना चाहिए। यह तब हो सकता है जब समाज की सेवा होती रहे और उसको करने वाले श्रेष्ठ योग्यता वाले पुरुष पर्याप्त संख्या में मिलें। राष्ट्र में केवल श्रेष्ठ पुरुष रहने से ही कार्य नहीं चलेगा, परन्तु उन श्रेष्ठ पुरुषों के द्वारा राष्ट्र की अखण्ड सेवा होनी चाहिए, तब वह राष्ट्र सुखी हो सकेगा।

स्थूल शरीर तथा सूक्ष्म शरीर प्रत्येक मनुष्य के लिए पृथक-पृथक हैं, इस हेतु इन दोनों शरीरों की शक्तियों का विकास करने के लिए प्रत्येक मनुष्य को स्वातन्त्र्य मिलना चाहिए। इस स्वातन्त्र्य से वह अपने दोनों शरीरों को पूर्ण विकसित करे। यह विकास होने पर मनुष्य अपने विकसित सामर्थ्य का उपयोग समाज की शक्ति बढ़ाने के लिए तथा पूर्वोक्त पांच प्रकार की उन्नतियाँ करने के लिए करे, यह इसलिए कि सबका कारण शरीर एक है, सब मानव-समाज का एक ही कारण शरीर है। इसलिए जब तक मानव-समाज पूर्ण उन्नत नहीं होता, अपने छोटे-छोटे गुट बनाकर परस्पर स्पर्धा और युद्ध करता रहेगा, तब तक इस समाज के दुख दूर नहीं होंगे।

मानव समाज में छोटे-छोटे गुट हों, पर वे एक ध्येय की पूर्ति के लिए कार्य करते जाएं। जैसे आर्यों में ब्राह्मण, ऋत्रिय, वैश्य, शूद्र ये चार वर्ण हैं। इन चारों का रहन-सहन यद्यपि पृथक् था, तथापि इनका ध्येय एक ही था। सब एक ध्येय के लिए यत्न करते थे। जिस तरह एक शरीर में ज्ञान-ग्रहण करने वाला सिर, संरक्षण करने वाले बाहु, रक्त तैयार करके शरीर का पोषण करने के लिए पेट और कर्म करने के लिए पांच हैं, वैसे ही ज्ञान का प्रचार करने के लिए ज्ञानी बाह्यण, संरक्षण करने वाले क्षत्रिय, धन-धान्य से पोषण करने वाले वैश्य और कर्म में कुशल शूद्र—ये चार वर्ण राष्ट्र में हैं। व्यक्ति के शरीर के गुण विकसित होकर ये वर्ण बने हैं। इसलिए एक मनुष्य के अन्दर के ये चार गुण जिस तरह एक-दूसरे के मारक नहीं होते, उसी तरह ये चारों जन राष्ट्र के लिए पोषक होते हैं। अतः ये गुट सहायक हैं। परन्तु स्पर्धा करने वाले गुट सुख का नाश करते हैं, संहार भी करते हैं। आर्यों के चार वर्ण समाज की शक्ति बढ़ाते थे। वैसे आज हों तो जिस समाज में वे होंगे उसकी शक्ति बढ़ाते ही रहेंगे।

कारण शरीर ने सब मानवों को बांध रखा है। इसलिए मानव-समाज की एकता स्वीकार करके अपना कार्यक्रम निश्चित करना चाहिए। यह मानव समाज अंगी है और प्रत्येक व्यक्ति उसका अंग है। अंग की इतिकर्तव्यता अंगी की उन्नति में है। व्यक्ति की इतिकर्तव्यता समाज की उन्नति के लिए अपना समर्पण करना है।

असंभूति और संभूति का यह सम्बन्ध है, व्यक्ति समष्टि का यह मेल है। व्यक्तिवाद और समाजवाद का यह समन्वय है।

प्रत्येक व्यक्ति के अन्दर तीन शरीर हैं, वे स्थूल शरीर, सूक्ष्म शरीर और कारण शरीर हैं; इनमें स्थूल और सूक्ष्म शरीर प्रत्येक व्यक्ति के पृथक्-पृथक् हैं, कारण शरीर सब मानवों का एक है—इस आयं तत्वज्ञान को यूरोपवासी नहीं जानते। वे समझते हैं कि यहां मनुष्य हैं और उनका मानव-समाज है। व्यक्ति-स्वातंश्यवादी व्यक्ति को पूर्ण स्वतंत्र करना चाहते हैं और ये समाज-संघटना का नाश करते हैं। समाजवादी समाजसंघटना द्वारा अपना संघबल बढ़ाने के लिए, व्यक्ति की स्वतंत्रता को नष्ट करके मनुष्य को केवल एक जीवित यंत्र बनाते हैं। ये मत वाले एक दूसरे से द्वेष करके, दूसरे का पूर्ण नाश करके स्वयं स्थायी रहने के इच्छुक हैं। इन भगड़ों के कारण मानव-समाज युद्धों की अग्नि से जल रहा है और दुःखी हो रहा है।

ऐसी अवस्था में वैदिक धर्म का यह सिद्धांत यदि उनकी समझ में आ जाए कि स्थूल सूक्ष्म शरीर के क्षेत्र तक मनुष्य व्यक्ति-स्वातंश्य का भोग कर सकता है, परन्तु कारण शरीर के क्षेत्र में मानव-समाज स्वभावतः एक अभिन्न अनन्य तथा असंदेह है, इसलिए उस समूह का हित करने के लिए व्यक्ति को अपनी शक्तियों का समर्पण करना चाहिए, तो वे इन भगड़ों और युद्धों का सहज में निवारण कर सकते हैं और विश्व-कल्याण में अधिकाधिक प्रवृत्त हो सकते हैं।

यह सत्य सनातन तत्वज्ञान भारतीय आर्यों के पास है। परन्तु वे अपने तत्वज्ञान को भूल कर यूरोप के अधकचरे तत्वज्ञान के पीछे भाग रहे हैं।

वैदिक 'स्व'-राज्य

स्व राज्य हम सबको प्राप्त है। दरिद्री से दरिद्री भी क्यों न हो, अथवा धनपति से बड़ा

धनपति भी क्यों न हो, इन दोनों को यह स्वराज्य समानतया जन्म से ही प्राप्त है।

इस अपने स्वराज्य पर हम अपना शासन चलावें, अथवा अपने राज्य को शत्रु के अधीन करें, यह प्रत्येक की अपनी इच्छा है।

यह अपना स्वराज्य कहाँ है? उत्तर में कह सकते हैं कि यह अपना स्वराज्य इस अपने शरीर में ही है। दूर किसी भी स्थान पर जाने की आवश्यकता नहीं। जन्म के साथ प्राप्त अपना यह शरीर ही अपना स्वराज्य है। यहाँ का राजा 'आत्मा' है, इसका शासन यहाँ चलना चाहिए।

शासन तो बलवान का चलता है। निर्बल का शासन कोई नहीं मानता। 'ईशा वास्यं इदं सर्वं' (यजु० ४०।१) जो ईशन शक्ति से युक्त है, उसी का इस विश्व पर शासन होगा। इसलिए इस शरीर पर अपना शासन चलाना है, तो प्रथम अपने अन्दर बल प्राप्त करना चाहिए। बल से ही सब विश्व खड़ा है। देखिए—

शतं विज्ञानवतां एको बलवान् आकम्पयते, स यदा बली भवति, अथ उत्थाता भवति,
उत्तिष्ठन् परिचरिता भवति, परिचरन् उपसत्ता भवति, उपसीदन् द्रष्टा भवति,
श्रोता भवति, मन्ता भवति, बोद्धा भवति, कर्ता भवति, विजाता भवति, बलेन वै पृथिवी
तिष्ठति, बलेन अन्तरिक्षं, बलेन द्यौः, बलेन पर्वताः, बलेन देवमनुष्याः, बलेन पश्चात्तच
वयांसि च तृणवनस्पतयः श्वापदान्याकीटपतङ् गणिपीलिकं बलेन लोकस्तिष्ठति बलमुपास्व
इति ।

छाँ० ३० ७।८।१

"बल विज्ञान से धोष्ठ है, अकेला बलवान् मनुष्य सैकड़ों विज्ञानी मनुष्यों को कंपित करता है—डराता है। वह जब बलवान् होता है तब वह उठता है, जब उठता है तब सेवा करने लगता है, जो जनसेवा करता है वह जनप्रिय होता है, वही देखने वाला, श्रोता, मननकर्ता, ज्ञाता होता है। बल से यह पृथिवी स्थिर रहती है, बल से अन्तरिक्ष, बल से द्युलोक, बल से ये पर्वत स्थिर रहते हैं। बल से देव, मनुष्य, पशु-पक्षी, घास, वनस्पतियां, कूमिकीट, चीटियां, पतंग ये सब स्थिर रहते हैं। बल से सब लोक स्थिर रहते हैं, इसलिए बल की उपासना करो।" बिना बल के इस जगत् में कुछ भी नहीं होता। इसलिए बल प्राप्त करना चाहिए।

अपने शरीर के अन्दर का राज्य हो अथवा बाहर का राज्य साम्राज्य हो, बल से ही वह चलाया जा सकता है। निर्बल से इस जगत् में कुछ भी नहीं होता। निर्बल को तो सब दबाते हैं। इस जगत् में निर्बल के लिए कोई आशा नहीं है।

अधिकारी की नियुक्ति

शरीर के इस राज्य में किस तरह अधिकारियों की नियुक्ति की जाती है, इस विषय में उप-

निषदों में बड़ा अच्छा वर्णन है—

यथा सम्राट् एव अधिकृतात् विनियुक्ते, एतात् प्रामान्, एतात् प्रामान् अधितिष्ठित्वं इति ।

एवमेव एष प्राणः इतरात् प्राणान् पृथक्पृथगेव सन्निधत्ते पायूस्ययेऽपानं, चक्षुः शोश्चे
मुखनासिकाभ्यां प्राणः स्वयं प्रातिष्ठते, मध्ये तु समानः । प्रश्न० उ० ३१४-५

“जिस तरह सम्राट् स्वयं अधिकारी राजपुरुषों को कहता है कि तू इन ग्रामों पर और तू इन ग्रामों पर अधिकार चला, इसी तरह यह मुख्य प्राण अन्य प्राणों को पृथक्-पृथक् स्थानों पर नियुक्त करता है, मलमूत्र स्थानों में अपन को नियुक्त करता है । मुख, नासिका, नेत्र, करण् इन स्थानों पर मुख्य प्राण स्वयं रहता है, और मध्य में समान प्राण रहता है ।”

इस तरह सम्राट् के अधिकारियों की नियुक्ति करने की उपमा प्राणों की यथास्थान नियुक्ति करने के लिए दी है । यह उपमा यों भी हो सकती है कि जिस तरह मुख्य प्राण अन्य प्राणों और उपप्राणों को शरीर के भिन्न-भिन्न विभागों पर नियुक्त करता है, उसी तरह सम्राट् अपने प्रान्ता-धिकारियों को पृथक् पृथक् प्रान्तों पर नियुक्त करता है । इसका अर्थ यह है कि जैसे भूमि पर किसी सम्राट् का साम्राज्य होता है और उसके प्रान्ताधिकारी तथा नगराधिकारी होते हैं, ठीक इसी तरह शरीर का सम्राट् आत्मा शरीर के नाना विभागों पर अपने अधिकारियों को नियुक्त करता है । शरीर में जैसा साम्राज्य है, वैसा ही भूमि पर भी है, और जैसा साम्राज्य भूमि पर होता है वैसा ही शरीर में भी है । शरीर का साम्राज्य छोटा और पृथकी का साम्राज्य विस्तृत है । छोटा और विस्तृत इतना भेद है, बाकी व्यवस्था में दोनों साम्राज्य समान ही हैं । इसे इस तालिका से समझिए :—

शरीर में

- १ ३३ करोड़ अणुजीव रहते हैं ।
- २ प्रत्येक अणुजीव स्वतन्त्र रीति से जन्मता, रहता और मरता है ।
- ३ शरीर में इंद्रिय और अवयव अनेक होते हैं ।
- ४ प्रत्येक इंद्रिय और अवयव का अधिष्ठाता भिन्न-भिन्न होता है ।
- ५ शरीर में इंद्रियां भोग करने वाली और प्राण भोग न करने वाले हैं ।
- ६ शरीर शासक आत्मा है ।

इस तरह शरीर और राष्ट्र में शासन-व्यवस्था की समता है । ऋषियों ने यह प्रत्यक्ष देखी और उसकी तुलना की और दोनों के साम्य का वर्णन किया है । ये ही सामान्य नियम स्थायी और सुखदायी हैं ।

शरीर का राज्य

इस शरीर के अवयवों का वर्णन अब हम करते हैं । शरीरों में ३३ कोटि अणुजीव हैं । ये

साम्राज्य में

- १ करोड़ों मनुष्य रहते हैं ।
- २ प्रत्येक मनुष्य स्वतन्त्र रीति से जन्मता, रहता और मरता है ।
- ३ राष्ट्र में अनेक प्रान्त और प्रविभाग होते हैं ।
- ४ प्रत्येक प्रान्त पर भिन्न-भिन्न एक अधिकारी होता है ।
- ५ राष्ट्र में वैतनिक सेवक और अवैतनिक स्वयंसेवक होते हैं ।
- ६ राष्ट्रशासक सम्राट् है ।

शरीर के नाना प्रान्त विभागों में रहते हैं। १ नासिका विभाग, २ जिह्वा विभाग, ३ नेत्र विभाग, ४ त्वचा विभाग, ५ कर्ण विभाग ये पांच विभाग ज्ञानियों के प्रान्तों के हैं। अब श्रमजीवियों के प्रान्तों के विभाग देखिए—हाथ, पांव, मुख, गुदा और शिश्न ये पांच विभाग श्रमजीवियों के क्षेत्रों में हैं। इसके अतिरिक्त प्राण विभाग के पांच मुख्य प्राण और पांच उपप्राण मिलकर दस विभाग होते हैं। मुख्य प्राण का प्रान्त छाती और उसके ऊपर का प्रदेश है, अपान नाभि के निचले प्रदेश में रहता है, व्यान सब शरीर में संचार करता है, उदान ऊर्ध्व गति से संचार करता है, समान उदर के स्थान में रहकर रस बनाता है। पांच उपप्राणों के क्षेत्र भी ऐसे ही इस शरीर में हैं।

इनके अतिरिक्त मस्तिष्क, पृष्ठवंश, दो फैफड़े, हृदय, यकृत्, प्लीहा, दो मूत्राशय, पेट, मलाशय ये मुख्य प्रान्त हैं, तथा मन बुद्धि मिलकर तेरह प्रान्त हुए। पांच ज्ञान की इन्द्रियां, पांच कर्म की इन्द्रियां, पांच मुख्य प्राण, पांच उपप्राण, ये बीस हैं और अभी गिनाए तेरह प्रान्त, सब मिलकर ३३ प्रान्त हुए। इन सबका मुख्य अधिष्ठाता आत्मा हैं। आत्मा सबमें मुख्य और अन्य ३३ अधिकारी गौण हैं। इस तरह आत्मा का यह स्वराज्य अपने शरीर में है। आत्मा यहाँ राज्य करता है। इनमें से प्रत्येक प्रान्त में एक-एक अधिकारी रहता है जो वहाँ का कार्य देखता है।

जिस तरह राज्य शासन में अनेक वैतनिक अधिकारी, प्रान्ताधिकारी, विभागाधिकारी, ग्रामाधिकारी, आरक्षक सैनिक होते हैं, इसी तरह यहाँ शरीर में भी पूर्वोक्त प्रान्तों का एक-एक अधिकारी है, उसके सहायक अधिकारी भी वहाँ उसकी सहायता करते हैं। ये सब वैतनिक सेवक हैं। ये भोगरूप वेतन लेते हैं। इनमें से प्रत्येक का भोगक्षेत्र पृथक्-पृथक् है। शरीर जो अन्न खाता है, उसका रस इनके पोषण के लिए इनको मिलता है। यथा-प्रमाण वह रस ये लेते हैं। इसके अतिरिक्त भी इनको भोग मिलता है।

नासिका पृथिवी से गन्ध लेती है। सुर्गंध लेकर यह नासाधिकारी संतुष्ट होता है, दुर्गंध आ गयी तो संतप्त होना है। सुर्गंध जितना चाहे इसके कार्यालय में आवे, वह इसका भोग करेगा, पर थोड़ी-सी दुर्गंध आए तो यह कुद्द होगा। इस तरह का यह भोगी का अधिकारी है। दूसरा ओहोदेदार रसनाथीश है, जिह्वा इसका कार्यालय है। इसको मीठे स्वादु पदार्थ भोगने के लिए चाहिए, कई यहाँ ऐसे भी रहते हैं कि वे तिक्त, खट्टा आदि रस प्रसंद करते हैं। रस छः हैं, इनमें से इसको जैसा रस चाहिए वैसा मिले तो संतुष्ट रहता है, वह न मिले तो यह बिगड़ बैठता है। इस तरह छः रस इसके भोग का क्षेत्र हैं। इनमें यह विहार करता है।

तीसरा यहाँ का अधिकारी नयन-बीर है। इसका क्षेत्र आंख है। इसको सुन्दर रूप प्रिय हैं। सुन्दरता में यह रमता है और कुण्ड वस्तु सामने आयी तो यह कुद्द हो जाता है। सौंदर्य से लुभ होने वाला यह अधिकारी है।

चौथा त्वचा का अधिकारी है। इसको मृदु कोमल स्पर्श चाहिए। इससे यह प्रसन्न होता है। किसी समय इसके पास कठोर स्पर्श की वस्तु आये, तो यह कोध करते लगता है। पांचवा अधिकारी कर्ण है। यह बड़ा बीर है, परन्तु यह बीर मीठे स्वर से प्रसन्न होता है और कर्कश कठोर स्वर से अप्रसन्न होता है। मधुर गायन हो तो उसमें यह रमेगा, परन्तु कर्णकठोर शब्द आने लगे तो यह अप्रसन्न हो उठता है।

इस राज्य के ये अधिकारी ऐसे भोगी हैं, ऐश आराम करने वाले हैं, वेतन लेकर ये कार्य करते

हैं। वेतन न मिले, भोग न मिले, तो ये अप्रसन्न होते हैं और हड्डताल भी करते हैं और कार्य करना बंद कर देते हैं! अपने भोगों पर इनकी दृष्टि सदा टिकी रहती है, संपूर्ण शरीर रूपी राष्ट्र का क्या होगा, उसका कल्याण होगा या नहीं, हमने कार्य करना छोड़ दिया, तो इस अखण्ड शरीर रूप राष्ट्र का क्या होगा, इस बात की इनको पर्वाह नहीं है।

अनेक बार ये अड़ जाते हैं, कार्य करना छोड़ देते हैं, हड्डताल करते हैं। इसी का नाम रोग है। आंख में मोतिया होता है, नाक से गंध लेने का कार्य बन्द हो जाता है, कान शब्दों का श्रवण नहीं करते, इस तरह इनके सत्याग्रह बारंबार होते हैं और इनके झगड़े मिटाते-मिटाते राजा आत्माराम बड़े कट्टों का अनुभव करता है। सब संघ का हित देखना चाहिए, अपनी ही वैयक्तिक भोगलालसा में फंसना नहीं चाहिए, इस तत्त्वज्ञान का उपदेश सुनने पर भी ये स्वार्थी वैतनिक सेवक उपदेश न सुनने के समान बर्ताव करते हैं। वेतन पर ही दृष्टि रखने वाले और अपने कर्तव्य का विचार न करने वाले अधिकारियों से ऐसा ही क्लेश होना स्वाभाविक है। भोगी अधिकारी ऐसा ही करेंगे।

ये कभी-कभी शत्रु के अधीन भी हो जाते हैं। अपने क्षेत्र का संरक्षण ये ठीक तरह नहीं करते, वहाँ शत्रु आक्रमण करता है, उस प्रांत का अधिकार अपने अधीन करके शत्रु बैठ जाता है। ऐसी विपत्ति कभी-कभी इन वैतनिक, सुखलुध, स्वार्थी सेवकों के कारण इस शरीररूपी राष्ट्र पर आ जाती है। फिर बड़े प्रयत्न से उस शत्रु को हटाने का प्रयत्न करना पड़ता है। इसी को रोग और चिकित्सा कहते हैं।

परन्तु इस शरीररूपी राष्ट्र में अवैतनिक स्वयंसेवक भी रहते हैं। वे प्रारम्भ से अन्त तक अपना कार्य अवैतनिक सेवा के उच्च आदर्श से करते रहते हैं। राष्ट्र का उच्च जीवन इन स्वयं सेवकों की सेवा पर निर्भर रहता है। इन अवैतनिक स्वयंसेवकों का संचार शरीररूपी संपूर्ण राष्ट्र में होता रहता है। ये कुछ भी वेतन नहीं लेते, विश्राम नहीं लेते, भोग नहीं भोगते, खाते नहीं, परंतु दिन-रात शरीररूपी राष्ट्र की अवैतनिक सेवा करते रहते हैं। जन्म से मृत्युपर्यंत इनकी अवैतनिक सेवा चलती रहती है, क्षण भर भी इनको विश्राम नहीं मिलता।

आंख, नाक, कान आदि जो वैतनिक सेवक हैं वे भोग भोगते, खाते, पीते, विश्राम करते, ऐश-आराम में मस्त रहते हैं। पर ये प्राणरूप अवैतनिक स्वयंसेवक दिन-रात न थकते, न विश्राम लेते, लगातार सेवा के कार्य में लगे रहते हैं। मृत्यु के समय के पूर्व ही आंख, नाक, कान आदि वैतनिक सेवक अपना कार्य बन्द करके चुप बैठ जाते हैं, परन्तु ये प्राणरूपी सब स्वयंसेवक मृत्यु के अन्तिम क्षण तक, जीने की संपूर्ण आशा छूट जाने पर भी सेवा करते ही रहते हैं। ऐसे ये अवैतनिक स्वयं-सेवक हैं, इसलिए यह शरीररूपी राष्ट्र विपत्तियां आने पर भी जीवित रहता है। यदि इसका जीवन ज्ञान-कर्म इदियों पर ही निर्भर रहेगा, तो यह शरीररूपी राष्ट्र जीवन-युक्त रहेगा ही नहीं। पर इन प्राणरूपी अवैतनिक स्वयंसेवकों पर इस शरीररूपी राष्ट्र का जीवन निर्भर रहता है और ये आलरथ छोड़कर सेवा भाव से कार्य करते रहते हैं, इसीलिए यह शरीररूपी राष्ट्र उत्साहमय रहता है।

प्राण-इन्द्रिय-कलह

आंख, नाक, कान, इन वैतनिक सेवकों का प्राणरूपी स्वयंसेवकों के साथ एक बार झगड़ा

हुआ। प्राण कहता था कि मेरी सेवा के कारण यह शरीर जीवित रहता है। ज्ञान कमे इन्द्रियां इसको मानने से इनकार करने लगीं और कहने लगीं कि हमारी सेवा से ही यह शरीर जीवित रहता है। इस तरह इन्द्रियों और प्राणों में भगड़ा खड़ा हो गया। उसका बर्णन देखिए—

ते प्रकाश्य अभिवदन्ति वयं एतद्वाणं अवष्टम्य विधारयामः । तान् वरिष्ठः प्राण
उवाच, मा मोहं आपद्यथ, अहं एव एतत् पञ्चवा आत्मानं प्रविभज्य एतद्वाचनवष्टम्य
विधारयामोति । ते अश्वधाना वभूवः सोऽभिमानाद्वृद्धं वृत्कमते इव । तस्मिन्नुत्का-
मति अव इतरे सर्वं एव उत्कामन्ते । तस्मिंश्च प्रतिष्ठमाने सर्वं एव प्रातिष्ठन्ते । तद्या
मक्षिका मधुकरराजानं उत्कामन्तं सर्वा एवोत्कामन्ते तस्मिंश्च प्रतिष्ठमाने सर्वा एव
प्रातिष्ठते एवं वाङ् मनश्चक्षुः श्रोत्रं च । ते प्रीताः प्राणं स्तुवन्ति ॥ प्रश्न० उ० २

इन्द्रियां कहने लगीं—हम सब मिलकर इस शरीर को सुड़ रूप से धारण करती हैं।

प्राण बोला—हे इन्द्रियो! तुम ऐसे भ्रम में न फंसो। तुम्हारे अन्दर इस शरीर को इड़ रूप से धारण करने की शक्ति नहीं है। यह कार्य मेरा है। मैं अपने आपको पांच विभागों (प्राण, अपान, व्यान, उदान, समान) में विभक्त करके और पांच स्थानों में रहकर इस शरीर को धारण करता हूं। तुम्हारे अन्दर भी मैं ही जीवन रखता हूं।

इन्द्रियां—इस पर हमें विश्वास नहीं होता। क्योंकि देखना, सुनना, चखना आदि सब कार्य हम ही करती हैं, जिससे इस शरीर की धारणा हो रही है। यह प्रत्यक्ष है। तुम तो यहां हमारे जैसा कुछ भी उपयोगी कार्य नहीं करते। इसीलिए हम ही इस शरीर को धारण कर रहे हैं, यह सिद्ध होता है।

प्राण—यह तुम्हारी कल्पना असत्य है। यदि मेरी शक्ति तुम्हें न मिली, तो तुमसे कुछ भी कार्य नहीं होगा, इसलिए सब बल मेरा है, तुम्हारा नहीं।

इन्द्रियां—ऐसा तो हम नहीं मान सकते। प्रत्यक्ष के विश्वद्व कौन मान सकता है?

प्राण—मेरी शक्ति तुमको देखनी है?

इन्द्रियां—हाँ, दिखाओ, तुम्हारी शक्ति कहाँ है?

प्राण—देखो, मैं अब इस शरीर को छोड़ देता हूं, देखना, मेरे जाने से क्या बनता है।

इन्द्रियां—हाँ, चले जाओ। हम यहां रहकर यहां का सब कार्य चलायेंगे।

इतना भगड़ा होने पर प्राण इस शरीर को छोड़ने की तैयारी करने लगा। वह प्राण थोड़ा-सा ऊपर उठा, शरीर छोड़ने का उपक्रम करने लगा, तो चमत्कार यह हुआ कि सभी इन्द्रियां उस प्राण के साथ ही अपने स्थान से उत्थड़ने लगीं! तब इन्द्रियों में घबराहट उत्पन्न हुई। किसी को भी, प्राण के बिना हम रह सकेंगे और कार्य कर सकेंगे, यह विश्वास नहीं रहा। सब इन्द्रिया अपनी निर्बलता अनुभव करने लगीं। तब उनकी घबराहट देखकर प्राण उनसे कहने लगा—

प्राण—क्या मैं इस शरीर को पूर्णतया छोड़ दूँ? मेरे जाने पर आप यहां का कार्य संभाल लेंगी?

इन्द्रियां—नहीं, नहीं, महाराज! आपके बिना हमारा यहां रहना भी अशक्य है, कार्य करना तो दूर रहा। महाराज! आपकी शक्ति से ही हम सब कार्य कर रहे हैं। आप ही हम सब में श्रेष्ठ, वरिष्ठ और हम सबके आधार हैं। हम आपके ही आश्रय में रहकर कार्य करने में

समर्थ होते हैं। हम अपनी शक्ति से कुछ भी नहीं कर सकते। यह सब आपही की महिमा है।

प्राण—अब तुम्हारे ध्यान में सत्य बात आ गयी। यह ठीक हुआ। अब यहीं ध्यान में रखो।

यह कलह का वृत्तात्त तो कालपत्रिक है। यहाँ इतना ही बताना है कि प्राण—जितको हमने अवैतनिक स्वयंसेवक कहा, वे मुख्य हैं, उनकी शक्ति से शरीर की सब इन्द्रियां अपना-अपना कार्य करने में समर्थ होती हैं। इन इन्द्रियों को हमने वैतनिक सेवक कहा है।

राष्ट्र के शासन में इससे यह बोध मिलता है कि राष्ट्रीय स्वयंसेवक जो राष्ट्र की अवैतनिक सेवा केवल सेवा भाव से, अपना कर्तव्य समझ कर करते हैं, राष्ट्र में श्रेष्ठ हैं और जो वैतनिक सेवक हैं, जो आराम-विश्राम करते हुए, भोग भोगते हुए, वेतन पर ध्यान देते हुए अपना कार्य करते हैं, उनकी सेवा उन स्वयंसेवकों से कम महत्व की है।

वीरभद्र

शरीररूपी राष्ट्र में पूर्वस्थान में बता आए हैं कि यहाँ ३३ प्रांत हैं, प्रत्येक प्रांत पर एक-एक अधिकारी है और उस प्रांत में एक-एक कोटि अणुजीव रहते हैं जो उस क्षेत्र के रहने वाले हैं। वे वहाँ का नियत कार्य करते रहते हैं।

इन प्रांताधिकारियों के नीचे छोटे-छोटे अधिकारी कार्य करने वाले अनन्त कार्यकर्ता होते हैं। प्रत्येक स्थान पर एक अधिष्ठाता और अनेक कार्यकर्ता होते हैं और इस देहरूपी विशाल राष्ट्र का सब कार्य इनके द्वारा चलता है। इन सबमें प्राण की शक्ति जाकर सबको उत्साहित करती रहती है। इसका नाम 'वीरभद्र' है, अथवा 'भद्र वीर' कहिए। कल्याण करने वाला यह वीर है। यह बड़ा शक्तिशाली है और इसके नीचे दस प्राण उपप्राण मिलकर उक्त प्रान्तों में स्वयं-सेवकों का कार्य करते हैं।

प्रान्ताधिकारी ३३ हैं, उनका मुख्य अधिष्ठाता मन है। मन की देख-रेख रहे तो ये प्रान्ताधिकारी अपने-अपने प्रान्त का कार्य करते रहते हैं। मन निगरानी के लिए रहे तो ये वैतनिक सेवक अपना कार्य छोड़कर आलस्य में समय बिताएंगे। कार्य करने न करने की इनको पर्वाह नहीं है। काम कम करना पड़े, भोग अधिक मिले, विश्राम अधिक मिले, ऐसा इनका सदा विचार रहता है। इसलिए मन को इनके पीछे पड़-पड़कर इनसे काम लेना पड़ता है। इसलिए विचारे मन को एक क्षण की भी फुरसत नहीं। यह विचारा इधर से उधर, उधर से इधर वूमता और दौड़ लगाता रहता है और इन्द्रियों से काम लेता रहता है। इस मन की इस प्राण के साथ घनिष्ठ मित्रता है।

प्राण और मन

प्राण चलने लगा तो मन चलने लगता है और प्राण स्थिर रहा तो मन स्थिर रहता है। इसलिए प्राणायाम से मन स्थिर और शान्त करने की विधि योगियों ने निकाली और वह उपयोगी सिद्ध हुई है। इससे कैसा लाभ होता है, यह देखिए। प्राणायाम से प्राण का बल बढ़ाया जाता है, इससे मन बलवान होता है। मन बलवान हो तो मन के अधीन ३३ प्रान्ताधिकारी जो रहते हैं, वे भी ठीक कार्य करते हैं। इसलिए जो विचार मन में रहेगा, वैसा कार्य शरीर के विभागों में होगा। यह नियम इतना निश्चित है कि इसमें भूल नहीं होती।

किसी इन्द्रिय और अवयव में कुछ विकार या रोग का प्रादुर्भाव हो, तो प्राण के आश्रय से रहने वाले मन को तदनुकूल प्रेरणा दी जाय। मन वैसा हेरफेर वहाँ करने लगता है और इष्ट परिणाम होता है। इससे वहाँ का रोग दूर होगा और आरोग्य स्थिर रहेगा। शरीर की प्रत्येक इन्द्रिय और अवयव में यह मन इस तरह इष्ट परिणाम करता है। यदि मन में बुरे विचार रहें तो अनिष्ट परिणाम भी यही मन करता है। इसलिए मन को सुविचारमय करने की अत्यन्त आवश्यकता है। 'मन एव मनुष्याणां कारणं बन्धमोक्षयोः'—मन ही मनुष्यों के बंध और मोक्ष का मुख्य कारण है, ऐसा जो कहा है वह नितांत सत्य है।

सुषारथिरश्वानिव यन्मनुष्यान्नेनीयतेऽभीषुभिर्वाज्जिन इव ।

हृत्प्रतिष्ठं यदजिरं जविष्ठं तन्मे मनः शिवसंकल्पमस्तु ॥ वा० यजु० ३४।६५

"जिस तरह उत्तम सारथी रथ के बोड़ों को उत्तम मार्ग पर चलाता है, उसी तरह हृदय में रहने वाला यह जरारहित, सदा तरुण मन इस शरीर को चलाता है। वह शुभ संकल्पयुक्त हो।" मन को शुभसंकल्पयुक्त करने का उपदेश यहाँ इसलिए है कि शुभसंकल्प करे तो मन का तथा संपूर्ण मानव का हित होता है और अशुभ संकल्प करे तो सबका अधःपतन होता है।

मन सब इन्द्रियों का स्वामी है, अधिपति और इशा है। सब इन्द्रियों मन के अधीन हैं। इसलिए मन के विचार परिशुद्ध चाहिए, मन में शुभ विचार ही रहने चाहिए।

संकल्प का परिणाम

"मैं आत्मा हूँ। मैं इस शरीररूपी राज्य का शासक हूँ। यह मेरा स्वराज्य है और मैं इस स्वराज्य का शासक 'स्वराट्' हूँ। मैं जो अनुशासन चलाऊंगा वही यहाँ विधान के रूप में चलेगा। इस राज्य के दिव्य स्वयंसेवक ये सब प्राण हैं। इनकी सेवा यहाँ अखण्ड रीति से चल रही है। यहाँ हमारी सहायक बुद्धि है। मन सम्पूर्ण इन्द्रियों और अवयवों का अधिष्ठाता है। इसलिए मैं मन को आज्ञा देता हूँ कि वह शुभ संकल्प करता रहे। मैं नहीं चाहता कि इस मेरे राज्य में अशुभ वृत्ति धारण करने वाला कोई हो। यहाँ मेरे इस राज्य में सब इन्द्रियां शुभ प्रवृत्ति वाली हों, अच्छ, जल शुभ परिणाम करने वाला इस शरीर में जाय, मन शुभ संकल्प करे, यहाँ अशुभ कामना का संपर्क ही न हो। पापभाव और पाप वासना हमारे इस राज्य में न आवे। कुविचार और कुसंकल्प हमारे पास न आवें। यहाँ शुभ भावनाओं का आनन्दपूर्ण वायुमण्डल रहे। मैं अपने धर्म-भावनामय अनुशासन से कुसंकल्पों को यहाँ आने ही नहीं दूगा। इस तरह यहाँ का राजा कह सकता है और यह जैसा कहता है वैसा ही यहाँ हो सकता है। अपना मन शुभ संकल्प वाला बनाने से इस शरीररूपी राष्ट्र में रोग आदि अपत्तियां नहीं भोगनी पड़ेंगी। यहाँ सदा स्वास्थ्य रहेगा, आनन्द और सामर्थ्य अविच्छिन्न रहेगा।

इस शरीररूपी राष्ट्र पर काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद और मत्सर तथा अन्यान्य शत्रु आक्रमण करने के लिए तैयार रहते हैं। जिस समय अनुशासन की शिथिलता होती है, उसी समय ये शत्रु अन्दर घुसते हैं और यहाँ अपना अधिकार जमाने का यत्न करते हैं। यदि अनुशासन ढीला हो तो शरीररूपी राष्ट्र पर ये अधिकार जमा लेते हैं और आत्मा, बुद्धि, मन को धेर लेते हैं, तथा

अनेक आपत्तियां खड़ी कर देते हैं। इसलिए यहां कदापि अनुशासन की शिथिलता नहीं होने देनी चाहिए। अनुशासन जितना जाग्रत और तीव्र होगा, उतना अधिक कल्याण यहां होगा।

हमें प्रयत्न करना चाहिए कि यहां हमारा ही अनुशासन चले और किसी अन्य शत्रु का अधिकार यहां न हो। संयम और नियम से अपने इन्द्रियों और अंगों का नियमन करना चाहिए।

सुन्दर उपमा

संयम की आवश्यकता बताने के लिए यहां कई प्रकार के वर्णन हैं। उनमें प्रथम रथ और घोड़े की उपमा से कैसा सुन्दर वर्णन है, वह देखिए—

आत्मानं रथिनं विद्धि शरीरं रथमेव तु । बुद्धिं तु सारांथं विद्धि मनः प्रप्रहमेव च ॥३॥

इन्द्रियाणि हयानाहुः विषयांस्तेषु गोचरान् । आत्मेन्द्रियमनो युक्तं भोक्तेत्यहुमनोषिणः ॥४॥ कठ० ३

"यहां आत्मा रथी है, रथ का स्वामी है, शरीर रथ है, बुद्धि सारथी है और मन लगाम है। इन्द्रियां घोड़े हैं, वे विषयों में संचार करते हैं। आत्मा-इन्द्रिय-मन मिलकर भोक्ता कहलाता है।" यहां रथ की उपमा शरीर को देकर और इन्द्रियों को घोड़े कहकर संयम कैसे करना चाहिए, यही बताया है।

जिस तरह रथ के घोड़े सारथी के अधीन ही रहने चाहिए, सारथी के हाथ में लगाम रहनी चाहिए, और सारथी को रथ उत्तम मार्ग से अपने इष्ट स्थान तक पहुंचाना चाहिए, इसी तरह सब इन्द्रियां, सब अंग और सब अवयव अपने अधीन रहने चाहिए, किसी एक का भी स्वेच्छाचार हुआ तो वह सब शरीर के नाश का कारण होगा।

रथ में जोते गये घोड़े शिक्षित होने चाहिए। घोड़े अच्छी तरह से सुशिक्षित न हों, तो वे सारथी के अधीन नहीं रहेंगे और रथ को किसी गड़े में गिरा देंगे। सारथी अच्छी तरह चलाने की कला में कुशल न हो, तो वह सुशिक्षित घोड़ों को भी अच्छी तरह चला नहीं सकेगा और इवर-उधर ले जाकर गिरा देगा। रथ मुद्रू न रहे तो बीच में ही टूटेगा और रथी अपने पहुंचने के स्थान पर नहीं पहुंच सकेगा। घोड़ों की लगामें उत्तम अवस्था में न रहीं और बीच में ही टूट गयीं, तो अच्छे घोड़े भी ठीक तरह चलाए नहीं जा सकेंगे। मार्ग भी अच्छा सीधा चाहिए, गढ़ों वाला हो तो उसमें रथ, घोड़े और सारथी सभी के गिरने की सम्भावना होगी।

यहां शरीरधारी जीव को अपने मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार और इन्द्रियों का संयम करके उनको स्वाधीन रखने का उपदेश है। यह उपदेश व्यक्ति के सुधार के लिए ही है। पर आत्मा को स्वराट् और शरीर को आत्मा का स्वराज्य कहकर यही उपदेश राष्ट्र में ढालने के लिए भी है। राष्ट्र के अधिकारी राष्ट्रसभा के सभासद, तथा अन्यान्य कर्मचारी सबके सब सुशिक्षित, संयमी, अपने आप पर नियमन रखने वाले, नीरोग, बलवान्, शत्रु के बश न होने वाले होने चाहिए। यदि वे ऐसे न हों, तो राष्ट्र का राष्ट्र विनष्ट हो जाएगा, इसमें संदेह नहीं है। शरीर को राष्ट्र रूप में वर्णन करने से राष्ट्र शासन के लिए भी उत्तम बोध मिलता है, यही वैदिक शैली की विशेषता है।

राष्ट्ररूपी रथ

राष्ट्र एक रथ है, उसके अनेक अधिकारी जो शासन का कार्य करते हैं, वे घोड़े हैं, बुद्धि

राजसभा है, मन महामन्त्री अथवा मन्त्रिमण्डल है, राष्ट्राधिकारी महामन्त्री के अधीन रहकर शासन का कार्य करते हैं। यहां सैनिक, आरक्षक तथा स्वयंसेवक प्राण हैं जो रात-दिन राष्ट्रीय सुरक्षा करने में तत्पर रहते हैं। अन्य प्रजाजन राष्ट्र में रहने वाले हैं। उन सबको सुख, आनन्द और प्रसन्नता की अवस्था तक पहुंचाने के लिए राष्ट्रशासन चलाया जा रहा है और इसका दायित्व राष्ट्राध्यक्ष पर, राष्ट्रशासक पर है। इस विचार के लिए निम्न तालिका उपयोगी है—

शरीर में

जीव, आत्मा
शरीर का अधिष्ठाता
बुद्धि, मति, मेघा,
धारणा, चित्तनशक्ति
मन, अहंकार
ज्ञान इन्द्रियाँ
कर्म इन्द्रियाँ
प्राण, उपप्राण
इन्द्रिय, अंग, अवयव
शरीर (व्यक्ति)

राष्ट्र में

राष्ट्र में जीवन फैलाने वाला अध्यक्ष
राष्ट्राध्यक्ष, शासक, प्रजापति
राष्ट्रशासक को सुसम्मति देने वाली
राष्ट्रसभा
महामन्त्री, राष्ट्राभिमान, मंत्रिमण्डल
ज्ञान प्रसार करने वाले शिक्षित लोग
कर्म कुशल कार्यकर्ता, शिल्पी,
रक्षक, आरक्षक, सैनिक, स्वयंसेवक,
प्रांत, उपप्रांत और विभाग
राष्ट्र, देश (समूह)

इस तरह शरीर के नियम राष्ट्र में ढाले जाते हैं और उससे राष्ट्रीय शासन के विषय में उत्तम बोध मिल सकता है। राष्ट्र में राष्ट्राध्यक्ष से लेकर प्रान्ताधिकारी, ग्रामाधिकारी आदि सब मुश्खित, वर्तम्य दक्ष, संयमी, अत्याचार न करने वाले होने चाहिए। अपने नियत कार्य में वे प्रवीण रहें। महामन्त्री की आज्ञा में रहकर राष्ट्रशासन तत्परता से करने वाले हों। शत्रु से मिलने वाला (पंचमांगी) एक भी हो तो वह राष्ट्र पर आपत्ति ला सकता है। और इस तरह आपत्ति आ जाए तो उसका निवारण करना अत्यन्त प्रयास का कार्य होता है। जैसे शरीर में रोग लाना सहज हो सकता है, शरीर को नीरोग रखना ही कठिन है और उससे भी कठिन आए रोग को हटाना है। इसी तरह शत्रु को बुलाकर लाना और उसके अधीन होकर अपना स्वातन्त्र्य खोने में तो कोई कष्ट नहीं है, पर ऐसा पतन होने पर जो सबको कष्ट होगा वह महा भयंकर है।

व्यक्ति का शरीर व्यक्ति का अपना राष्ट्र है। ऐसा कहकर व्यक्ति के शरीर का वर्णन करने से ही राष्ट्र का वर्णन हो जाता है और उसी से उत्तम राष्ट्रहित का बोध मिल सकता है, वह हमने यहां देखा। अब वेद में शरीर का और कैसा वर्णन किया है, वह देखेंगे—

सप्त ऋषियों का आश्रम

वेद में शरीर के लिए सप्त ऋषियों के आश्रम की अत्यन्त पवित्र उपमा दी है। वह अत्यंत बोधप्रद है—

सप्त ऋषयः प्रतिहिताः शरीरे सप्त रक्षन्ति सदमप्रमादम् ।

सप्तापः स्वपतो लोकमोयुः तत्र जाग्रतो अस्वप्नजो सत्रसदौ च देवौ ॥ य० ३४।५५

“प्रत्येक शरीर रूपी आश्रम में सात ऋषि रहते हैं, वे प्रमाद न करते हुए इस यज्ञस्थान

का संरक्षण करते हैं। यहां सात जल-प्रबाह सोने वाले के स्थान को बापस जाते हैं और उसी यज्ञ स्थान में दो देव विश्राम न करते हुए जागते रहते हैं।” यह इस शरीर का ही वर्णन है। इसके पूर्व शरीर को राष्ट्र मानकर तथा शरीर को रथ मानकर वर्णन किया है। अब यहां वेदमन्त्र स्वयं शरीर को ऋषियों का आश्रम मानकर वर्णन कर रहे हैं। राष्ट्र की उपमा देकर वर्णन करने में यहां दक्षता से संरक्षण होना चाहिए यह उपदेश मिला। रथ, घोड़े आदि के वर्णन से इन्द्रियों की स्वाधीनता तथा सुशिक्षा का उपदेश मिला। अब ऋषि आश्रम के वर्णन से पवित्रता तथा ज्ञान-निष्ठा का बोध मिल रहा है।

यहां इस शरीररूपी आश्रम में सात ऋषि बैठकर तपस्था कर रहे हैं। ये ऋषि यहां अपनी-अपनी कुटिया में रहते हैं और अपना ज्ञानसत्र चलाते रहते हैं। प्रत्येक शरीर में (प्रति शरीरे सप्त ऋषयः हताः) ये सात ऋषि हैं। सब मानवों के शरीर में हैं, प्रत्येक मनुष्य के शरीररूपी आश्रम में ये सात ऋषि हैं। इसी तरह पशु-पक्षियों के शरीरों में भी हैं। मनुष्य शरीर में जैसे ये प्रौढ़ और कार्यक्षम हैं, वैसे पशु शरीर में नहीं हैं। पर ये वहां भी हैं।

दो आंख, दो कान, दो नाक और एक जिह्वा ये सात ऋषि प्रत्येक शरीर में हैं। ‘ऋषि’ वह है कि जो (ऋषयः क्रान्तदर्शिनः) क्रान्तदर्शी होता है, दिव्य शक्ति से आंख दूर तक देखती है, कान दूर तक सुनते हैं, नाक दूर से गन्ध लेती है, जिह्वा शब्द बोलती है जो दूर से सुनाई देता है। इस तरह ये ऋषि दूरदर्शी हैं, दूर से ज्ञान लेते और ज्ञान देते हैं। ये ज्ञान-प्रसार का कार्य करते रहते हैं। ज्ञानसत्र अथवा ज्ञानयज्ञ इन्होंने प्रारम्भ किया है और अन्त तक ज्ञान क्षेत्र में ही ये कार्य करते रहेंगे। अतः इनको ऋषि कहा है। ऋषि तो आश्रम में रहते हैं इसलिए इस शरीर को ऋषि आश्रम कहा गया है। ऋषि पवित्र रहते हैं और निर्दोष आचरण करते हैं, इसलिए इन इंद्रियों को पवित्र रहकर निर्दोष आचरण करना चाहिए।

(सप्त ऋषयः अप्रमादं सदं रक्षन्ति) ये सात ऋषि अपने आचार में प्रमाद नहीं करते और इस यज्ञ सभागृह की रक्षा करते हैं। इसी तरह मनुष्य को प्रमाद न करते हुए अपने शरीर का और राजपुरुषों को अपने राष्ट्र का उत्तम संरक्षण करना चाहिए। आंख दूर से देखती है और कहती है कि दक्ष रहो, शत्रु आ रहा है। कान शब्द सुनता है, शब्द से शत्रु मित्र को पहचानता है और कहता है कि सावधान रहो, शत्रु इस दिशा से आ रहा है। नाक गंध सूंघती है और शत्रु को गंध से ही पहचानती है और कहती है, हाँ, इधर से शत्रु आ रहा है। इस तरह ये ऋषि शत्रु को जानते हैं और संरक्षकों को कहते हैं कि यह शत्रु है, इसे दूर करो।

ऐसा ही राष्ट्र में करना चाहिए और राष्ट्र का संरक्षण करना चाहिए। दूर-दूर के स्थानों और देशों में क्या हो रहा है, यह जानकर वहां शत्रु कहां छिपे हैं, उनका पता लेकर उनको दूर या विनष्ट करना चाहिए। रंग रूप शब्द हलचल आदि से दूरस्थ शत्रुओं को पहचानना और उनको दूर करना चाहिए। ऋषि-आश्रमों पर राक्षस आक्रमण करते हैं और यज्ञ का विध्वंस करते हैं, उनका निवारण ऋषि करते हैं और आश्रम का संरक्षण करते हैं। यह कथा इस शरीर में ही देखने योग्य है। ऋषियों के आश्रमों का विध्वंस तो राक्षस करते ही थे, राष्ट्र पर आक्रमण भी राक्षस ही करते रहते हैं। पर शरीररूपी आश्रम अथवा शरीररूपी राष्ट्र पर भी रोगादि बाह्य शत्रु और दुष्ट-विकार आदि अन्तः शत्रु आक्रमण करते हैं और इस शतसांवत्सरिक यज्ञ का नाश करते हैं। हमारा

शरीररूपी राष्ट्र जैसे उत्तम अवस्था में रहना चाहिए वैसे ही हमारा विशाल राष्ट्र भी उज्ज्वल अवस्था में रहना चाहिए।

सात नदियाँ

यहां शरीर का और वर्णन करते हैं। 'सप्त आपः स्वप्तः लोकं ईयुः' सात जलप्रवाह, सात नदियाँ सोनेवाले के लोक को पहुंचती हैं। यहां सोने वाला अन्तःकरण के साथ आत्मा है। उसका स्थान मन से परे है। ये सात इन्द्रियप्रवाह, आंख का दर्शनप्रवाह, कान का श्रवणप्रवाह, नाक का गन्धग्रहणप्रवाह, जिह्वा का रसग्रहणप्रवाह, त्वचा का स्पर्शग्रहणप्रवाह जागृति में बाहर की ओर चलता रहता है। इन्द्रियाँ बाहर की ओर देखती हैं अर्थात् उनके क्रियाप्रवाह अन्दर से बाहर की ओर जाते हैं। पर जब (स्वप्तः लोकं ईयुः) वे प्रवाह सोने वाले के स्थान को पहुंचते हैं, अर्थात् जब गाढ़ निद्रा आजाती है, तब ये ही प्रवाह अन्तर्मुख हो जाते हैं। इन इन्द्रियों के प्रवाह बाह्य विश्व की ओर जाने का ही नाम "जागृति" है और इनके प्रवाह अन्तर्मुख होकर आत्मा की ओर जाने लगें और उसमें लीन हों तो वही गाढ़-निद्रा होती है। इसलिए कहा है कि सप्त ऋषियों के आश्रम की ये सात नदियाँ जागृति में बाहर की ओर जाती हैं और सुषुप्ति के समय वापस आकर आत्मा में लीन होती हैं।

इस समय (तत्र जाग्रतः अस्वप्नजो सत्त्वसदौ च देवौ) इस ऋषि-आश्रम में दो देव हैं जो कभी विश्राम नहीं करते, कभी निद्रा भी नहीं लेते और आश्रम में सतत ही जागते रहते हैं। आश्रम की सुरक्षा के लिए सतत प्रयत्न करते रहते हैं। इनका नाम 'श्वास और उच्छ्वास' है। ये दो देव हैं जो इसके संरक्षणार्थ अविश्रांत परिश्रम करते रहते हैं। ये प्राण अवैतनिक स्वयं सेवक हैं।

कितना उत्तम शरीर का यह वर्णन है। यह शरीर सत्त्वमुच्च ऋषियों का आश्रम बन जाय तो कितना अच्छा हो। ऋषियों की ज्ञाननिष्ठा सुप्रसिद्ध है, वैसे ही आचार की पवित्रता, धर्मनिष्ठा, ब्राह्मी स्थिति प्राप्त करने की उत्सुकता आदि अनेक शुभ गुण ऋषि शब्द के साथ जुड़े हैं। ज्ञान से प्रशस्त कर्म करने की प्रवृत्ति उत्पन्न होती है, प्रशस्त कर्मों से इह परलौक का सुख निःसंदेह प्राप्त हो सकता है। इसका परिणाम दीर्घजीवन की प्राप्ति और उत्साहपूर्ण व्यवहार के संपादन में है। शरीर को सप्त ऋषियों का आश्रम कहने से शरीर को अर्थात् शरीर, मन, बुद्धि को अत्यंत पवित्र रखने का दायित्व यहां के अधिष्ठाता पर आता है। ये सप्त ऋषि यहां की सुरक्षा प्रमादरहित होकर करते हैं। इसलिए हमें भी वैसा करना चाहिए। शरीर की तथा राष्ट्र की सुरक्षा दक्षता से करनी चाहिए।

शरीर की दिव्यता

जैसे शरीर में राष्ट्र है, शरीर ऋषि-आश्रम है, वैसे ही यह एक अलौकिक अथवा दैवी रचना भी है। इस सम्बन्ध में ऐतरेय उपनिषद् में कहा है—

अग्निः वाग् भूत्वा मुखं प्राविशत्, वायुः प्राणो भूत्वा नासिके प्राविशत्, आदित्यश्चक्षुः भूत्वाऽक्षिणी प्राविशत्, दिशः श्रोत्रं भूत्वा कर्णो प्राविशन्, श्रोषविवनस्पतयो लोमानि भूत्वा त्वचं प्राविशन्, चन्द्रमा मनो भूत्वा हृदयं प्राविशत्, मृत्युः अपानो भूत्वा नाभिं प्राविशत्, आपो रेतो भूत्वा शिश्नं प्राविशन्।

“अनि वाणी बनकर मुख में प्रविष्ट हुआ, वायु प्राण बनकर नासिका में प्रविष्ट हुआ, सूर्य नेत्र बनकर आंखों में प्रविष्ट हुआ, दिशाएं श्रोत्रेन्द्रिय बनकर कानों में प्रविष्ट हो गयीं, औषधि बनस्पतियां लोम बनकर त्वचा में प्रविष्ट हुईं, चन्द्रमा मन बनकर हृदय में प्रविष्ट हुआ, मृत्यु अपान बनकर नाभि में प्रविष्ट हुईं, जल वीर्य बनकर शिश्न में प्रविष्ट हुआ।”

इस रीति से भिन्न-भिन्न देवता शरीर के भिन्न-भिन्न स्थानों में आकर वसे हैं। संपूर्ण ३३ देवताओं का निवास इस शरीर में है। इस तरह यह शरीर ‘देवों का मन्दिर’ है। इस समय तक शरीर को राष्ट्र कहा, शरीर को रथ कहा, शरीर को ऋषि-आश्रम कहा, और उसी शरीर को ‘देवों का मन्दिर’ कहते हैं। एक देव का मन्दिर नहीं परन्तु ३३ देवों का यह मन्दिर है, नहीं नहीं, प्रत्युत ३३ कोटि देवों का मन्दिर है यह शरीर। इसलिए अर्थवृत्त वेद में इसे ‘देवानां पूः’ (देवों की नगरी) कहा है।

अष्टाचक्र नवद्वारां देवानां पूः अयोध्या। तस्यां हिरण्ययः कोशः स्वर्गो ज्योतिषावृतः ॥

अथर्व० १०।२।३।

“आठ चक्रों वाली तथा नी द्वारों वाली यह देवों की नगरी शत्रु द्वारा युद्ध करके पराजित न होने वाली है। इस नगरी में सुवर्णमय कोश है, जो तेज से वेष्टित स्वर्ण है।” यह वर्णन इस शरीररूपी नगरी का है। यह अयोध्या नगरी है। यहां रामचन्द्रजी राज्य करते हैं। सच्चा रामराज्य यह शरीर का स्वराज्य है। इसका संरक्षण करने के लिए इसके चारों ओर बड़ा भारी दुर्ग है, इस दुर्ग के प्राकार के नी द्वार हैं और इस दुर्ग पर आठ चक्र लगे हैं जो उचित समय पर शत्रु का नाश करते हैं। यह ‘अ-योध्या’ शत्रु द्वारा आक्रमण होने के अयोग्य है। कितना भी बलवान शत्रु हो वह नगरी को पराजित करके इसको अपने अधीन नहीं कर सकता, ऐसी यह दुर्ग प्राकारों वाली अभेद नगरी है। इस नगरी में (ज्योतिषा आवृतः) चारों ओर तेज ही तेज, प्रकाश ही प्रकाश है। अन्धेरे का नाम निशान नहीं है। इस नगरी में (हिरण्ययः कोशः) सुवर्ण भरा हुआ कोष है। यह कोश धन-रत्नों से भरपूर है। घन की कमी यहां नहीं है। यह देवों की नगरी है। स्वयं देव यहां आकर रहते हैं। ऊपर बताया है कि, सूर्यादि देव यहां आकर रहे हैं, अर्थात् सूर्यादि देवों के अंश आकर यहां वसे हैं और एक-एक प्रान्त का अथवा एक-एक विभाग का वे संचालन कर रहे हैं।

ये देव यहां कैसे किस मार्ग से आए, उनका आने का मार्ग बताने वाला चित्र नीचे दिया है। जो ब्रह्माण्ड में हैं वह सब अंशरूप से इस शरीररूपी पिण्ड में हैं। विश्व में ऐसा कोई शक्ति केन्द्र नहीं, जिसका अंश इस शरीर में आकर न रहा हो। अर्थात् जो विश्व में है वह सब अंशरूप से इस शरीर में है और जो यहां है उसका बृहद्रूप विश्व में है। मानो यह शरीर विश्व का एक अंश ही है।

इस विषय का वर्णन वेद मन्त्रों में इस तरह आता है—

कुत इन्द्रः कुतः सोमः कुतो अग्निरजायत । कुतस्त्वद्या समभवत्कुतो धताजायत ॥८॥

ये त आसन्दश जाता देवा देवेर्भ्यः पुरा । पुत्रेभ्यो लोकं दत्त्वा कर्त्स्मत्ते लोकमासते ॥१०॥

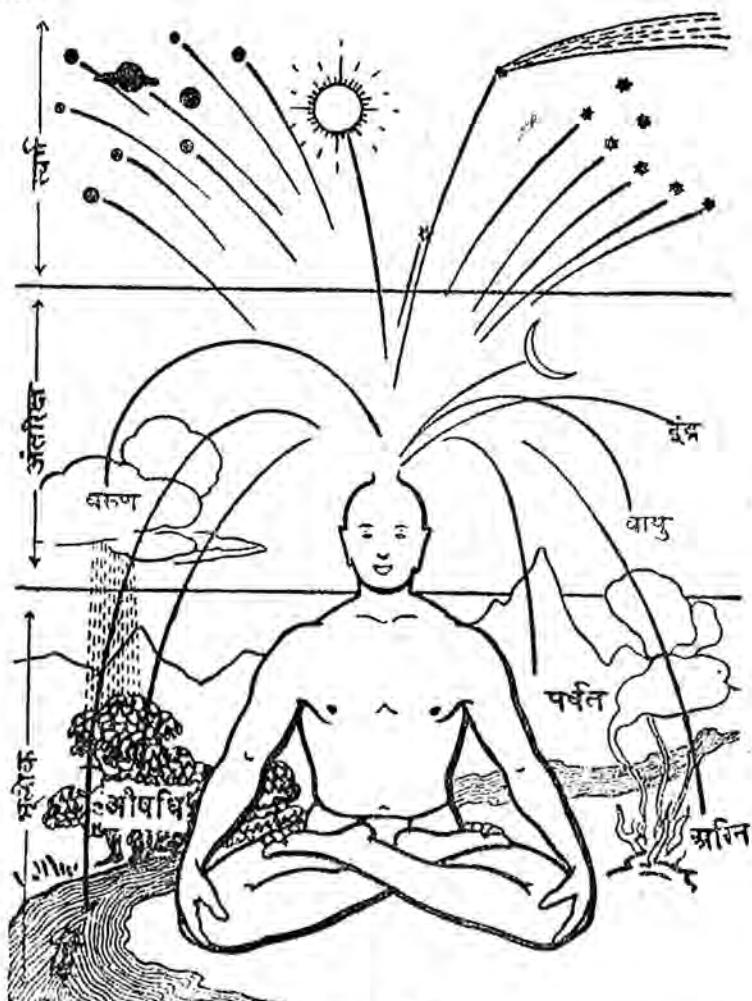
शरीरं कृत्वा पादवत्कं लोकमनु प्राविशत् ॥११॥

संसिद्धो नाम ते देवा ये संभारान्तसमभरन् । सर्वं संसिद्धं मर्त्यं देवाः पुरुषमाविशत् ॥१३॥

गृहं कृत्वा मर्त्यं देवाः पुरुषमाविशत् । रेतः कृत्वाऽज्यं देवाः पुरुषमाविशत् ॥२१॥

सूर्यश्चक्षुर्वातः प्राणं पुरुषस्य विभेजिरे ॥३१॥

तस्माद्वं विद्वान् पुरुषमिदं ब्रह्मेति मःयते । सर्वा ह्यस्मिदेवा गावो गोष्ठ इवासते ॥३२॥ अथर्व० ११।



विश्वरूप देह

“इन्द्र, सोम, अग्नि, त्वष्टा और घाता ये कहां से पैदा हुए ? देवों से जो पुत्र रूप देव बने वे दस देव थे, अपने पुत्र रूप देवों को उन्होंने नया स्थान बनाकर दिया और वे पश्चात् किस लोक में रहने लगे ! चलने वाला शरीर बनाकर वे देव भला कहां रहने लगे ! ससिचृ नामक वे देव हैं, जो सब संभार इकट्ठा करते हैं। उन्होंने इस मर्त्य शरीर को जीवन से सिंचित किया और वे देव पुरुष शरीर में घुस गए। रेत का धी करके देव मनुष्य शरीर में घुसे हैं। सूर्य चक्षु बना, वायु प्राण बना, और ये देव पुरुष के शरीर में अंग-अंग में विभक्त होकर रहने लगे। इसलिए ज्ञानी मनुष्य “पुरुष-मनुष्य को ‘यह ब्रह्म है’ ऐसा कहता है।” सब देवता, गौण गोशाला में रहने के समान इस मनुष्य शरीर में रहते हैं।”

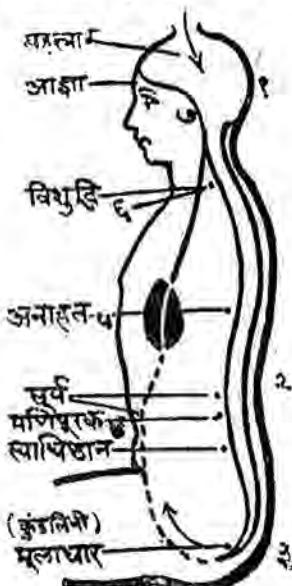
इन मन्त्रों में स्पष्ट शब्दों में कहा है कि (गोष्ठे गावः इव सर्वाः देवताः अस्मिन् आसते) गोशाला में गौण रहने के समान सब देवता इस मानव शरीर में रहते हैं। सब देवता रहते हैं, एक

भी देवता ऐसा नहीं है कि जो इस मनुष्य शरीर में न रहता हो। यद्यपि इन मन्त्रों में ४५ देवताओं के ही नाम दिए हैं, तथापि वह केवल उपलक्षण मात्र है। सब तैतीस देवता तथा उनके सहचारी गौण देवता भी अंश रूप से इस शरीर में आकर रहते हैं।

इस मन्त्र में कहा है कि (पुत्रेभ्यः) अपने निजपुत्रों को इस शरीर में (लोकं दत्वा) स्थान दिया और पिता रूप देव अपने-अपने नियत स्थान में रहने लगे हैं। बाहर के विश्व में सूर्य, वायु, अग्नि, विद्युत्, जल आदि तत्त्व बड़े विशाल हैं, उनके अंश अर्थात् उनके पुत्र उत्पन्न हुए। इन पुत्रों को स्थान देना पिता का कर्तव्य ही है। इसलिए (यहूं कृत्वा मत्यं देवाः पुरुषं आविशन्) यह शरीर—यह मरने वाला शरीर—निर्माण करके सब देव इसमें घुस गए हैं। गर्भधान यज्ञ में मनुष्य के रेतरूपी धृत की आहृति देकर, उसके माध्यम से देव इस मानव शरीर में घुस गए हैं। शरीर में देवों का निवास होने के विषय में ये मन्त्र विज्ञान दे रहे हैं।

इस शरीर का निर्माण करके देव उसमें घुसे हैं। इसका द्वार विद्धत करते हैं। यह द्वार बालक का जन्म होने पर भी खुला-सा रहता है। इस द्वार से सब देवताओं के सब अंश जो आत्मा के साथ आए थे, शरीर में प्रविष्ट हुए। यहां से वे पृष्ठवंश में गए। इस पृष्ठवंश के मज्जा केन्द्रों में—ये केन्द्र तैतीस हैं—वे ३३ देवों के अंश रहने लगे और वहां से वे सब शरीर का संचालन करने लगे। इनमें से केवल आठ ही केन्द्र योग साधन में लिए हैं जिसका वर्णन 'अष्टाचक्र' मंत्र में आ गया है।

वास्तविक तैतीस मज्जातन्तुओं के केन्द्र इस पृष्ठवंश में हैं, उनमें से मुख्य आठ योगियों लिए हैं। इस तरह प्रत्येक शरीर के अंग, इन्द्रिय और अवयव में देवता रहते हैं।



आठ चक्र

बीज और वृक्ष

पितादेव से पुत्रदेव उत्पन्न हुए हैं। यहां पितारूप देवों ने पुत्ररूप देव उत्पन्न किये और उनको शरीर के अंग प्रत्यंगों में रहने के लिए स्थान दिया और पितादेव अपने स्थान में वापस चले गए, ऐसा कहा है। उसका भाव यह है कि जैसे वृक्ष के सब अवयवों के अंश बीज में उत्तरते हैं, जैसे पिता के शरीर के सब अवयवों के अंश उसके वीर्यकण में उत्तरते हैं। उसी तरह परमात्मा का यह विश्वरूप देह है, उससे निकले जगद्वीज में, परमात्मा के शरीर में अर्थात् संपूर्ण विश्व में रहनेवाले सब पदार्थों के अंश आकर रहे हैं। परब्रह्म का अंश जीव, सूर्य का अंश नेत्र, वायु का अंश प्राण, जल का अंश रसना; पृथ्वी का अंश नासिका आदि प्रकार से विश्वधारक सब देवताओं के अंश एकत्रित होकर यह शरीर बना है। शरीर का कोई अंश ऐसा नहीं है जहां देवताओं का निवास न हो। प्रत्येक शरीर का प्रत्येक विभाग देवता के अंश से बना है। अर्थात् जैसे विश्व में तैतीस करोड़ देवता हैं, उसी तरह इस शरीर में भी तैतीस करोड़ देवताओं के अंश आकर रहते हैं।

शरीर के प्रत्येक विभाग में जो अधिष्ठाता है उसके अधीन ये सब देवता हैं। मन देवों का

राजा है। इन्द्रियों का अधिपति मन है। यहां जो प्राण हैं वे महारुद्र हैं, रक्षण और संहार का कार्य इनके अधीन है।

सब शरीर देवतामय है। इसलिए इसको 'देवानां पूँ' देवताओं की नगरी कहा है। श्री कृष्ण की द्वारावती अथवा 'द्वारका' जिसमें (नव-द्वारा) नौ द्वार हैं, यही शरीर है और श्रीसामचन्द्र की अयोध्या भी यही है। पूर्वोक्त एक ही मंत्र में 'नवद्वारा' और 'अयोध्या' ये पद इसी का दर्शन करा रहे हैं।

विश्व में सूर्य, चन्द्र, वायु, विद्युत् अग्नि आदि विश्वव्यापक देवता हैं। उनके अंश नेत्र, मन, प्राण आदि इस शरीर में रहते हैं। शरीर में जो अंश रहते हैं, वे बाह्य बृहदेवताओं के अंश होने के कारण, अथवा उनका पिता-पुत्र जैसा सम्बन्ध होने के कारण, हम उनसे बड़ा लाभ उठा सकते हैं।

देखिए सूर्य का अंश नेत्र है, इसलिए नेत्र का आरोग्य सूर्य की किरणों से बढ़ सकता है, प्राण की शक्ति बाह्य वायु के सम्बन्ध से बढ़ती है। इस तरह बाह्य विश्व के सब देवता इस शरीर के अन्दर रहने वाले अपने अंशरूप पुत्रों की पालना कर रहे हैं। इसका अनुभव अपने दैनिक व्यवहार में भी ले सकते हैं। विश्व में अन्न, धान्य, फल, साग आदि उत्पन्न होते हैं, उनका सेवन करने से मनुष्य का शरीर हृष्ट-पुष्ट हो जाता है। विश्व में जल है, इस जल का पान करने से मनुष्य की तृष्णा शान्त हो जाती है, बाह्य विश्व में प्रकाश है, उसकी सहायता से हमारे नेत्र देखते हैं। इस तरह दिन-रात हमारा संचार विश्व के देवताओं के अन्दर हो रहा है, हमारे आगे पीछे, ऊपर नीचे, हमारे चारों ओर विश्व के सब देवता ही देवता हैं और प्रतिक्षण हम उन देवताओं में उठते बैठते, चलते फिरते, सोते जागते हैं और प्रत्येक क्षण हमारी इंद्रियां और अवयव उनसे शक्ति प्राप्त करते रहते हैं। यह व्यक्ति का विश्व से सम्बन्ध है।



मेहदण्ड

शक्ति प्राप्त करने का अनुष्ठान

हमारे शरीर के अन्दर के देवतांश अल्प शक्ति वाले हैं। विश्व के अन्दर के देवता बड़े विशाल और महाशक्ति वाले हैं। हमारे शरीर के देवता विश्व के देवता के साथ मिलते और उससे शक्ति प्राप्त करते हैं। यदि हमारा सम्बन्ध बाह्य विश्व के साथ न हो तो व्यक्ति के जीवित रहने की भी संभावना नहीं है। बाह्य जलवायु से हमारा सम्बन्ध स्थायी रूप से टूट जाने पर हम कुछ क्षण भी जीवित नहीं रहेंगे। इससे स्पष्ट हो जाता है कि बाह्य विश्व के देवताओं के साथ रहने से ही हमारा जीवन रहता है। परमात्मा के विश्व शरीर से जीवात्मा के छोटे शरीर का

सम्बन्ध है। वह पिता है, हम उसके अमृत पुत्र हैं। यह सम्बन्ध सदा ध्यान में रखने योग्य है। हमारे शरीर के अन्दर देवताओं से विश्वव्यापक विशाल देवताओं का अनन्य सम्बन्ध है। उससे हम पृथक् नहीं हैं। एकरूप हैं। परमात्मा की आंख सूर्य है, उस सूर्य का अंश हमारी आंख है। इस तरह हमारे संतृप्त इन्द्रियों, अंगों और अवयवों के साथ परमात्मा के विश्व शरीर का अदृष्ट तथा अनन्य सम्बन्ध है।

हम अपनी इन्द्रियों से विश्व शरीर की उन महाशक्तियों का सम्बन्ध विशेष धनीभूत कर सकते हैं। ऐसा सम्बन्ध बढ़ाने का कार्य हम शुरू करें तो उससे हमारे अन्दर शक्ति का संवर्धन होगा और हमारी इन्द्रियों की शक्ति का विकास होगा।

यही योग है। वैद्यवितक शक्ति का विश्वशक्ति से योग होता है और इससे विश्व की महाशक्ति व्यक्ति में उतरती है। अपना विश्व से अदृष्ट सम्बन्ध इस तरह जोड़ा जा सकता है। इसी तरह विश्व की महाशक्ति से अपना योग करना चाहिए।

मैं कौन हूँ ?

मैं देवों का राजा हूँ, सब देव इस शरीर में रहने वाले मेरे प्रजाजन हैं। इन पर मैं शासन कर रहा हूँ। यह शरीर देवों की सभा है, इन्द्र रुद्र मध्य आदि सब देव इस सभा में विराजमान हैं। ये सब इस शरीर में कार्य कर रहे हैं। मैं आत्मा इन सबका शासक हूँ। मेरा अनुशासन इन पर चलना है। देवसभा का अध्यक्ष होने का सौभाग्य मुझे प्राप्त हुआ है। यह कितना बड़ा अधिकार है? यह शरीर हीन-दीन या तुच्छ नहीं है। अनंत शक्तियां यहां बीजरूप से हैं, उनका समविकास करना मेरा कर्तव्य है। यह कार्य मैं करूँगा।

वैदिक धर्म ने इस शरीर को रथ की और इन्द्रियों को धोड़ों की उपमा देकर कहा कि इन्द्रियों का संयम करना चाहिए और इन्द्रियों में सुविकाश द्वारा कर्म की कुशलता प्राप्त करनी चाहिए। इसी तरह शरीर को राष्ट्र कहकर उसका यथायोग्य शासन करने का दायित्व मनुष्य पर रख दिया। फिर शरीर को ऋषि-आश्रम कह कर यहां पवित्रता और ज्ञानदृष्टि का अत्यंत महत्त्व है, यह बताया। अब यहां प्रत्यक्ष देवों का निवास है, ऐसा कहकर, इस शरीर को देवों का राष्ट्र बताकर, इसमें नाना प्रकार की शक्तियों का निवास है, यह स्पष्ट कर दिया है और इन शक्तियों का विकास करने की युक्ति भी बता दी है। इस सब वर्णन से स्पष्ट हुआ है कि यह शरीर अनन्त शक्तियों का बीज है, जो विकसित हो सकता है।

वृक्ष और बीज में देखिए—वृक्ष में जितनी शक्तियां होती हैं उनका बीज में अविकसित रूप में सद्भाव होता है। वृक्ष का मूल, धड़, शाखा, टहनियां, पत्ते, फूल, फल आदि सबका सब बीज में सूक्ष्म अंश रहता है और विकसित होकर वही बीज वृक्षाकार बनता है। बीज में वृक्ष ही सूक्ष्म रूप से है और वृक्ष बीज का ही विस्तार है। इसी तरह मनुष्य शरीर और उसका बीर्यंविदु का संबंध है। बीर्यंविदु से शरीर बनता है और शरीर फिर विदु बन जाता है। इसी तरह परमपिता का और इस अमृत पुत्र का सम्बन्ध है।

मधुमक्षिका का उदाहरण

अह्य का अंश और तैतीस देवताओं के तैतीस अंश मधुमक्षिका और मधुमविक्षयों के राजा

जैसे रहते हैं। मधुमक्खियों का राजा (या रानी) जहां जाता है, वहां अन्य मक्खियां जाती हैं। वैसे ही ब्रह्म का अंश जहां रहता है वहां तैतीस देवों के अंश रहते हैं। तैतीस देवताओं के तैतीस अंश और उनका अधिष्ठाता आत्मा इस शरीर में श्वाकर सौ वर्ष चलने वाला यज्ञ करें। यज्ञ भूमि कौन-सी अच्छी है, यह जीव अपने लिए इसका निरीक्षण करता है और किसी के योग्य गर्भ में आता है। गर्भ में ये सब ३४ शक्तियां जाती हैं और उस गर्भ के शरीर में रहती है। यही बालक का स्वरूप है। यह जानना चाहिए। बालक के विषय में यह है वैदिक कल्पना है। यह कितनी उत्तम है, इसका विचार पाठक करें। किसी के घर में जब बालक उत्पन्न होता है वह इतनी शक्तियों के समेत उत्पन्न होता है। यह इस शरीररूपी यज्ञभूमि में रहकर सौ वर्ष चलने वाला सत्र करने के लिए जन्मता है। इसलिए सौ वर्ष जीवित रहकर अपना जीवन यज्ञीय बनाना प्रत्येक मनुष्य का कर्तव्य है।

वैदिक 'स्व-राज्य' का यही स्वरूप है, जिसमें व्यवित और राष्ट्र दोनों का शासन अपने अधीन रखने की व्यवस्था है।

ऋषियों के तप से राष्ट्र का निर्माण

बहुत लोगों की ऐसी कल्पना है कि ऋषि लोग पर्णकुटी में रहते थे, कन्दमूल खाते थे, वृक्षों की छाल पहनते थे, हिरन की खाल ओढ़ते थे, दाढ़ी और जटा बढ़ाते थे क्योंकि उनके पास हजामत करने के लिए उस्तरे नहीं थे, वे गाय और बकरियां पालते थे, इस तरह अर्धवन्य स्थिति में रहते थे। इस अर्धवन्य अवस्था में वे ऋषि विश्व की ओर देखते थे, और विश्व में अग्नि, वायु, सूर्य, पर्जन्य आदि को देखकर और इनकी अद्भुत शक्तियां देखकर जो उनको काव्यस्फूर्ति हुई वही वैदिक सूक्तों के रूप से प्रसिद्ध हैं। इससे अधिक अर्थात् गडरियों के गीतों की अपेक्षा वैदिक सूक्तों में कुछ भी विशेषता नहीं है। अर्थात् 'वैदिक सम्यता' यदि कुछ होगी, तो वह अर्धवन्य सम्यता ही होगी, इससे अधिक कुछ नहीं।

पर वेद के सूक्तों पर विचार से पता लगता है कि पूर्वोक्त विचार ठीक नहीं है। वैदिक सूक्तों में हमें ऐसा ज्ञान मिलता है जो अर्धवन्य स्थिति के मानवों में नहीं, उच्च समाज की अवस्था में ही होना संभव है। वसिष्ठ ऋषि कहते हैं कि—

मा ग्रहं मूष्मये गृहं गमम् ।

ऋ० ७।८६।१

"मैं मिट्टी के घर में जाकर नहीं रहूँगा।" जो मिट्टी के घर में रहना नहीं चाहता, वह पत्तों से बनी कुटिया में किस तरह रहेगा? वसिष्ठ के इस वचन से स्पष्ट यह प्रतीत होता है कि वह न पर्णकुटी में और न ही मिट्टी के कच्चे घर में रहना चाहता था, परन्तु वह पवके मकानों में ही रहना चाहता था—

बृहत्तं मानं सहस्रद्वारं गृहं जगम ।

ऋ० ७।८८।५

"बड़े प्रशस्त हजार द्वारों वाले घर में जाकर हम रहेंगे।" 'ध्रुवं छर्दिः यशः यसंतः' (ऋ० ७।८४।५) स्थायी रहने वाले यशस्वी घर हमें रहने के लिए चाहिए। इसका कारण यही है कि वसिष्ठ ऋषि के आश्रम में हजारों ब्रह्मचारी पढ़ते थे, वे भोपड़ियों में किस तरह रहते और कच्चे मकानों में इतने छात्रों का निवास कैसे होता? भोपड़ियों और कच्चे मकानों की मरम्मत करते-करते नाक में दम आ जाता। इसलिए ऋषि पवके स्थायी मकान (ध्रुवं छर्दिः) ही रहने के लिए चाहते थे। (सहस्रद्वारं गृहं) हजार द्वार जिस घर में हो, ऐसा पवका घर उनको चाहिए था। हजार द्वार जिसके होंगे वह घर २००-३०० कमरों वाला तो अवश्य होगा और उसमें सहस्रों छात्र निःसंदेह रह सकेंगे।

(१) नृणां मा निषदाम ।

(२) शूने मा निषदाम ।

(३) प्रजाततीषु दुर्यस्तु निषदाम ।

ऋ० ७।१।१।

(१) दूसरों के घरों में हम नहीं रहेंगे, (२) पुत्रहीन घर में नहीं रहेंगे, और (३) पुत्र पीत्र जिस घर में हैं ऐसे बड़े घर में रहेंगे। वसिष्ठ के ये वचन सिद्ध कर रहे हैं कि ऋषियों के घर पवके होते थे। वास्तुशास्त्र में भी कहा है कि 'क्षत्रिय घर' की अपेक्षा 'ब्राह्मण घर' बहुत बड़ा होता है। उपनिषदों में भी 'महाशालाः श्रोत्रियाः' ऐसा वर्णन विद्वान् ब्राह्मणों का किया है। अर्थात्

ये विद्वान् ब्राह्मण 'महाशाला:' बड़े विशाल घर बाले होते थे ।

ऋषियों के जीवन-व्यवहार के विषय में जानना हो तो वेदमंत्रों को ही उसका आधार बनाना चाहिए । वेदों का विचार करने के लिए भी वेद के अन्तर्गत प्रमाण ही स्वीकारने योग्य हैं । यदि हम केवल आधुनिक पुराणादि ग्रंथ ही विचार में लेंगे और उनकी सहायता से वेद का अर्थ जानने का यत्न करेंगे, तो हमें वेद के ठीक-ठीक अर्थ का पता नहीं लगेगा । इतना ही नहीं, हमारा अर्थ अत्यन्त विपरीत और वेद विश्व भाव बताने वाला भी बन जाएगा !

पुराण-लेखकों ने ऋषियों का वर्णन करते समय ऐसी अत्युक्तियाँ की हैं कि उसकी कोई मर्यादा नहीं रही । देखिए, पुराण लेखक लिखते हैं कि ऋषि तप करने के लिए बैठे थे और उन पर दीमकों ने घर बना लिए थे, कंदमूल खाकर ही रहे थे, कई तो केवल जल पीकर अथवा केवल वायुभक्षण करके ही रहते थे, कई सहस्रों वर्षों तक एक ही पांच पर खड़े रहकर तप करते थे, कई उलटे टंगे हुए घूम्रपान करते थे । ऐसे विचित्र वर्णन हम ऋषियों के विषय में देखते हैं । पर ये सब के सब नितान्त प्रसत्य हैं । ऐसे वर्णन कोई भी विचारवान् पुरुष सत्य नहीं मान सकता ।

इसी कारण हम कहते हैं कि वेद के मंत्र, ब्राह्मण, आरण्यक और उपनिषदों के वचन ही, ऋषियों के जीवन के विषय में प्रमाण मानने योग्य है ।

बुद्ध के पूर्व और पश्चात्

काल के दो विभाग हैं, ऐसा हमें मानना चाहिए । एक बुद्धपूर्व का काल है और दूसरा बुद्धोत्तर काल है । बुद्धपूर्व का जो काल है उसको हम वैदिक काल कह सकते हैं और बुद्धोत्तर को अवैदिक मत-मतान्तर की मिलावट वाला कालविभाग कह सकते हैं । यह विषय समझने के लिए हम यहाँ एक दो उदाहरण देते हैं—

इस मानवी शरीर को वैदिक मंत्रों में 'ऋषियों का आश्रम' तथा 'देव मंदिर' कहा है । परन्तु बुद्धोत्तर काल में इसी पवित्र शरीर को 'पीपविष्ठा मूत्र का गोला' मानने वालों का संप्रदाय बढ़ गया । पवित्र आश्रम तथा पवित्र मंदिर को ही इन बुद्धोत्तर मतमतान्तर वालों ने 'विष्ठा मूत्र का कूप' बताया । इस विचार-परिवर्तन के कारण मनुष्यों के आचार में भी ऐसा ही परिवर्तन हुआ है । 'देह मलिन है, देह हीन है, देह पिंजरा है, देह कैदखाना है' आदि विचार बुद्धोत्तर काल के ही हैं ।

देवनगरी अयोध्या

अर्थवृ वेद में इसी शरीर का वर्णन कैसा सुन्दर किया है । देखिए—

- १ यो वैं तां ब्रह्मणो वेदामृतेनावृतां पुरम् । तस्मै ब्रह्म च ब्राह्मादच्च चक्षुः प्राणं प्रजां ददुः ॥२६॥
- २ न वैं तं चक्षुर्जहाति न प्राणो जरसः पुरा । पुरं यो ब्रह्मणो वेद यस्याः पुरुष उच्यते ॥३०॥
- ३ अष्टाचक्का नवद्वारा देवानां पूरयोध्या । तत्यां हिरण्ययः कोशः स्वर्गो ज्योतिषावृतः ॥३१॥
- ४ तस्मिन् हिरण्यये कोशे ज्यरे त्रिप्रतिलिङ्गे । तस्मिन् यद्य यक्षमात्मन्वत् तदै ब्रह्मविदो विदुः ॥
- ५ प्रभ्राजमानां हरिणीं यशसा संपरीकृताम् । पुरं हिरण्ययीं अस्या विवेशाऽपराजिताम् ॥

अर्थवृ १०।२

(१) जो साधक (अमृतेन आवृतां) अमृत से आवृत (तां ब्रह्मणः पुरं वेद) उस ब्रह्म की

नगरी को जानता है उसे वे स्वयं ब्रह्म और (ब्राह्माः) ब्रह्म से उत्पन्न हुए सब अन्य देवता चक्षु प्राण और संतान देते हैं। यह शरीर ब्रह्मपुरी है।

(२) (यस्याः पुरुषः उच्यते) जिस पुरी में रहने के कारण इस आत्मा को 'पुरुष' कहा जाता है उस (ब्रह्मणः पुरं वेद) ब्रह्मपुरी को जो जानता है, उसको (चक्षुः) नेत्र आदि सब इन्द्रियां और प्राण (जरसः पुरा) बृद्धावस्था के पूर्व (न जहाति) छोड़ते नहीं अर्थात् उसको दीर्घ आयुष्य प्राप्त होती है, सबल इन्द्रियां मिलती हैं और वह सदा आनन्द प्रसन्न रहता है।

(३) यह (देवानां अयोध्या पूः) देवों की अयोध्या नगरी है। इस नगरी के किले की दीवार पर (अष्टा चक्रा) आठ चक्र लगाए हैं, ये चक्र शत्रु का नाश करते हैं और इस किले की दीवार में नौ द्वार हैं। उसमें (हिरण्ययः कोशः) सुवर्णमय कोश है वह (ज्योतिषावृतः स्वर्गः) तेज से घिरा हुआ स्वर्ण ही है। पृष्ठवंश में मूलाद्वार, स्वाधिष्ठान, मणिपुर, सूर्य, अनाहत, विशुद्धि, आज्ञा और सहस्रार ये आठ चक्र हैं, इनमें शरीर के रोगादि शत्रुओं को दूर करने की शक्ति है। इसी तरह इसमें दो आंख, दो नाक, दो कान, एक मुख, एक मूलाद्वार और एक गुदाद्वार ये नौ द्वार हैं। इनमें से अन्दर तथा बाहर जाने आने का प्रबंध होता है इससे इसका सामर्थ्य बढ़ता है। इसमें हृदय में तेजस्वी स्वर्ण है। अर्थात् यह देवों की नगरी है और यहाँ स्वर्ण भी है। यहाँ आंखों में सूर्य, कानों में दिशाएँ, नासिका में प्राण तथा अस्तिवनी देव, जिह्वा में जल, मुख में अग्नि, उदर में पाचक अग्नि, नाभि में मृत्यु, पांवों के स्थान में पृथिवी, बाहुओं में इन्द्र, हृदयस्थ रघुराशय में समुद्र, धर्मनियों में नदियां, पृष्ठवंश में पर्वत, बालों में औषधि वनस्पतियां—इस तरह सब देवता इस शरीर के नाना अवयवों में रहते हैं। इस तरह यह शरीर देवनगरी है।

(४) इस (त्रि-अरे) तीन आरे जिसमें लगे हैं और (त्रि-प्रतिष्ठिते) तीन आधारों पर जो आश्रित है ऐसे इस सुवर्ण के कोश में (आत्मन्वत् यक्षं) जो आत्मरूप यक्ष रहता है उसको ब्रह्म-वेत्ता ही जानते हैं।

(५) इस प्रभ्राजमानां) प्रकाशमान (हरिणीं) मनोहारिणी (यशसा संपरीकृतां) यश से धिरी हुई (अपराजितां) अपराजित सुवर्ण की नगरी में (ब्रह्मा विशेश) ब्रह्मा प्रविष्ट होता है।

इस तरह यह शरीर का वर्णन वेद में है। यह कितना सुन्दर है। यह वेद का ज्ञान है। इसी शरीर का वर्णन बुद्धोत्तर काल में 'पीप-विष्टा-मूत्र का गोला' ऐसा होने लगा। कितना धोर विपर्यास है।

अध्यात्मज्ञान देने के लिए ये मंत्र हैं। परन्तु यह वर्णन किले की उपमा से किया है। अर्थात् अध्यात्मज्ञान की बुनियाद पर हमारा वैदिक राज्य शासन है। अध्यात्म ज्ञान की बुनियाद पर नगर रचना शास्त्र है। वेद में नगर का यह वर्णन देखकर ऋषि लोग अपने नगरों की रचना करते थे। इन मंत्रों से, अभेद्य अपराजित सुन्दर नगरी की रचना किस तरह करनी चाहिए, इसका भी ज्ञान मिलता है। यह अध्यात्मज्ञान मनुष्यों को नगर का त्याग करने का उपदेश नहीं देता, प्रत्युत नगरों को सुरक्षित करके उसमें रहो और उनमें ही उत्तम स्वर्गवाम निर्माण करो, यह उपदेश देता है।

शरीर को 'पीप-विष्टा-मूत्र का गोला' मानने से शरीर त्याग करने की वुद्धि मन में उत्पन्न होती है। परन्तु शरीर को देवों की अपराजित ब्रह्मपुरी मानने से यहाँ इस शरीर में अति दीर्घ

जीवन प्राप्त करके मुख से रहने की बुद्धि होती है। यही इस वैदिक ज्ञान का महत्व है, जो बताता है कि यहां जीते जी किस तरह स्वर्गधाम निर्माण किया जा सकता है।

बृद्धोत्तर काल में इस विश्व को लोग असार, दुःखपूर्ण, त्याज्य, हेय, निच, कष्टदायी मानने लगे और जगत् का त्याग करने लगे। उपनिषद् और गीता के दीकाकारों ने भी यही जगदुःखवाद का भाव उपनिषदों और गीता पर लाद दिया और सब साधुसंतों ने इसी जगदुःखवाद का प्रचार किया है। अब यही अवैदिक भाव भारतीयों के मन पर जम गया, इसीलिए भारतीयों की दृष्टि इस जगत् में स्वर्ग निर्माण करने की ओर नहीं रही। प्रत्युत इसके विपरीत जगत् का त्याग करने की ओर चली गयी।

शरीर का वर्णन 'पीप-विष्ठा-मूत्र का गढ़ा' करने से शरीर के विषय में घृणा उत्पन्न हो गयी, तथा शरीर को पिंजरा, कारागृह कहने से भी शरीर को त्यागने की बुद्धि उत्पन्न हुई। इसी तरह जगत् को दुःख रूप और असार कहने तथा मानने से जगत् के अन्दर अभ्युदय प्राप्त करने के प्रयत्नों से विमुखता उत्पन्न हुई।

कोई प्रवासी एक गांव में रहने आया। उससे किसी ने कहा कि यहां रहने से हैजा होगा, क्योंकि यहां हैजा फैला हुआ है, तो इस बात को सुनते ही वह प्रवासी उस ग्राम को उसी समय छोड़ने के लिए प्रवृत्त होगा। इसी तरह यह जगत् दुःखमय और असार है, ऐसा जिसने माना है वह शीघ्रातिशीघ्र इस जगत् को और इस शरीर को त्यागने का ही यत्न करेगा। इसी कारण इस जगत् को असार मानते वाले इस जगत् में अभ्युदय का साधन करने के अनुष्ठान से पराड्मुख हुए हैं। वैदिक काल के ऋषि इस शरीर को ऋषियों का पवित्र आश्रम, देवों का रम्य मंदिर, सप्त नदियों का पवित्र अज्ञेत्र, तथा ब्रह्म की अपराजित नगरी मानते थे। इसलिए वे अभ्युदय तथा दीर्घ-जीवन प्राप्त करके यहां स्वर्गधाम स्थापित करने के प्रयत्न में सशा तत्पर रहते थे।

भारतीय लोगों में यह जगदुःखवाद तथा शरीर-घृणावाद जब से प्रचलित हुआ है, तबसे इनका लक्ष्य अपने राष्ट्र का अभ्युदय करने का नहीं रहा। संसार छोड़कर जंगल में जाना, वहां कंदमूल खाकर रहना, इस तरह इस जगत् को छोड़ने की रुचि इनमें बढ़ गयी। हमको यह राज्य शासन आदि दुःखमय झंझट छोड़ना ही है। इसलिए यहां कोई आ जाए, और वह कुछ भी करे, कोई राज्य करे, परकीयों का ही राज्य क्यों न हो, इस बात की इनको पर्वा नहीं रही। इस दुःखमय संसारपर म्लेच्छ राज्य करे या दूसरा कोई करे, हमको तो यह सब त्यागना ही है। ऐसे विचार जिस देश में फैले हों, वह देश सैंकड़ों वर्षों तक पराधीन रहे तो आश्चर्य ही क्या है।

यह जगत् दुःखमय है, यह संसार असार है, यह शरीर विष्ठा का गोला है, ये विचार शत्रु को अभ्युदय से पराड्मुख करने के लिए शत्रुराष्ट्र में फैलाने के लिए हैं। घृतराष्ट्र ने पांडवों में ये विचार फैलाने के लिए अपने दूत संजय को युद्ध के पूर्व पांडवों के पास भेजा था। संजय ने पांडवों के पास जाकर ये ही कुविचार कहे। अर्जुन के मन में ये विचार बैठ गए थे, इसी कारण वह ऐन युद्ध के समय युद्ध से पराड्मुख हुआ। संजय का उपदेश फलीभूत हुआ। यदि भगवान् श्रीकृष्ण समय पर अर्जुन को सत्यधर्म का उपदेश न करते, तो पांडवों का पराभव हो जाता।

महाभारत के लेखक व्यास महर्षि ने बताया है कि जगदुःखवाद का उपदेश शत्रुराष्ट्र में करके उनको अभ्युदय के मार्ग से निवृत्त करना चाहिए। इसका उपदेश अपने राष्ट्र में नहीं करना

चाहिए। परन्तु दुर्देव से बुद्धोत्तर काल में भारत में ही इस जगद्दुःखवाद का उपदेश अत्यधिक हुआ है। इस समय भी यही लहर चल रही है। जब तक निराशावादी विचारों का प्रचार यहां होता रहेगा, तब तक भारत के उन्नत होने की आशा नहीं की जा सकती।

विश्व ईश्वर का रूप है

वेद, उपनिषद और गीता में तथा वैदिक प्रणाली के सब ग्रंथों में कहा है कि यह विश्व ईश्वर का ही रूप है। विष्णुसहस्रनाम के प्रारम्भ में ही 'विश्वं विष्णुः' कहा है, अर्थात् यह विश्व ही विष्णु है। यह संपूर्ण विश्व ही परमेश्वर का दृश्य रूप है।

प्रत्येक अणुरेणु में परमेश्वर भरपूर भरा है, वह सर्वव्यापक है। इसका अर्थ यह है कि विश्व में जो पदार्थ हैं, वे सब बोतलें हैं और उनमें परमेश्वर भरा है। कोई बोतल लीजिए उसमें 'ईश्वर' ही आपके पास आ जाएगा। जिस तरह 'दूध' की बोतलें आर्यों तो 'दूध आया' ऐसा बोलते हैं, शहद की बोतलें आर्यों तो 'शहद आया' ऐसा कहते हैं, और तेल की बोतलें आर्यों तो 'तेल आया' ऐसा कहा जाता है, ठीक इसी तरह जो भी वस्तु आप पकड़ेगे उसमें पूर्णतया भरा हुआ परमेश्वर ही आपके पास आयगा। 'विश्व विण्' का यही अर्थ है—

सर्व खल इदं ज्ञात्य ।

‘यह सब दृश्यमान विश्व ब्रह्म ही है।’ वेद का मंत्र भी यही कहता है—

पूरुष एव इवं सर्वं यदु भूतं यज्ञं भव्यम् । क्रृ० १०।६।०।२; वा० य० ३।१।२

'वासुदेव ही यह सब है।' इन सब वचनों का तात्पर्य यही है कि संपूर्ण विश्व ईश्वर रूप है, ईश्वरमय है, अर्थात् ईश्वर का ही रूप है। अर्थात् यह दुःखमय नहीं, प्रत्युत संसेव्य है।

यदि यह विश्व प्रभु का रूप है, तब तो इसका त्याग नहीं करना चाहिए, परन्तु इसकी सेवा करनी चाहिए। कृष्ण लोगों का धर्म 'विश्वसेवा' था, 'विश्वत्याग' नहीं। अतः विश्वसेवा करना ही मानव का धर्म है।

सबको स्वकर्म से इस विश्वरूप प्रभु की सेवा करनी चाहिए। ज्ञानी मनुष्यों को ज्ञान द्वारा, शूर पुरुषों को संरक्षण द्वारा, वैश्यों को व्यापार, कृषि और पशुपालन आदि कर्म द्वारा, शूद्रों को नाना प्रकार के कला-कौशल की रचना द्वारा तथा बन्धु लोगों को बनों की सुरक्षा द्वारा विश्व की सेवा करनी चाहिए। सेवा करने के मार्ग सहज हैं, वे सब खाली पड़े हैं। ऐसे राष्ट्रीय स्वयंसेवक समूहों और लाखों यहां होने चाहिए।

बुद्धपूर्व काल में ऋषियों के मन में यही भाव था। उस समय कोई ऋषि जगत् छोड़ने का विचार नहीं करता था, विश्वरूप की सेवा सब ऋषि करते थे। देखिए, भूमि की सेवा करने से धान्य मिलता है, वृक्षों की सेवा करने से मधुर फल मिलते हैं, गौओं की सेवा करने से दूध मिलता है, इस तरह सर्वत्र विश्वसेवा से लाभ ही होता है।

राष्ट्रसेवा करने से राष्ट्र का उद्धार होता है। अर्जुन राष्ट्रसेवा करने के लिए अपनी आयु के ७०वें में वर्ष यद्युभि पर खड़ा हुआ। उसने शत्रु के दोषमय उपदेश के अनुसार यद्यु से निवृत्त होने

का कुविवार किया । भगवान् श्रीकृष्ण ने गीतोपदेश किया और उसको राष्ट्रसेवा करने के शुभ मार्ग पर लगाया । उसने युद्ध किया, जय प्राप्त की, ३० वर्ष राज्य किया और पश्चात् जब वह तपस्या करने गया उस समय अर्जुन की आयु सौ वर्ष की थी । इस आयु तक वह राष्ट्र पुरुष की सेवा ही करता रहा । यहीं कृषियों की विचारधारा है । कृषि लोग अपने जीवनभर राष्ट्रसेवा ही करते थे ।

राष्ट्र का निर्माण

ऋग्विजनों ने जगत् के प्रारम्भ में जो प्रयत्न किए उन प्रयत्नों से राष्ट्र का निर्माण हुआ है, ऐसा एक मंत्र है । वह मंत्र यहां देखिए—

भद्रं इच्छत्त ऋषयः स्वविदः तपो दीक्षां उपसेदुः अग्ने ।

ततो राष्ट्रं बलं ओजश्च जातं तदस्मै देवा उपसंनमन्तु ॥ अथर्वै० ११।४।१।

“आत्मज्ञानी कृषियों ने जगत् का कल्याण करने की इच्छा से सृष्टि के प्रारम्भ में जो दीक्षा लेकर तप किया, उससे राष्ट्र-निर्माण हुआ, राष्ट्रीय बल और ओज भी हुआ । इसलिए सब विवृद्ध इस राष्ट्र के सामने न अग्नि होकर इसकी सेवा करें ।”

(भद्रं इच्छत्त ऋषयः) जनता के कल्याण करने की इच्छा करने वाले कृषि थे । जनता का त्याग करके जंगल में जाकर जनता के अभ्युदय की पर्वा न करने वाले कृषि नहीं थे । जनता का अभ्युदय होना चाहिए, हम प्रयत्न करके उसका अभ्युदय करेंगे, ऐसी इच्छा धारणा करने वाले थे कृषि थे । बुद्ध पूर्वकाल में ये कृषि थे । यदि ये बुद्धोत्तर काल के होते, तो जनता का विचार न करते, जनता को अग्नि मानते और स्वयं जंगल में जाकर वहां कंदमूल खाकर रहते और राष्ट्र-निर्माण का प्रयत्न नहीं करते ।

कृषि लोग विश्व को ईश्वर का प्रत्यक्ष रूप मानते थे, इसलिए इस विश्वरूपी प्रभु की सेवा करने के लिए वे अपना जीवन अर्पण करते थे और उनके उस प्रयत्न से राष्ट्र का निर्माण होकर अभ्युदय का मार्ग खुलता था ।

राष्ट्रहित के लिए कृषि लोग जो हलचल करते थे उसके स्वरूप पर अब विचार करना चाहिए :

अत्रि कृषि का आन्दोलन

अमुरों का राज्य था, वह दुष्ट था, इसलिए उस राज्य-शासन को तोड़ने और उसके स्थान पर सुराज्य या स्वराज्य स्थापित करने के लिए अत्रि कृषि प्रवृत्त हुए । इसका वर्णन करने वाला मंत्र यह है—

कृषि नरावंहसः पांचजन्यं कृष्वेसादौत्रि मुञ्चयो गणेन ।

मिनन्ता दस्योरशिवस्य माया अनुपूर्वं वृषणा चोदयन्ता ॥ ऋग्वेद १।१।७।३

इस मंत्र में अत्रि कृषि की हलचल का स्वरूप अच्छी तरह बताया है ।

१ अत्रि गणेन कृष्वीसात् मुञ्चयः—‘अत्रि कृषि को उनके अनुयायियों के साथ कारागृह से मुक्त किया ।’ अर्थात् अकेला ही अत्रि कृषि अमुरराज्य के विश्व आन्दोलन में प्रवृत्त था, ऐसी बात नहीं, उसके साथ अन्य कृषि भी इस आन्दोलन में जामिल हुए थे । अमुर राजा बड़ा क्लूर था । उसने इन सब कृषियों को कारावास में बंद कर रखा था और इनको बहुत कष्ट देता था । जनता

के पक्ष वालों ने इन क्रृषियों को कारागृह तोड़कर मुक्त किया। अर्थात् जनता का संघटित बल इतना अधिक बढ़ गया, जिससे वे असुरों के जेलखाने को तोड़कर अपना हित करने वाले नेता को मुक्त करने में समर्थ हो गए।

२ पाञ्चजन्यं अत्रि—अत्रि कृषि पञ्चजनों का हित करने के लिए असुर राजा के विरुद्ध आन्दोलन करने लगे। असुर राजा के दोषयुक्त राज्य-शासन के कारण राष्ट्र में रहने वाले ब्राह्मण, ऋत्रिय, वैश्य, शूद्र और निषाद इन पांचों प्रकार के लोगों को हाति पहुंचती थी। यह हाति अत्रि आदि क्रृषियों ने देखी, उनको यह दोषयुक्त राज्य-शासन पसंद नहीं आया। इसलिए ये कृषि आन्दोलन करने लगे।

पञ्चजनों का हित करने वाला यह अत्रि कृषि था। अपनी जाति को उठाना और अन्य जातियों को गिराना, यह भाव उसमें नहीं था। इसलिए अत्रि कृषि को 'पाञ्चजन्य' पदवी मिली थी। यह पदवी बहुमान वाली है। यह एक ही जाति का हित करने वाले को नहीं मिलती।

३ अशिवस्य दस्योः माया;—जिस राजा के विरुद्ध अत्रि कृषि आन्दोलन कर रहे थे, उसका वर्णन इन शब्दों से मंत्र कर रहा है। वह राजा 'अ-शिवः दस्युः' अशिव भी था और चोर भी था। इसका राज्य-शासन जनता का अहित करने वाला था और वह चोर के समान जनता को लूटता भी था। अतः उसके राज्य-शासन से जनता का कल्याण होने की संभावना ही नहीं था। 'दस्योः माया' वह चोर तो था ही, पर और अधिक कपटजाल भी रचता था और उन कपटजालों में प्रजाजनों को फंसाना चाहता था। कृषि लोग उन कपटजालों को जानते थे और कभी उन कपटजालों में फंसते नहीं थे। वे लोगों को समझते भी थे कि दुष्ट के कपटजाल में न फंसो। पर कई लोग लोभवश होकर फंसते थे। इस तरह पता लग सकता है कि असुर राजा का राज्य कैसा था, प्रजा कैसी थी और कृषि क्या करना चाहते थे।

४ अनुपूर्वं मायाः मिनन्ता चोदयन्ता—क्रमपूर्वक असुर शासकों के कपटजाल को जानकर नेता लोग तोड़ते थे और उनमें लोग लोग न फंसे, ऐसा प्रबन्ध करते थे। सम्राट् के दूत नाना प्रकार की कपट योजनाएं बनाते, नेता उनको विफल करते, ऐसा क्रम चल रहा था।

इस एक ही मंत्र में अत्रि कृषि की हलचल का इतिहास भरा है। इस इतिहास की ओर देखने से स्पष्ट रीति से विदित हो जाता है कि "प्राचीन समय के कृषि सार्वजनिक हित की साधना करने के लिए राष्ट्रीय आन्दोलन करते थे, और इन आन्दोलनों को सफल होने तक चलाते ही रहते थे।

इस अत्रि कृषि के आन्दोलन से लोगों को 'स्वराज्य' प्राप्त हुआ था। अत्रिपुत्र रातहृष्य कृषि की 'बहुपाय्य स्वराज्य' की घोषणा कृग्वेद में है। वह घोषणा बताती है कि अत्रि कृषि का आन्दोलन सफल हो गया था। असुरों का साम्राज्य टूट चुका था और कृषियों ने स्वराज्य प्राप्त किया था। इस बहुपाय्य स्वराज्य की घोषणा का यह मंत्र है—

बहुपाय्य स्वराज्य

आ यद् वामीयचक्षसा मित्र वयं च सूरयः ।

र्घ्यच्छ्ले बहुपाय्ये यतेमहि स्वराज्ये ॥ कृ० ४६६।६

"(वयं सूरयः) हम विद्वान तथा (ईय चक्षसा) व्यापक दृष्टि के लोग तथा (मित्र) मित्रवत्

जनता के साथ व्यवहार करने वाले लोग मिलकर इस (व्यचिष्टे) विस्तृत, (बहुपाठ्ये) बहुतों की सम्मति से जिस राज्य की पालना होती है ऐसे स्वराज्य में जनता के अभ्युदय के लिए प्रयत्न (आ यतेमाहि) करते रहेंगे।"

इस मंत्र में (सूर्यः वयं व्यचिष्टे बहुपाठ्ये स्वराज्ये आ यतेमाहि) यह वचन अत्यन्त स्पष्ट और सरल अर्थ वाले पदों से स्वराज्य शासन का उत्तम वर्णन कर रहा है। (सूर्यः) जो ज्ञानी हैं, जो विशेष ज्ञानी हैं, वे ही इस स्वराज्य में राज्य शासन का कार्य करें, अविद्वानों का यहां कार्य नहीं है। यह कृषियों का मन्त्रव्य है।

बीस वर्षों की आयु जिसकी हुई है, वह भारतीय संविधान के अनुसार संसद का सदस्य बन सकता है। परन्तु कृषिकाल की राष्ट्रीय संसद का सदस्य जो विद्वान हो, वही हो सकता था। जो लोकविद्यात वाङ्मयकृति करके प्रसिद्ध होता, वही कृषिकाल की लोकसभा का सदस्य होता था। साधारण मनुष्य का प्रवेश भी वहां नहीं होता था। आज २१ वर्ष की आयु वाला कोई भी भारतीय बहुजनों का बोट प्राप्त करके न केवल संसद का सदस्य बन सकता है, प्रत्युत मंत्रिमंडल में भी प्रविष्ट हो सकता है।

जिस संसद में विधान तथा कानून बनते हैं, वहां अनपढ़ भी पहुंचें और वे विधान और कानून बनावें, यह कितना हानिकारक है। ऐसे निरक्षर सभासद अपना बहुमत बनावें और जो मर्जी चाहे करें, यह सचमुच भयानक अवस्था है। यह प्रगति है वा परागति है, इसका विचार पाठक करें।

यह स्वराज्य 'बहुपाठ्य' है। अर्थात् इसका राज्य-शासन बहुसम्मति से होना है। किसी एक की सम्मति से यहां का शासन होने की संभावना नहीं है। वेद मंत्रों में अनेक राज्य-शासनों का वर्णन है और उनमें केवल 'स्वराज्य-शासन' के लिए ही यह 'बहुपाठ्य' विशेषण लगाया है। स्वराज्य-शासन सदा 'बहुपाठ्य' ही रहेगा, यह स्वराज्य-शासन कभी भी 'एकपाठ्य' नहीं हो सकता। यह इस विशेषण का भाव है।

इस स्वराज्य-शासन का दूसरा विशेषण 'व्यचिष्टे' है। 'व्यचिष्ट' का अर्थ 'विस्तृत, व्यापक, सब जनों तक पहुंचने वाला' होता है। अर्थात् यह बहुपाठ्य स्वराज्य 'अपने राष्ट्र में व्यापक, राष्ट्र के सब प्रजाजनों तक पहुंचने वाला और जो किसी प्रजाजन को दूर नहीं रखता' ऐसा हो। यही इस स्वराज्य-शासन की विशेषता है।

यहां कई लोग ज़का करेंगे कि क्या वेद में इतिहास है? निखत्कार वेद के अर्थ के संबंध में जो अनेक पक्ष देते हैं उनमें 'इति ऐतिहासिका:' 'ऐसा इतिहासवादियों का मत है', ऐसा बताते हैं। कई लोग पूर्वकल्प का इतिहास है, ऐसा कहते हैं और कई प्रत्येक पद के यौगिक अर्थ करके सब कथानक को आलंकारिक सिद्ध करते हैं। अत्रि सूर्य है, अन्धकार अमुर है, अन्धकार ने सूर्य को छिपाया था, वह सूर्य अन्धकार को तोड़कर प्रकट हुआ और अपने प्रकाश से प्रकाशित हुआ। इस तरह के आलंकारिक कथानक जो बोध देते हैं वह बोध ऊपर हमने दिया है। कथा सत्य है वा आलंकारिक है, इसका महत्व नहीं है। वह कथा कौन-सा बोध देती है, इसका महत्व है। इस कारण आलंकारिक मानने से भी बोध में न्यूनता नहीं होती।

२१-रावण-युद्ध

राजा दशरथ ने अश्वमेध यज्ञ किया। इस यज्ञ के प्रसंग में राष्ट्रीय परिषद् हुई। इसमें देव,

ऋषि और आर्य राजा सम्मिलित हुए थे। ऋषि निंडरता के साथ शामिल हुए थे, परन्तु देव और आर्य राजा अपने अन्तःकरणों में रावण का भय रखते थे। राष्ट्रीय परिषद् में रावण के साम्राज्य का नाश करने का प्रस्ताव हुआ।

ततो देवाः सगन्धर्वाः तिद्वाश्च परमर्थयः । ता॒ः समेत्य यथा॑न्यायं तस्मिन् सदसि॒ देवताः ॥

अशुवन् लोककर्तारं ब्रह्माणं वचनं ततः । भगवंस्त्वत्प्रसादेन रावणो नाम राक्षसः ॥

सर्वान् नो बाधते वीर्यात् शासितुं तं न शक्वनुमः । उद्गेजयति लोकांस्त्रीन् उच्छ्रुतान् द्वेष्ठि दुर्भतिः ॥

शश्रुं त्रिवशराजानं प्रधर्षयितुमिच्छति । ऋषीन् यथा॑न् सगन्धर्वान् ब्राह्मणानसुरांस्तथा ॥

तत्महन्नो भयं तत्मात् राक्षसाङ्गोरदर्शनात् । वधार्थं तस्य भगवन्नुपायं कर्तुमर्हसि ॥

वा० रा० बाल० १५४-११

“उस राष्ट्रीय परिषद् में देव, गंधर्व, सिद्ध, ऋषि, महर्षि आदि सब एकत्रित हुए थे। वहाँ रावण वध करने का प्रश्न आया। उस पर वहाँ उपस्थित लोगों के भाषण हुए। इन भाषणों में कहा गया कि यह रावण अपनी शक्ति के मद से देव ऋषि यथा गंधर्व ब्राह्मण असुर आदि सबको दुःख देता है। अतः इसके वध का उपाय करना चाहिए।”

इस तरह इस परिषद् में रावण का वध करने और उसका साम्राज्य तोड़ने का प्रस्ताव पास हुआ। इस कार्य का कौन-सा भाग कौन करे, इसका भी निश्चय इसी सभा में हुआ। इस प्रस्ताव के स्वीकृत होने के पश्चात् ऋषि अपना कार्य करने के लिए प्रवृत्त हुए। दक्षिण भारत दण्डकारण्य में जाकर ऋषियों ने अनेक आश्रम स्थापित किए और वे तरणों को तैयार करने लगे।

दशग्रीव-वधोद्यताः अप्रसेयबला वीराः । वा० रा० बालकांड १७-१८

“रावण का वध करने के लिए तैयार, अत्यन्त बलशाली वीर” तैयार करने में ऋषि लोग लगे थे। राम के दक्षिण में आने तक रावण का वध करने के लिए अत्यन्त उत्सुक हजारों तरण वीर उन ऋषियों के आश्रमों से तैयार हुए थे।

विश्वामित्र ऋषि ने प्रथम राम-लक्ष्मण को यज्ञ की रक्षा के लिए अपने आश्रम में ले जाकर उनको शस्त्रास्त्र विद्या सिखाकर तैयार किया। पचास प्रकार के अस्त्र इस समय श्रीराम को ऋषि विश्वामित्र ने सिखाए थे।

‘कृशाश्व’ नामक एक ऋषि था। उसका विवाह दक्षकन्या ‘जया’ और ‘सुप्रभा’ के साथ हुआ। इस ऋषि के आश्रम में स्वयं कृशाश्व ऋषि और उनकी ये दोनों स्त्रियाँ नाना प्रकार के अस्त्र बनाते थे। इन अस्त्रों को इस ऋषि के बनाए होने के कारण ‘कृशाश्व पुत्र’ कहा गया है। कृशाश्व, जया, तथा सुप्रभा इनका नाम अस्त्र निर्माण करने के कारण अजरामर हो गया है।

ये ऋषि और ये ऋषिपत्नियाँ अस्त्रनिर्माण करने में अत्यंत प्रवीण थे। ये ज्ञान तथा विज्ञान में सम्पन्न थे। इनके अस्त्र श्रीराम को मिले। इसके अतिरिक्त कई ऋषियों ने अपने आश्रमों में अनेक शस्त्र और अस्त्र संग्रह करके रखे थे। ऋषियोंके आश्रमों में इन्द्रादि देवों ने भी शस्त्रास्त्र रखे थे। वे भी श्रीरामचन्द्र को मिले हैं। इस तरह ऋषियों ने रावण का वध करने के लिए तरणवीर तैयार करने का कार्य दक्षिणारण्य में रहकर किया था और आवश्यक शस्त्रास्त्र इकट्ठे करके ऐन समय पर श्रीरामचन्द्रजी को देने का भी कार्य ऋषियों का ही था।

रावण का साम्राज्य विनष्ट करने की यह हूलचल ४०।४२ वर्ष तक चलती रही और अन्त में

रावण के साम्राज्य का अन्त हुआ। यह हलचल ऋषियों ने ही चलायी थी। राक्षसों को ऋषियों की इस हलचल का पता था। इसलिए ये राक्षस ऋषियों को मारते और उनको सताते थे। फिर भी ऋषियों ने यह हलचल बन्द नहीं की थी।

देवजाति तिब्बत (त्रिविष्टप) में, आर्यजाति उत्तर भारत में, वानरजाति दक्षिण भारत में और राक्षस जाति लंका आदि देशों में रहती थी। देवजाति और आर्यजाति का सम्बन्ध था और वानर जाति और राक्षस जाति परस्पर मिलती थी। ऋषियों ने जो आंदोलन रावण वध के लिए चलाया था, उसमें सहायता करने की इच्छा देवराजा और आर्यराजा मन में धारण करते थे। परन्तु खुली रीति से ऋषियों को मदद देने में रावण के भय के कारण वे समर्थ नहीं थे। परन्तु द्विष्टप वे शश्वत्-अस्त्र तथा अन्य सहायता ऋषियों के आश्रमों में लाकर रखते थे और ऋषि श्री-रामचन्द्रजी को वह सहायता पहुंचाते थे।

नासिक से दक्षिण दिशा में वानर राज्य था, उत्तर भारत में आर्यों के राज्य थे। आर्य राजा और वानर राजा परस्पर मिल जाएं तो वह मेरे साम्राज्य के लिए भय का कारण होगा, यह रावण अच्छी तरह जानता था। इसी लिए वानर राज्य की सहमति से रावण ने अपनी चौदह हजार सेना नासिक में खर और दूषण के आधिपत्य में रखी थी। आर्यों और वानरों की मित्रता इसी कारण असम्भव थी। नासिक की रावण सेना का नाश श्रीराम ने किया और आर्य राजा और वानर राजा का परस्पर मेल का मार्ग खुल गया। श्रीराम नासिक में आकर १२ वर्ष रहे, तब तक रावण का नाश करने की कल्पना उनके अन्तःकरण में नहीं थी। सीता को उठाकर ले जाने के पश्चात् रामचन्द्रजी के मन में रावण वध की कल्पना आ गयी। अर्थात् रावण का साम्राज्य तोड़ना चाहिए, यह कल्पना श्रीरामचन्द्रजी के मन में १२ वर्ष के बनवास के पश्चात् आई। परन्तु रावण साम्राज्य का नाश करने का यत्न ये ऋषि लोग तो श्रीराम जन्म के पहिले से ही कर रहे थे।

लंका में जब राम-रावण का युद्ध हुआ, तब राक्षस रथों में बैठ कर युद्ध करते थे और श्रीराम भूमि पर खड़े रहकर ही युद्ध करते थे। किसी भी देववीर ने अपना रथ श्रीराम को नहीं दिया। जब ५० दिन युद्ध हो चुका, रावण का पराभव निश्चित दीखने लगा तब इन्द्र ने अपना रथ श्रीराम के पास भेजा। अन्तिम ३-४ दिन राम उस रथ में बैठकर लड़ते रहे। अन्ततः रावण मारा गया। श्रीरामचन्द्रजी के समय का रावण राज्य नष्ट करने का सब आंदोलन ऋषियों का ही था, यही कहने का भाव है।

कश्यप का आश्रम

प्राचीन समय में ऋषियों के आश्रम राष्ट्रीय आंदोलन के केन्द्र हुआ करते थे। कश्यप ऋषि का आश्रम भी इसी तरह का एक केन्द्र था। कश्यप ऋषिवेद के प्रथम मंडल के ६६वें सूक्त का द्रष्टा है। वहां एक ही मंत्र का सूक्त है। यहां ऋषिवेद सर्वानुक्रमणीकार ने लिखा है कि यहां कश्यप ऋषि के १००० सूक्त थे और एक-एक सूक्त एक-एक मंत्र से ऋषिक मंत्र बाला था। अर्थात् प्रथम सूक्त एक मंत्र का और अन्तिम सूक्त १००० मंत्रों का था। इतना महत्व कश्यप ऋषि का था। 'काश्यपी पृथिवी' अर्थात् सब पृथिवी कश्यप की है, ऐसा वैदिक समय में माना जाता था।

इस कश्यप ऋषि के आश्रम में राजकीय हलचलें होती थीं। इन्द्र को हटाकर दूसरा इन्द्र

उस पद पर स्थापित करने की हलचल बालखिल्य ऋषि कर रहे थे, वे इस कश्यप के आश्रम में ही बैठकर सब करते थे। अन्त में इन्द्रकश्यप की शरण में गया और कश्यप ने बालखिल्यों को रोक दिया।

बलीराजा के आमुरी साम्राज्य को तोड़ने की वामन की हलचल इसी कश्यप के आश्रम में हुई थी और इसी आश्रम में सहस्रों नवयुवक वामन की सहायता करने के लिए वामन के साथ नाना प्रकार के शस्त्र गुप्तरीति से लेकर बली के ज्ञान में गए थे, जिन्होंने बलि का साम्राज्य तोड़ दिया और उसको पाशों से बांधकर कैद कर लिया। इसकी सब पूर्व तैयारी कश्यप के आश्रम में ही हुई थी।

इस कश्यप का पुत्र महोत्कट विनायक था। यह भी ऋषि-पुत्र ही था। काशी का राजा अपने राज्य में यज्ञ करना चाहता था। उसका पुरोहित कश्यप था। परन्तु कश्यप को दूसरा कार्य होने के कारण उसने अपने पुत्र महोत्कट विनायक को काशी भेज दिया। महोत्कट विनायक ने काशी जाते ही सबसे प्रथम काशी राजा के सैन्य का निरीक्षण किया, सैन्य के शस्त्रास्त्र देखे, किलों का अवलोकन किया और राज्य की रक्षा-व्यवस्था का सब प्रबन्ध देखा और उसमें जो सुधार करना आवश्यक था वह सुझाया। सेना में नये सैनिकों की भरती की और स्त्रियों के भी सेनापथक बनाए। काशी पर जिस समय अमुर सेना हमला करने के लिए आयी, तब इसी विनायक ने उस अमुर सेना का नाश किया और काशी राजा को जय प्राप्त कराई।

यह सब वृत्तांत विस्तार से गणेशपुराण में कीड़ा खण्ड, अ० १ से ७२ तक है। जो देखना चाहें, वहाँ देखें।

पुरोहित का कर्तव्य

यहां शंका हो सकती है कि पुरोहित का कार्य क्या है? वैदिक प्रणाली के अनुसार पुरोहित के कर्तव्यों में सेना निरीक्षण तथा शस्त्रास्त्र संयोजन के भी कार्य गिनाये हैं। वैदिक ऋषियों में वसिष्ठ ऋषि श्रेष्ठ ऋषि थे। वे अपने कर्तव्यों का वर्णन करते हैं—

संशितं म इदं ब्रह्म संशितं बीर्य बलम् । संशितं क्षत्रमजरमस्तु जिष्णुपेषामस्मि पुरोहितः ॥

समहसेषां राष्ट्रं स्यामि समोजो बीर्य बलम् । वृश्चामि शत्रूणां बाहननेत हविषाःहम् ॥

नीचैः पद्यन्तामधरे भवन्तु ये नः सूर्यं मधवानं पृतन्यान् ।

क्षिणामि ब्रह्मणाऽस्मित्रानुन्यामि स्वानहम् ॥

तीक्ष्णीयांसः परशोरग्नेस्तीक्ष्णतरा उत । इन्द्रस्य वज्रातीक्ष्णीयांसो येषामस्मि पुरोहितः ॥

एषामहमायुधा सं स्याम्येषां राष्ट्रं सुवीरं वर्धयामि ।

एषां क्षत्रमजरमस्तु जिष्णवेषां चित्तं विश्वेऽवन्तु देवाः ॥

उद्धर्णतां मधवन् वाजिनानि उद्दीरणां जयतमेतु घोषः ।

पृथग्घोषा उलूलयः केतुमन्त उदीरताम् । देवा इन्द्रज्ञेष्ठा मरुतो यन्तु सेनया ॥

प्रेता जयतानर उग्रा वः सन्तु बाह्वः । तीक्ष्णेषवोऽबलधन्वनो हतोग्रायुधा अबलानुग्रवहवः ॥

अवसृष्टा परा पत शरव्ये ब्रह्मसंशिते । जयाः मित्रान् प्रपद्यस्व जहोषां वरं वरं मामोषां

मोचि कश्चन ॥

अर्थव० ३।११।१-८

वसिष्ठ ऋषि ने राजा का पुरोहित बनकर उस राजा का प्रभाव बढ़ाने के लिए क्या किया—
यह मन्त्रों में कहा है।

(१) येषां जिष्णुः पुरोहितः अहं अस्मि—जिनका मैं विजय प्राप्त करा देने वाला पुरोहित हूं, उनकी विजय के लिए (मेरे इदं ब्रह्मसंशितं) मेरा यह ज्ञान अत्यन्त प्रभावशाली है तथा इस ज्ञान से उनका (वीर्यं बलं च संशितं) वीर्यं और बल भी अतिक्षण होकर कभी क्षीण न हो, सदा प्रभावी अवस्था में रहे।

(२) एषां राष्ट्रं अहं संस्यामि—इनके राष्ट्र को मैं प्रभावशाली बना देता हूं, (एषां ओजः वीर्यं बलं संस्यामि) इस राष्ट्र के लोगों का ओज, वीर्यं और बल मैं विजय प्राप्त करने योग्य प्रभावी बनाता हूं। (अनेन हविषा) इस हवि से (शत्रूणां बाहून् अहं वृश्चामि) शत्रुओं के बाहुओं को मैं तौड़ देता हूं।

पुरोहित हवन करके राष्ट्र की जनता को तथा राजा और संरक्षण सैनिकों को राष्ट्रहित करने के लिए आत्मसमर्पण करने की शिक्षा देता है। जिस तरह हवन में डाली हुई आहृति पूर्णतया समर्पित होती है, इसी तरह सब लोग राष्ट्र का हित करने के लिए अपना कर्तव्य पूर्णरूप से करने को तैयार हों तो राष्ट्र का अभ्युदय हो। यह बात यज्ञ कुण्ड में हवन करके पुरोहित सबको बताता है। इससे राष्ट्र में नवजीवन उत्पन्न होता है और शत्रु का बल कम हो जाता है। मानो शत्रु के बाहु ही कट गए।

(३) नीवैः पद्मनां अघरे भवन्तु—शत्रु नीचे गिर जाय, वे निर्बल हो जाय। (ये नः मधवानं सूर्यं पृतन्यात्) जो हमारे उदारहृदय विद्वान् नेता पर सेना से हमला करते हैं, उन (अमित्रात्) शत्रुओं को मैं (ब्रह्मणा क्षिणामि) अपने ज्ञान बल की योजना से क्षीण करता हूं, उस शत्रु को निर्बल बना देता हूं और (अहं स्वान् उन्नयामि) मैं अपने पक्ष के लोगों को उठाता हूं।

यदि शत्रु अपनी सेना से हमारे ज्ञानियों को तथा घनिकों को सताने लगे, तो मैं अपने ज्ञान से ऐसी सुरक्षा का प्रबन्ध करता हूं जिससे शत्रु प्रतिदिन निर्बल होता जाय और अपने लोग उत्कर्ष को पहुंचते रहें।

(४) जिनका मैं पुरोहित हूं, उनके शस्त्र अस्त्र (परशोः तीक्ष्णीयांसः) परशु से अधिक काटने वाले, (उत अन्नेः तीक्ष्णतराः) अग्नि से भी अधिक जलाने वाले तथा (इन्द्रस्य वज्रात् तीक्ष्णीयांसः) इन्द्र के वज्र से भी अधिक मारक बना देता हूं।

यहां काटना, जलाना और विघ्नसं करना ये तीन गुण शस्त्रों के कहे हैं। तलवार आदि शस्त्र काटते हैं, अग्न्यास्त्र आदि जलाते हैं और विद्युत् अस्त्र विघ्नसं करते हैं। यह सब पुरोहित करता है।

(५) अहं एषां आयुधा संस्यामि—मैं पुरोहित इन वीरों के शस्त्रशस्त्रों को अधिक तीक्ष्ण बनाता हूं, (एषां राष्ट्रं सुवीरं वर्धयामि) इन के राष्ट्र को मैं वीरों का राष्ट्र बनाकर बढ़ाता हूं। (एषां जिष्णु क्षत्रं अजरं अस्तु) इनका क्षात्रबल विजयी और प्रभावशाली हो जावे। (एषां चित्तं विश्वदेवाः अवन्तु) इनके चित्त का सब देव संरक्षण करें।

पुरोहित सैनिकों के शस्त्र-अस्त्र शत्रु के शस्त्र-अस्त्रों से अधिक तीक्ष्ण बनाता है। राष्ट्र में वीर भाव को बढ़ाता है और सैनिकों को शत्रु से अधिक घूर बनाता है, ऐसी शिक्षा वह देता है। इन सैनिकों में पुरोहित विजय देने वाला शौर्य बढ़ाता है।

(६) (हे मधवन्) हे इन्द्र ! (एषां वाजिनानि उद्दर्षन्तां) इनके सैनिक उत्साह से युक्त

हों, इनके (जयता वीराणां घोषः उदेतु) विजय प्राप्त करने वाले सैनिकों के उत्साह की बड़ी-बड़ी गर्जनाएं होती रहें। (केनुमन्तः उल्लयः घोषाः पृथक् उदीरतां) अपना राष्ट्रध्वज लेकर शत्रु पर आक्रमण करने वाली इनकी विजयी सेना की प्रचण्ड घोषणाएं पृथक्-पृथक् होती रहें। (इन्द्रज्येष्ठा मरुतः देवाः सेनया यन्तु) इन्द्र की अव्यक्षता में मरुनों की देव सेना इस राष्ट्र की सेना के साथ सहायतार्थ चले। देव सेना के समान इमारी सेना पराक्रम करे और विजय प्राप्त करे।

शत्रु पर आक्रमण कैसे करना चाहिए, अपने सैनिकों का उत्साह किस तरह स्थायी रखना चाहिए, अपने ध्वज के रक्षणार्थ कैसा यत्न करना चाहिए, इत्यादि बातें यहां देखने योग्य हैं। अपनी सेना का उत्साह कायम रखने के लिए पुरोहित यह सब करता है।

(७) (प्र इत) शत्रु पर आक्रमण करो, (जयत) शत्रु पर विजय प्राप्त करो, (हे नरः ! वः वाहवः उप्राः सन्तु) हे नेताओ ! हे वीरो ! तुम्हारे बाहु उग्र हों, वे शौर्य में शत्रु से मी अधिक प्रभावी सिद्ध हो जाएं। (तीक्षणाहवः उप्रायुवा उग्रवाहवः) आपके बाण अधिक तीक्ष्ण हैं, आपके शस्त्र अधिक मारक हैं। आपके बाहु शत्रु से अधिक बलवान हैं। इसलिए तुम शत्रु पर आक्रमण करो और (अबलधन्वनः अबलान् इत) निर्बल धनुष धारण करने वाले निर्बल शत्रु सैनिकों को मारो, परास्त करो, भगा दो और विजय प्राप्त करो।

(८) हे ब्रह्मसंशिते शरव्ये—हे ज्ञान के कारण अधिक तीक्ष्ण बने हुए शस्त्रो ! (अवसूष्टा परापत) छोड़े जाने पर शत्रु पर ही जाकर गिर जाओ। (अभिनान् जय) शत्रुओं को परास्त करो, (प्र पद्यस्त्र) शत्रु पर आधात करो। (एवं वरं वरं जहि) इन शत्रुओं के मुख्य-मुख्य वीरों को मारो, (अभीषां कश्चन मा मोचि) इन शत्रुओं में से किसी को भी मत छोड़ो, सबको मार काटकर विनष्ट करो।

यह वसिष्ठ ऋषि भरत राजा का पुरोहित होने के पश्चात् कह रहा है। भरत राजा के सैनिकों की तथा उनके शस्त्रास्त्रों की उत्तम व्यवस्था वह कर रहा है। वसिष्ठ सब ऋषियों में श्रेष्ठ ऋषि है। वह यों ही व्यर्थ गपें मारेगा, ऐसा कोई भी नहीं कह सकता। ये वेद के ही मन्त्र हैं, वेद मनुष्यों का शाश्वत वर्ष है। किस वर्णे के मनुष्यों को क्या करना चाहिए, यह वेद मन्त्रों के ज्ञान से सबको विदित हो सकता है। इसलिए जो इन मन्त्रों में है वह पुरोहित का कर्तव्य माना जाता था, इसमें सन्देह नहीं है।

इस समय के पुरोहित पूजा, हवन, मन्त्र, जप करने में तत्पर रहते हैं। इनको और कुछ भी नहीं आता। यह इनका दोष नहीं है। वैदिक समय की शिक्षा प्रणाली टूट चुकी है, इस कारण ऐसा हुआ है। वैदिक समय में गुरुकुलीय शिक्षा प्रणाली, में सैनकीय शिक्षा, युद्ध शिक्षा, शस्त्रास्त्र विद्या की शिक्षा अनिवार्य रूप से सिखायी जाती थी। इसलिए वहां के ल्नातक पुरोहित होकर सेना-विभाग का निरीक्षण एवं संचालन कर सकते थे।

आज के डिप्लोमाटियों को ऐसी शिक्षा मिलती ही नहीं, इस कारण वे क्या कर सकते हैं ? मनुस्मृति में भी कहा है—

सैनापत्यं च राज्यं च वर्णनेतृत्वमेव च । सर्वलोकाधिपत्यं च व्रेवशास्त्रविवर्णति ॥

मनु० १२।१०६

‘सैनापति का कार्य, राज्य शासन का कार्य, वर्ण देने का अर्थात् न्यायदान करने का कार्य

तथा सब लोगों का अधिकारी बनकर करने के कार्य वेदशास्त्र जानने वाला कर सकता है।” यहां मनु से स्पष्ट शब्दों से लिखा है कि सेनापति और राज्य के अधिकारी आदि के कार्य वेद का ज्ञानी कर सकता है।

भरत लोग आपस में भगड़ा करने वाले, असंघटित, बाल बुद्धि के और पराजित वृत्ति वाले थे। वसिष्ठ ऋषि के नेतृत्व में रहने से और वसिष्ठ के उपदेश के अनुसार चलने से वे यशस्वी और विजयी हुए। इसी कारण वसिष्ठ ऋषि का सम्मान सबसे अधिक हुआ था।

परम्परा का अवशेष

सैन्य का निरीक्षण करना और शस्त्रसंभार जमा करके सैनिकों को देना वैदिक समय में पुरोहित का काम था। इस प्रथा के अवशेष आज भी दीखते हैं।

रामेश्वर की यात्रा करने के लिए प्रतिवर्ष लाखों लोग जाते हैं। रामेश्वर से घनुष्कोटि जाकर, वहां के पुरोहित को घनुष, बाण, गंगाजल और रूपये देने की प्रथा आज भी प्रचलित है। वहां के पुरोहितों ने चांदी के छोटे-छोटे घनुषबाण बना रखे हैं। वे ही आज दिये जाते हैं। यह आज की बात है। पर जिस समय यह प्रथा शुरू हुई उस समय ऐसे नकली घनुष-बाण देने की बात नहीं थी। आज जो चांदी के छोटे से घनुष बाण दिये जाते हैं वे युद्ध के कार्य के लिए सर्वथा बेकार हैं। घनुष बाण देना हो तो असली युद्ध के उपयोग में आने वाले ही कोई देगा और ऐसे ही कोई लेगा।

इस प्रथा का मूल यों है। श्रीरामचन्द्र ने रावण को परास्त किया और वे वापस अयोध्या के लिए चले। वापस आते समय रामेश्वर में उन्होंने वीरभद्र के नेतृत्व में सेना रखी ताकि कोई राक्षस उस मार्ग से पुनः भारत में न आ पाए। लंका से राक्षसों के भारत आने का यही मार्ग था। इसको रोकने के लिए यह सेना वहां रखी गयी।

इस सेना को शस्त्रास्त्रों की प्राप्ति होनी चाहिए, इसलिए यात्रा करने वालों ने वहां के पुरोहित को घनुष-बाण देने की प्रथा शुरू की। प्रत्येक यात्रा करने वाले को घनुष बाण, अन्न के लिए घन और पीने के लिए गंगाजल पुरोहित को देना चाहिए और पुरोहित को ये सब चीजें सैनिकों को उन्नित समय पर पहुंचानी चाहिए, इसलिए यह योजना बनाई गई थी। वही आज तक चालू है।

रामेश्वर को प्रतिवर्ष पांच लाख यात्री जाते हैं। प्रत्येक यात्री एक-एक घनुष दे तो पांच लाख घनुष वहां एकत्र हों। पांच-पांच बाण दे तो पच्चीस लाख बाण मिलें और प्रत्येक पांच रुपए दे तो पच्चीस लाख रुपए उस सेना के अन्न-वस्त्र के लिए मिलें। प्रत्येक एक घड़ा गंगाजल दे तो पांच लाख गंगोदक के घड़े वहां पहुंचें। वहां के सैनिकों की आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए इतनी सामग्री पर्याप्त है। कुछ कम हो तो भारत सरकार देगी। वहां के सैनिकों को, हमारे पीछे भारत की सारी प्रजा है, यह जो विश्वास रहेगा, उसका क्या कुछ कम महत्व है?

युद्ध की शिक्षा

कश्यप ऋषि का पुत्र महोक्तट विनायक था, इसका कुछ वृत्तान्त इससे पूर्व आ चुका है।

इस विनायक का उपनयन कश्यप ऋषि के आश्रम में ही हुआ था । इस उपनयन संस्कार में विनायक ने भिक्षा मांगी थी । भिक्षा में इसको शस्त्र और अस्त्र मिले थे । आजकल भिक्षा में लड्डू देते हैं, अथवा रुपये देते हैं । विनायक के लिए जो भिक्षा दी गई वह लड्डू जलेबियों की नहीं थी । सबने उसको शस्त्र अस्त्रों की भिक्षा दी थी । सबने उस समय जो आशीर्वाद दिया था, वह यह था—
बुद्धनाशं कुरु शीघ्रं विनायक ! गणेश पुराण २।१०।३०

“हे विनायक ! इन शस्त्रों और अस्त्रों का उपयोग करके तू अतिशीघ्र शत्रु का नाश कर ।”

गुरुकुल में जो ब्रह्मचारी प्रविष्ट होते हैं उनके लिए कमरपट्ट बांधना और दण्ड धारण करना अत्यन्त आवश्यक है । इसी तरह ‘परशु’ धारण करना भी है । समिधा काटने के लिए यह परशु होता है । विद्यार्थ्यन के साथ-साथ युद्धकला का शिक्षण भी गुरुकुलों में मिलता था । हम कह सकते हैं कि राष्ट्र की रक्षा के लिए स्वयंसेवक तैयार करने के लिए ही वह उपनयन संस्कार है । विनायक उसका उदाहरण है ।

वेद में उत्तम वीर तरुणी की भी एक कथा है । खेल नामक एक राजा था । उसकी पुत्री विश्वला थी । यह तरुणी इसी तरह की वीरोचित युद्धकला की शिक्षा प्राप्त करके शूरवीर बनी थी । इसलिए समय प्राप्त होते ही वह सेनापति का पद स्वीकार करके युद्ध में उपस्थित हुई । युद्ध करते-करते शत्रु के शस्त्रों से इसकी टांग टूट गई । तथापि इस वीर तरुणी का धैर्य कम नहीं हुआ । दूरी टांग की जगह लौहे की टांग लगाकर यह तरुणी पुनः युद्ध में गयी और विजय प्राप्त करके ही लौटी ।

आयसीं जंघां विश्वलायै अधत्तम् ।

४० १११६।१५

“लोहे की जांघ विश्वला को लगाई” इस तरह का वर्णन वेद में है । जिस समय तरुण स्त्री-पुरुष अपने राष्ट्र के अन्युत्थान के लिए आवश्यक होने पर युद्ध करने और उसमें अपना बलिदान करने को भी तैयार होते थे, तब शिक्षा पद्धति में ज्ञान-विज्ञान के साथ युद्ध-विद्या भी सिखाई जाती थी, इसमें सन्देह नहीं ।

उपनयन संस्कार में कमरपट्ट (मेखला बन्धन), दण्ड और परशु मिला । इसके पश्चात् विवाह संस्कार में ‘स्फ्य’ नामक शस्त्र पास रखने की आज्ञा है । स्फ्य का अर्थ ‘कुपाण’ है जो सिखों ने अपनाई है । यह दोनों और से काटने वाली तलवार है । बानप्रस्थाश्रम में भी यह रहता है । अन्त में सन्न्यासाश्रम में दण्ड रहता ही है, इसीलिए सन्न्यासी को दण्डी कहते हैं । ‘मत्तः सर्व-भूतेभ्यो अभयं’ ऐसा कहने वाला सन्न्यासी भी दण्ड धारण करता है । अर्थात् किसी आश्रम में रहने वाला कोई भी मनुष्य निःशस्त्र नहीं रहता । यह योजना स्पष्ट रूप से बता रही है कि सब स्त्री-पुरुष आत्मरक्षा में समर्थ हों, ऐसी शिक्षा राष्ट्र के स्त्री-पुरुषों को मिलनी चाहिए ।

वेदों तथा पुराणों में जिनका वर्णन किया गया है वे सब देव सशस्त्र हैं । एक भी देव शस्त्ररहित नहीं हैं । गदा, चक्र, त्रिशूल, खड्ग, घनुष बाण, वज्र, पाशुपत, शक्ति आदि अनेक शस्त्र तथा अस्त्र देवों के पास रहते हैं । ‘दत्तात्रेय’ सन्न्यासी देव हैं, परन्तु उनके पास भी गदा, चक्र, त्रिशूल आदि शस्त्र हैं और भयानक कुत्ते भी हैं ।

स्त्री देवताओं के पास पुरुष देवों की अपेक्षा द्विगुणित, त्रिगुणित शस्त्र हैं । षड्भुजा, अष्ट-भुजा, अष्टादशभुजा, अष्टार्विशतिभुजा ऐसा वर्णन स्त्री देवताओं का है । प्रत्येक हाथ में एक-एक

शस्त्र-ग्रस्त्र होता ही है। इसलिए स्त्रियां २८।२८ शस्त्र बत्ते, परन्तु पुरुष देव के पास तीन-चार शस्त्र काफी हैं। यह भाव यहाँ है। स्त्रियों का संरक्षण अधिक होना चाहिए इसलिए उनके पास अधिक शस्त्र दिए हैं। स्त्रियों का अपहरण कोई न करें, स्त्रियां भी युद्ध करने के लिए और अपना संरक्षण करने के लिए तैयार हो जाएं, ऐसी शिक्षा-पद्धति यहाँ दीखती है।

बुद्धोत्तर काल में देवता निःशस्त्र होने लगे और उसी काल में आर्य पराभूत भी होने लगे। बुद्धपूर्व वैदिककाल और बुद्धोत्तर काल में इतना परिवर्तन हुआ है। इससे स्पष्ट है कि आत्म-संरक्षण और राष्ट्रसंरक्षण के लिए जिन गुणों की आवश्यकता रहती है, वे वीरता के शुभ गुण वैदिक काल के तरणों में तथा तरणियों में लाने के लिए जैसी शिक्षा पद्धति चाहिए, वैसी गुरुकुलों में उस समय थी। बुद्धोत्तर काल में यह पद्धति हमने छोड़ दी।

वैदिक काल में पुत्र का नाम 'वीर' था और पुत्री का नाम 'वीरा' था—

जिणू रथेष्ठा: सभेयो युवाऽस्य यजमानस्य वीरो जायताम् । वा० यजु० २२।२२

"विजयी रथी सभा में सम्मान प्राप्त करने वाला तरुण वीर पुत्र इस यजमान का होवे।"

यह आशीर्वाद वैदिक समय में दिया जाता था। हर एक की यही इच्छा थी कि मुझे पुत्र हो तो वह वीर बने और पुत्री हो तो वह 'वीरा' बने। भीरु डरपोक, युद्ध से दूर भागने वाला कुलक्षणी कुपुत्र ऋषियों को इष्ट नहीं था। 'वीर पुत्र' होने की इच्छा राष्ट्र सेवा की तैयारी की इच्छा है। 'वीर' का अर्थ ही 'वीरयति अमित्रान्' शत्रु ग्रों को दूर करने वाला है। ऐसे वीर पुत्र किसी भी काल में अपने राष्ट्र का उद्धार निःसंदेह करेंगे ही, इसमें किसी प्रकार का संदेह नहीं है।

अस्तु। इस तरह वैदिक काल में राष्ट्र में वीर तरुण उत्पन्न करने की व्यवस्था थी। ऋषि लोग स्वयं राष्ट्र निर्माण, राष्ट्र-संवर्धन तथा राष्ट्र के उत्कर्ष के लिए आन्दोलन करते थे। अपने पुत्रों को राष्ट्र के लिए तैयार करते थे। ऋषि लोग अपने विशाल आध्यात्मिक सामर्थ्य से राष्ट्र के अभ्युदय तथा निःश्रेयस की सिद्धि के लिए जो-जो करना आवश्यक होता था, वह सब करते थे। इसलिए ऋषियों के तप से ही राष्ट्र का निर्माण होता है, यह कहना समीचीन है।

अध्यात्म ज्ञान से वैयक्तिक और राष्ट्रीय उन्नति

भारतीय ऋषि-मुनियों ने तपस्या एवं ध्यानधारणा करके तथा अपने अनुभव प्राप्त करके

अध्यात्म शास्त्र के सिद्धान्तों का निर्धारण किया है। ये सिद्धान्त तीनों कालों में टिकने वाले हैं; अतएव इसी अध्यात्म की नींव पर उन्होंने वैयक्तिक एवं राष्ट्रीय जीवन की इमारत खड़ी की। आर्यों के वैयक्तिक एवं सामुदायिक जीवन की यही मौलिक विशेषता है। आज हमारा ध्यान इस विशेषता की ओर नहीं है। आज हमारा जीवन अध्यात्म की इस उच्च भूमिका से बहुत नीचे पहुंच चुका है। पतन की यह स्थिति लगभग दो हजार वर्षों से निरन्तर चली आ रही है।

अब हमें स्वाधीनता मिली है। इस स्वराज्य का उपभोग हमें सुराज्य बनाकर करना है और अपनी सम्मति के उदान को नन्दनवन बनाकर विश्व को यह दिखाना है कि भारतीय सम्मति इतनी ऊँची है कि उसी से सच्ची शान्ति प्राप्त हो सकती है।

समुद्रपर्यन्तायाः पृथिव्या एकरात् । ऐ० आ०

“समुन्द्र पर्यंत पृथ्वी का एक आर्थिराजा हो और इस समग्र पृथ्वी का राज्य एक आर्थिक विद्यान के अनुसार चले” यह पांच हजार वर्ष पूर्व की गई ऋषियों की घोषणा आज तक पूर्ण नहीं हो पाई। उसे पूर्ण करके दिखाने का अवसर अब आया है, क्योंकि अब हम स्वतन्त्र हैं।

इसके लिए सर्वप्रथम हमें पतनोन्मुख अपनी गति को शीघ्र रोकना होगा तथा अभ्युदय एवं निष्ठेयस की प्राप्ति के लिए निश्चित कार्यक्रम निर्धारित कर उस दिशा की ओर बढ़ना होगा।

विचार, उच्चार, आचार

मनुष्यों के अन्दर कुछ विचार स्थायी रूप से रहते हैं। कुछ सिद्धान्तों को वह अपने जीवन में ढाल लेता है। तदनुसार बोलता है तथा जो बोलता है उसी के अनुसार वह कार्य करता है। इसी कार्य द्वारा मनुष्य की उन्नति या अवनति हुआ करती है। यदि पिछले दो हजार वर्षों से हमारी अवनति होती जा रही है तो हमें सोचना चाहिए कि हमारे आचार-विचार ठीक हैं या नहीं।

वेदकालीन आर्यराष्ट्र की तेजस्विता की प्रशंसा संसार के सभी विद्वान् एक स्वर से करते हैं। वेद, उपनिषद्, गीता की कोई प्रशंसा न करे, ऐसा उदाहरण नहीं मिलेगा। इतने श्रेष्ठ तत्त्वज्ञान के ग्रधिकारी एवं बड़ी सावधानी से उसकी रक्षा करने वाले हम इतनी अवनतावस्था में क्यों हैं?

विचार, कथन और आचरण का बहुत अधिक महत्व है; किन्तु इनमें भी विचारों का विशेष महत्व है। जैसे विचार होंगे वैसा ही कथन होगा और तदनुसार ही आचरण होगा। अतः हम प्रथम यह देखें कि वैयक्तिक विचार पहले कैसे थे और आज किस प्रकार के हैं। हमने पहले ही कहा है कि प्राचीन भारतीय आर्यों के वैयक्तिक जीवन का आधार अध्यात्म था। जब तक वह ठीक रहा

तब तक आर्यं दिग्बिजयी होते रहे। किन्तु वह ज्यों-ज्यों लिसकता गया त्यों-त्यों आर्यों की अवनति होती चली गई। इस अवनति के कारण कौनसे विचार थे? इस पर हमें यहां प्रकाश ढालना है।

उत्तम पुरुष

आर्यों के जीवन की आध्यात्मिकता उनके सम्पूर्ण जीवन में ओतप्रोत थी। अतएव उनके सभी शास्त्रों पर आध्यात्मिकता की छाइ दिखाई देती है। हम उदाहरणार्थ व्याकरण शास्त्र के तीन पुरुषों को लेंगे—

१—उत्तम पुरुष-अस्मत्, अहं । २—मध्यम पुरुष-युष्मत्, स्वं । ३—तृतीय पुरुष-तत्, सः । 'मैं' उत्तम पुरुष है, उत्तम पुरुष का ही अर्थ 'पुरुषोत्तम' है। 'उत्तम पुरुष' और 'पुरुषोत्तम' एक ही बात है। मैं 'उत्तम पुरुष' हूँ अर्थात् 'पुरुषोत्तम' हूँ, यही अध्यात्मज्ञान है। 'अहं ब्रह्म अस्मि' में 'मैं ही' 'पुरुषोत्तम' हूँ, ऐसा कहा गया है।

उत्तम पुरुष अर्थात् 'अस्मत्' पद द्वारा निर्दिष्ट पुरुष। 'अस्+मत्' अर्थात् 'अस्तित्ववान्' जिसका अस्तित्व है ऐसा पुरुष। जिसके लिए स्वयं का अस्तित्व है ऐसा पुरुषोत्तम के सिवाय और कौन होगा? 'अस्मत्' पद मेरे अपने स्वयंभूपने का अस्तित्व बता रहा है। दूसरे किसी की भी सहायता प्राप्त किए बिना मैं अपना अस्तित्व स्थिर रख सकता हूँ। ऐसा मैं स्वयं सिद्ध पुरुष हूँ। यही मेरा 'उत्तम पुरुषत्व' और यही 'पुरुषोत्तमत्व' है।

इस 'अस्मत्' शब्द की प्रथमा का एकवचन 'अहं' बनता है। 'अ+हं' अर्थात् 'जिसका त्याग न हो सके वह,' (अ) नहीं (हा) त्याग जिसका वह 'अ-हं' है। यही 'अस्-मत्' और यही 'उत्तम पुरुष' अथवा 'पुरुषोत्तम' है। यही 'स्वयम्भू' स्वरूप 'मैं' हूँ।

मैं उत्तम पुरुष, मैं (अस्मत्) अस्तित्ववान् अथवा जिसका अपना अस्तित्व है ऐसे मेरा त्याग किसी से भी (अ+हं) नहीं हो सकता, ऐसा मैं हूँ।

तू 'पुरुषम्' अर्थात् 'आयुष्+म्' मेरे आशीर्वाद से आयुष प्राप्त करने वाला है। मैंने तुम्ह अस्तित्व प्रदान किया है। 'तू है' ऐसा मैंने कहा, अतएव तुम्हे अस्तित्व प्राप्त हुआ है। यह मध्यम पुरुष है।

मैं और तू के अतिरिक्त (तत् अर्थात् वह) एक तीसरा पुरुष है। वह (अस्मत्) अस्तित्व-वान् भी नहीं है और (युष्मत्, आयुष्मत्) उसे मैंने अस्तित्व भी प्रदान नहीं किया है। इस प्रकार का यह तृतीय पुरुष है।

मैं, तू और वह इन तीन पुरुषों से समस्त विश्व व्याप्त है। इनमें 'मैं' उत्तम पुरुष है। सबसे उच्च 'मैं' है। इसमें मैं के अस्तित्व से ही अन्य सब को अस्तित्व प्राप्त हुआ है। इस प्रकार का मैं स्वयम्भू और स्वयं के अस्तित्व से सदैव रहने वाला तथा दूसरों को अस्तित्व देने वाला सबमें सामर्थ्ययुक्त हूँ। यह समस्त तत्त्वज्ञान का आधार है। व्याकरण के २-३ शब्दों द्वारा ही यह बात कितने सुन्दर ढंग से व्यक्त हो गई। उनिषदों में भी लिखा है—

अहं ब्रह्म अस्मि । तत् त्वं अस्मि ।

"अहं ब्रह्म अस्मि" अर्थात् 'मैं एक बड़ी शक्ति हूँ' 'मैं सर्वश्वेष्ठ हूँ' 'मैं उत्तम पुरुष' अथवा 'पुरुषोत्तम हूँ' मैं दीन-हीन नहीं हूँ, मैं तुच्छ अथवा उपेक्षणीय नहीं हूँ, ये विचार मन में आते ही हम में कुछ शक्ति बढ़ी है, ऐसा प्रतीत होता है। ऐसे उच्च पदारूढ़ इस 'मैं' की कालान्तर में जो

अबनति हुई वह कहां तक पहुँची, इसका विचार करना चाहिए। देखिए—

पापोऽहं पापकर्माहं पापात्मा पापसम्भवः ।

“मैं पापी हूं, मैं पाप कर्म करता हूं, मैं पापात्मा हूं और पाप के कारण ही मेरा जन्म हुआ है; इस प्रकार मैं बड़ा अपराधी हूं, दोषी हूं।”

एकदम ऊचे शिखर से खिसकते हुए बहुत नीचे गिर पड़ने के समान यह स्थित्यन्तर हुआ है। कहां स्वयम्भू, स्वतः सिद्ध पुरुषोत्तम की स्थिति और कहां ‘पापमूलक मेरा जन्म है और मैं पापी हूं’ ऐसा मानना ! समस्त वेदों और उपनिषदों में ऐसा एक भी वाक्य नहीं है जहां इस प्रकार से हमने स्वयं को ही कोसा हो या अपमानित किया हो। बुद्ध के पश्चात् ‘जन्म पापमूलक है’ ऐसे विचारों को प्रोत्साहन मिला और तब से यह आत्मधाती विचारसरण उत्पन्न हुई, जो आज तक जारी है।

‘मैं उत्तम पुरुष हूं’ अर्थात् ‘मैं पुरुषोत्तम’ हूं, यह उपनिषदों का तत्त्वज्ञान व्याकरण में किस प्रकार आया है, यह हमने देखा है। वेद मन्त्रों में यही बात किस रूप में उल्लिखित है, इसे देखना है—

अहं इन्द्रो न पराजित्य इद्धनं । न मृत्युवे अवतस्ये कदाचन ॥ ऋ० १०।४८।५

“मैं इन्द्र हूं, मेरा धन मुझे पराजित करके कोई भी छीन नहीं सकता, मैं कभी भी मृत्यु को प्राप्त न होऊंगा।

‘मैं पुरुषोत्तम’ हूं, ‘मैं बह्य हूं’, ‘मैं इन्द्र हूं—’ मेरे वाक्य एक ही आशय को व्यक्त करते हैं और वह आशय यह है कि ‘मैं शक्तिमान् हूं’ ‘मैं शक्ति का केन्द्र हूं’। इसी का स्पष्टीकरण उपर्युक्त मन्त्र के अगले भागों ने किया है। ‘न पराजित्य’—मैं पराभूत नहीं होता, मेरा कोई भी पराभव नहीं कर सकता, मेरा पराभव करके मेरा धन कोई भी नहीं छीन सकता। यह सब ‘मैं इन्द्र हूं’ का स्पष्टीकरण है।

‘मैं’ द्वारा जिसका निर्देश किया जाता है उसका स्वरूप-वरणन करना अध्यात्मशास्त्र का विषय है। ‘मैं’ नाम की जो वस्तु है वह शक्तिमान् है अथवा निर्बंल है? यह प्रश्न यहां उपस्थित है। इस प्रश्न का उत्तर इस मन्त्र द्वारा ‘मैं शक्तिमान् हूं’ के रूप में दिया है। मैं इतना शक्तिमान् हूं कि मेरा पराभव कोई भी नहीं कर सकता, इतना मुझमें सामर्थ्य है। ‘अहं इन्द्रः’ मैं इन्द्र हूं। इन्द्र अर्थात् मैं (इन) शत्रु का (द्र) विवारण करने वाला हूं। मैं इन्द्र हूं का ही अर्थ है कि मैं सामर्थ्यशाली हूं और मैं अपने सम्पूर्ण शत्रुओं का विवारण करके उनका विनाश कर सकता हूं।

जिस प्रकार सामर्थ्यशाली विद्युत् सम्पूर्ण वस्तुओं में है, किन्तु वह घर्षणादि प्रयोगों द्वारा प्रकट करनी पड़ती है, इसी प्रकार ‘मैं’ के अन्दर यह इन्द्र शक्ति है। वह अनेक अनुष्ठानों द्वारा प्रकट होती है। अर्थात् यह तो सुनिश्चित है कि वहां शक्ति है और वह ‘मैं’ निर्बंल नहीं, सबल है। यह शक्ति किसी में गुप्त हुआ करती है तो किसी में प्रकट। किन्तु मूलतः वह शक्ति अन्दर रहती है। इस ‘मैं’ में ऐसी बड़ी शक्ति विद्यमान है। इसी शक्ति पर हमें ध्यान देना चाहिए। इसकी उपेक्षा करना उचित नहीं है। हमारे समस्त अध्यात्मशास्त्र इसी शक्ति का वरणन करते हैं।

इन्द्र की सभा

इन्द्र की एक सभा है, उस सभा का अध्यक्ष इन्द्र है और अन्य सब देव उस सभा के सभा-

सद हैं। मुख्य देव ३३ हैं और इनमें प्रत्येक के कोट्यवधि देव अनुयायी हैं। इसलिए तैतीस कोटि देवों की कहावत पड़ी है। इस सभा का नाम 'इन्द्र सभा, देव सभा' है। यह देव सभा इसी शरीर में विद्यमान है, ऐसा वेद एवं उपनिषदों में कहा गया है। जहाँ इन्द्र होगा वहाँ उसके सहचारी देव होने ही चाहिए। अतः यदि 'मैं' इन्द्र है तो उसकी देव सभा वहीं पर होनी चाहिए।

सब लोगों को यह पता है कि शरीर में पांच ज्ञानेन्द्रियां, पांच कर्मेन्द्रियां एवं कुछ अन्तरिन्द्रियां हैं। यह इन्द्रिय शब्द अत्यन्त महत्व का है तथा विचारणीय भी है। इन्द्रिय का अर्थ है 'इन्द्र की शक्ति' ये सारी इन्द्रियां इस इन्द्र की शक्तियां हैं। यदि कर्मेन्द्रियां, ज्ञानेन्द्रियां एवं अन्तरिन्द्रियां इन्द्र की शक्तियां हैं तो फिर इन सबके पीछे इन्द्र भी कहीं न कहीं तो होना ही चाहिए, यह स्पष्ट है। इन्द्रियों का यह नामकरण 'इन्द्र की शक्ति' होने के कारण ही हुआ है। अतः इनका जो अधिष्ठाता, अधिष्ठित या संचालक होगा, वही इन्द्र होना चाहिए। वह इन्द्र कहाँ है? इसका प्रत्यक्ष प्रमाण हमें अपने शरीर में ही मिल सकता है। इस प्रमाण के आधार पर यह सिद्ध होता है कि देह का स्वामी जो 'मैं' है वही इन्द्र है और उसी की यह शक्ति इन समस्त इन्द्रियों में फैली हुई है। आत्मा को ही इन्द्र कहा है; अतएव उसकी शक्तियों को ही 'इन्द्रिय' कहा जाता है।

अब तक के विवरण से यह प्रतिपादित हुआ कि इन्द्र इसी शरीर में निवास करता है। जहाँ वह निवास करता है वही स्वर्ग है, वही अमरावती है, स्वर्ग का जो नन्दनवन है वह यही है। इसी अमरावती में देवों की सभा भरा करती है और उस सभा का अध्यक्ष इन्द्र बना करता है। अब हम इस सभा का कुछ समीप से निरीक्षण करेंगे। ऐतरेय उपनिषद् में यही विषय आया है—

अग्निर्विभूत्वा सुखं प्राविशत् वायुः प्राणो भूत्वा नासिके प्राविशत् सूर्यः चक्षुभूत्वा
अक्षिणी प्राविशत् आपः रेतो भूत्वा शिश्नं प्राविशत् ।

(ऐ० उ०)

"अग्नि वागरूप से मुख में प्रविष्ट हुआ, वायु प्राण बनकर नासिका द्वारा हृदय में प्रविष्ट हुआ, सूर्य नेत्र बनकर आंखों में प्रविष्ट हुआ, जल वीर्य बनकर शिश्न इन्द्रिय में प्रविष्ट हुआ" इस प्रकार विश्व के पूरे तैतीस देव भिन्न-भिन्न इन्द्रियों एवं अवयवों के रूप में शरीर में भिन्न-भिन्न स्थानों पर आकर रहने लगे। इस प्रकार की यह देवसभा इस शरीर में भरी है और इसका अध्यक्ष इन्द्र बना है। ये देव इस शरीर में किस प्रकार प्रविष्ट हुए? इसका स्पष्टीकरण अथवे वेद में इस प्रकार मिलता है—

यस्य त्र्यस्त्रशद्वेता अंगे सर्वे समाहिताः ॥१३॥

यस्य त्र्यस्त्रशद्वेता अंगे गात्रा विभेजिरे । तान् वै त्र्यास्त्रशद्वेवानेतो ब्रह्मविदो विदुः ॥२७॥

अ० १०-७

"ये तैतीस देव शरीर के अवयवों में तथा इन्द्रियों में आकर रहते हैं" अथवे वेद का यही वर्णन ऐतरेय उपनिषद् ने विशेष विस्तार से दिया है। हमारे शरीर की प्रत्येक इन्द्रिय में और अवयव में इस प्रकार से समस्त देव आकर रहते हैं। इस प्रकार यह शरीर 'देवों का मन्दिर' है।

सर्वा ह्ययस्मिन्देवता गात्रो गोल इवासते । अर्थव०

"जस प्रकार गौशाला में गायें रहती हैं उसी प्रकार सब देव यहाँ आकर बस गए हैं" सब देवों का आगमन यहाँ हुआ है। इस प्रकार हमारा यह शरीर देवों का मन्दिर है। इस 'देवसभा का

मैं ही अध्यक्ष हूँ अर्थात् मैं इन्द्र हूँ और यही 'मैं' पुरुषोत्तम हूँ। यही इन्द्र, यही उत्तम पुरुष, यही आत्मा एवं यही ब्रह्म है। कितनी अधिक है हमारी योग्यता ! कितना है हमारा सामर्थ्य !! अपनी इस शक्ति को प्रकट करके उसे अपने अधीन करने के लिए ही योग के अनेक अनुष्ठान हैं। इस शक्ति के प्रति आज हमारा उपेक्षा भाव है। आज हम इसी देह को 'पूर्यविष्पूत्रगोलक' कहते हैं ! यह कितना अमज्जल एवं बीभत्त वर्णन है ! हम देव मन्दिर में थे। वहां से अबनत होते-होते हमारा पतन पालाने के रूप में हो गया ! विचारों का यह परिवर्तन हमारी मनोभूमिका में हो चुका है और यही हमारे पतन का मुख्य कारण है। पुरुषोत्तम की यह कैसी दुरवस्था है !

शक्ति का अनुष्ठान

जिस समय यह कल्पना थी कि यह शरीर देव मन्दिर है उस समय शरीर की शक्ति बढ़ाने के लिए अनेक अनुष्ठान किये जाते थे। बाहर के विश्व में जो बड़े देव विद्यमान हैं उन्हीं के अंश हमारे शरीर में आकर बस गए हैं। बाह्यस्थित देवों की सहायता से हमारे शरीर की शक्ति बढ़ती रहती है। बाहर के प्राणवायु की सहायता से हम अपने प्राणों की शक्ति बढ़ा सकते हैं, बाहर के सूर्य प्रकाश से हमारे नेत्रों का बल बढ़ता रहता है। बाहर के जल-तत्व से हमारे शरीर का जल-तत्व व्यवस्थित रह सकता है। बाहर का अन्न खाकर ही हम जीवित रहते हैं। इस प्रकार बाहर के विश्व में स्थित इन देवों की सहायता से हम अपने शरीर की शक्ति एवं अन्तःकरण की शक्ति बढ़ा सकते हैं। यह शक्ति जिस अनुपात से बढ़ेगी और जिस अनुपात से वह हमारे अधीन रहेगी उसी अनुपात से हमारी आत्मा की शक्ति भी अभिव्यक्त हो सकती है।

अपनी इन शक्तियों के अभिव्यक्तिकरण का अनुष्ठान करने के लिए ही समस्त योगसाधनों का निर्माण किया गया है। जब तक इस शरीर को देव मन्दिर माना जाता था और जब तक बाहर के विश्वव्यापक देवों का एवं अपने शरीर में स्थित शक्तियों का सम्बन्ध लोगों को मालूम था तब तक दिव्य शक्तियों की अभिवृद्धि करने का अनुष्ठान लोग किया करते थे।

हमने ऐसे आदमी देखे हैं जो अपने शरीर के विषय में सदैव निन्दात्मक भाषण करने में ही अपनी शान मानते हैं। ऐसा करने से वे समझते हैं कि हम बड़े भारी जानी हैं। कथा-प्रवचन-कारों के प्रवचनों में पूर्वरङ्ग में यही प्रतिपादन किया जाता है। इस प्रकार की इन अमज्जल कल्पनाओं का यह प्रचार हजार डेढ़ हजार वर्षों से इस देश में प्रचलित है और आज तो यह दृष्टपूल हो चुका है। हमें देव मन्दिर में रहना है अथवा शीघ्रकूप में गिरना है ? इसका निर्णय हमें करना है। ऐसा करने पर स्वयं ही निर्णय हो जाएगा कि हमें किन विचारों को मानना है। और भी देखिए—

ऋषियों का आश्रम

इस शरीर को ऋषिगण 'सप्तऋषियों का आश्रम' मानते थे।
सप्त ऋषयः प्रतिहिता: शरीरे, सप्त रक्षन्ति सदस्प्रसादम् ।

सप्तापः स्वपतो लोकमीयुः तत्र जाग्रतो अस्वप्नजौ सत्रसदौ च देवौ । वा० य०

"सप्त ऋषि प्रत्येक शरीर में हैं। ये सात ऋषि प्रमाद न करते हुए इस यज्ञशाला का

रक्षण किया करते हैं। यहां पर सात नदियां भी हैं, वे सौते समय सौने वाले के स्थान की ओर बहा करती हैं और जागते समय बाहर की ओर बहा करती हैं। वहां दो देव जागकर इस आश्रम का रक्षण किया करते हैं।”

इस मन्त्र में इसी शरीर को ‘सप्तऋषियों का आश्रम’ कहा गया है। यह कल्पना कितनी उदात्त, पवित्र और उच्च है। यह शरीर मानो तपोभूमि है, जहां सात नदियां बह रही हैं। इन नदियों के पवित्र संगम स्थान पर सात ऋषि तप कर रहे हैं। इस प्रकार सप्तऋषियों के पवित्रतप से पुनीत हुआ यह आश्रम है।

ऋषि लोग ज्ञान लिया और दिया करते हैं। यहां मस्तक में दो आँखें, दो कान और दो नासापुंछ तथा एक मुख—ये सात ऋषि हैं। ये सब ज्ञान प्राप्त कर रहे हैं तथा ज्ञान दे रहे हैं। इनका यह ज्ञान-व्यवहार निरन्तर जारी है। ये ऋषि हैं जो दूर का देखा करते हैं तथा भविष्य भयप्रद हो तो मनुष्य को सावधान किया करते हैं। ये यदि संयमी हुए तो ये ही ऋषि और देव बन जाते हैं तथा मनुष्य के लिए बड़े लाभदायी सिद्ध होते हैं; किन्तु यदि ये भोगी हो जाएं तो ये ही राक्षस बन जाते हैं। भोगी एवं संयमी का ही भेद राक्षस और देवों में है।

दशरथ एवं दशमुख

इसके लिए एक उदाहरण प्रस्तुत करने योग्य है। हमारे यहां दशरथ—दश इन्द्रियों का संयम करने वाला राजा है और उसका पुत्र ‘राम’ सबको आनन्द देने वाले के रूप में प्रसिद्ध है। यह देव है। संयम का फल देवत्व है। दूसरा है भोगी दशमुख रावण। यह इन्द्रियों से भोग भोगने वाला तो है, किन्तु रावण अर्थात् ‘रोने वाला’ है। उसके पल्ले रोने के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। इसकी लंका जलकर खाक हो जाती है और अन्त में इसका भी सम्पूर्ण विनाश हो जाता है। वह असुर या राक्षस है, क्योंकि यसंयम का यही निश्चित परिणाम होता है। संयम से ऋषि या देव बना जा सकता है। भोग से प्रथम सुख मालूम हो तब भी अन्त में रोना पड़ता है और सर्वस्व नाश का दुःख भोगना पड़ता है। यही कारण है कि ‘इस शरीर को ऋषियों का आश्रम कहा गया है और यहां पर इन्द्रिय संयम, मनोनियन्त्रण और तप करना है’ आदि वातं सूचित की गई हैं। नर का नारायण होने का यही मार्ग है। वह इसी शरीर में सम्भव है।

सात नदियों के प्रदेश का अवैषण संशोधक लोग पंजाब से अफगानिस्तान तक कर रहे हैं। किन्तु उन्हें इन नदियों का कहीं पता नहीं चलता। वहां सात नदियां हैं ही नहीं, फिर मिलेंगी कैसे? इन नदियों का उल्लेख हमने ऊपर किया है। ये ही वे सात नदियां हैं। यह सात नदियों का पवित्र प्रदेश है। इस प्रदेश में सप्त ऋषियों का यह आश्रम है। यहां दो देव सदैव जागृत रहकर इस आश्रम की रक्षासों के आक्रमणों से रक्षा किया करते हैं। ये ‘दो देव’ हैं ‘श्वास और उच्छ्वास’। शरीर की रक्षा करने वाले ये दो पहरेदार हैं। इस आश्रम की रक्षा करने के लिए ये दो देव सदैव पहरा देते हुए खड़े हैं। ऋषियों का यज्ञ निर्विघ्न रूप से पार हो, इसलिए ये दो देव सतत जागृत रह कर पहरा दे रहे हैं।

ऋषि आश्रम की यह कल्पना कितनी उत्तम, पवित्र एवं आनन्ददायिनी है। इस जीव को कैदी की जो उपमा दी जाती है, उससे इसकी तुलना करें। इन दोनों कल्पनाओं में से कौन-सी

कल्पना हमें स्वीकार करती चाहिए ?

द्वारका और अयोध्या

आरं एक वैदिक कल्पना देखिए। यहां पर द्वारका एवं अयोध्या नामों से इसी शरीर का वर्णन किया है—

अष्टाचक्षा नवद्वारा देवानां पूः अयोध्या । तस्यां हिरण्यः कोशः स्वर्गो ज्योतिषाऽवृतः ॥३१॥
तस्मिन् हिरण्यये कोशे व्यरे त्रिप्रतिष्ठिते । तस्मिन् यत् यक्षं आत्मन्वत् तद्वै इह्यविदो विदुः ॥३२॥
प्रभ्राजमानां हरिणां यशसा संपरिवृताम् । पुरं हिरण्यर्था ब्रह्मा विवेशापराजिताम् ॥३०॥

अथव॑० १०१२

“आठ चक्र एवं नौ द्वार वाली यह देवों की नगरी अयोध्या है। इसमें तेजस्वी स्वर्ण श्रौर सुवर्ण का भरपूर कोश है। इस स्वर्ण नगरी में एक आत्मा है, जिसे ब्रह्मज्ञानी लोग जानते हैं। यह नगरी तेजस्वी, यशस्वी, मनोहारिरी, सुवर्णमयी एवं अपराजित है। इस नगरी में विजयी ब्रह्मा प्रवेश करता है, वह वहां राज्य करता है।”

यह नगरी नौ द्वार वाली होने के कारण द्वारावती अथवा ‘द्वारका’ है और इसका पराभव कभी भी नहीं होता, इसलिए यह ‘अयोध्या’ है। यह सुवर्ण की तेजस्वी देवनगरी है। यह हमारे शरीर का वर्णन है। इसे यहां पर (देवानां पूः) देवों की पुरी कहा गया है। अनेक देव यहां आकर रहा करते हैं। कौन-सा देव कहां आकर रहता है, इसका वर्णन पूर्व किया जा चुका है। यह देवनगरी, यह स्वर्ण, यह ब्रह्मलोक, यही अमरावती श्रौर यही अयोध्या है। स्वर्ण का सुख हमें यहीं पर प्राप्त हो सकता है। देवों के साथ यहीं पर निवास किया जा सकता है। यहीं ब्रह्म-सुख का अनुभव किया जा सकता है। ऐसा है यह हमारा शरीर। यह दीन या तुच्छ तो कदापि नहीं हो सकता। जो देवों की नगरी है वह भला हीन-दीन क्यों होने लगी ?

आज इसी शरीर को मलिन, क्षणभंगुर और दुःख का कारण माना जाने लगा है; किन्तु उपर्युक्त वेदमन्त्रों में इसे स्वर्ण कहा गया है। दो भिन्न कालों में कल्पना का कितना बड़ा अन्तर पड़ गया है !!

कुरुक्षेत्र

यह शरीर कुरुक्षेत्र है। इस स्थान पर यज्ञ करने की इच्छा से समस्त देव आकर बसते हैं और सौ वर्षों तक यज्ञ करते हैं। इस प्रकार की यज्ञभूमि यह शरीर है। समस्त देवों द्वारा मिलकर चलाया गया यज्ञ यहां चल रहा है। यह यज्ञ बीच में बिना विघ्न हुए उत्तम रीति से सफल होना चाहिए।

‘कुरुक्षेत्र’ वे देवानां देवयज्ञन् । जावाल उ० १

“यह शरीररूपी कुरुक्षेत्र देवों के यज्ञ करने का यज्ञ क्षेत्र है” देव यहां आते हैं और शत-सांवत्सरिक यज्ञ करने के लिए अपने स्थानों पर बैठते हैं। यज्ञ में अनेकों की अपमृत्यु होने के कारण बीच में ही यज्ञ नष्ट हो जाता है। यहां जो १२० वर्ष तक जीवित रहेगा वह शतसांवत्सरिक यज्ञ पूर्ण कर सकता है। ‘पुरुषो वै यज्ञः’ यह मनुष्य रूपी जो पुरुष है, वही यज्ञ है। मनुष्य स्वयं यज्ञ है। मनुष्य का शरीर कुरुक्षेत्र है। समस्त देव यहां आते हैं और यज्ञ करते हैं।

उपर्युक्त कथन का यही एकमात्र अभिन्नाय है कि मनुष्य का समस्त जीवन यज्ञमय हो। ईश्वर का अंश और ३३ देवों के अंश ये सब यहां पर उपस्थित होते हैं। वे यह निश्चय करते हैं कि यज्ञ करना चाहिए और इसके लिए इस शरीररूपी यज्ञभूमि को तैयार करते हैं।

अब तक हमने शरीर के विषय में जिन वैदिक कल्पनाओं का उल्लेख किया है वे इस प्रकार हैं—मैं पुरुषोत्तम हूं, ब्रह्म हूं, इन्द्र हूं। मेरा शरीर देवमन्दिर है, यह ऋषियों का पवित्र आश्रम है, सप्त नदियों का यह पवित्र तीर्थ है, यह यज्ञभूमि है, पवित्र कुरुक्षेत्र है। पाठक इन कल्पनाओं को अपने मन में रखें और उसके पदचात्—यह शरीर पूर्यविष्णुत्र का गड्ढा है, यह अमङ्गल है, मैं पापी हूं, मेरा जीवन पापपूर्ण है, मेरी उत्पत्ति पाप से है, मैं दीन-हीन, दुर्बल और अपराधी हूं, मैं यहां कारावास में पड़ा हुआ कैदी हूं, यह विश्व एक बड़ा काराघृह है, यह सब क्षणभंगुर है, यह सब दुःखमय है—आदि प्रचलित कल्पनाएं देखें और हमारा जीवन किन विचारों पर आधारित है, इसका विचार करें।

जैसा विचार, वैसा आचार

जैसे हमारे विचार होते हैं वैसा ही हमारा आचरण होता है। मान लीजिए कि हम एक गांव में गए और वहां पता लगा कि इस गांव में महामारी का भयंकर उपद्रव है। यह सुनते ही हम तत्काल वहां से भाग कर अन्यत्र जाने का प्रयत्न करेंगे। किन्तु यदि हमें यह पता लगे कि हम ऋषि के एक पवित्र आश्रम में आ गए हैं और इस आश्रम में रहने पर हमारे सम्पूर्ण रोग दूर होंगे तथा पूर्ण स्वास्थ्य प्राप्त होगा, तो हम वहां पर याकृष्णकथा अधिक ठहरने का प्रयत्न करेंगे।

चोरों के गांव में हम मुकाम नहीं करेंगे। प्रपितु ऋषियों के आश्रम में सर्वथा निश्चिन्त होकर रहेंगे। हमारे विचारों का आचरण पर ऐसा प्रभाव पड़ता है। हम चाहे जितनी उदासीन वृत्ति से इन विचारों की ओर देखें, तथापि हम यह अवश्य अनुभव करेंगे कि गत दो हजार वर्षों में अनेक प्रचारकों द्वारा क्षणभंगुर असार संसार, सर्वक्षणिक, सर्व दुःखं, पापमूलक जन्म, आदि की जो कुकल्पनाएं हमारे अन्दर फैलाई गईं उनका अनिष्ट परिणाम हिन्दुओं के सूक्ष्म मन पर हुआ है। यही कारण है कि आज का हिन्दू इहलौकिक सुखों के विषय में निश्चिन्त हो गया है। उसे यह जीवन दो दिनों का लगता है। किन्तु वेद तो 'भूयश्च शरदः शतात्' ऐसा कहता है। कोई भी मनुष्य ऋषि आश्रम अथवा देवमन्दिर में सौ वर्षों से भी अधिक रहने की इच्छा करेगा। किन्तु शोचकूप में किसी की भी इच्छा अधिक देर तक रहने की न होगी।

त्यागमय जीवन

हमारी वर्तमान त्याग की कल्पना ने त्याग की मूल कल्पना को भी विकृत कर दिया है। 'त्यक्तेन भुञ्जीथा' (वा० य० ४०।२) 'त्याग से भोग कर' ऐसा वैदिक ऋषियों का कथन था। किन्तु ऋषियों का त्याग और उनकी निवृत्ति संसार का उच्छ्रेद करने वाली नहीं थी।

अनेक स्त्रियों से सम्बन्ध करने की जो प्रवृत्ति यी उसका निवारण विवाह के विधान द्वारा किया गया। अर्थात् विवाह निवृत्ति मार्ग का ही एक स्वरूप है और त्याग ही है। आज तो संन्यास लेकर सन्तान-परम्परा का उच्छ्रेद करने को ही निवृत्ति कहा जाता है। किन्तु यह निवृत्ति राष्ट्र का घात करने वाली है।

यदि हम वस्त्र धारण करना थोड़ा दें तो जुलाहे मर जाएंगे । घर में नहीं रहना है, ऐसा निश्चय करलें तो राज और बढ़ई मरने लगेंगे । जब तक इस त्याग का आचरण सब लोग नहीं करते तभी तक इनका प्रतिपादन या कथन भला मालूम होता है । किन्तु यदि सबके सब उस पर आचरण करने लग जाएं तो इससे राष्ट्र की अधोगति हुए बिना कदापि न रहेगी ।

वैदिक निवृत्ति समर्याद होने के कारण राष्ट्रोन्नति की पोषक थी । आगे जाकर बौद्ध-युग में उसे अमर्यादित किया गया । इसका कारण यह था कि बुद्धोत्तर काल में इस जगत् के विषय में और अपने शरीर के विषय में अत्यन्त हीन कल्पना स्थापित हो गई और इस संसार का त्याग किए बिना हमारी आत्मोन्नति नहीं हो सकती, ऐसे असत्य विचार रुढ़ हो गए । इस कारण सर्वस्व-त्याग ही यदि जीवन का ध्येय बन जाए तो उसमें कोई अस्वाभाविकता नहीं है ।

जो अपना ध्येय सर्वस्व-त्याग का बनाता है उसके द्वारा इस संसार का क्या भला हो सकता है? लोग पूर्णतः सर्वस्व त्याग नहीं करते इसीलिए उनके द्वारा लोकोन्नति का थोड़ा बहुत कार्य हो जाता है । अस्तु, अब हम एक पराकाष्ठा तक पहुंची हुई विचारसरणि पर थोड़ा-सा प्रकाश डालेंगे ।

निवृत्ति मार्ग

उपनिषद्, ब्रह्मसूत्र एवं गीता ये तीन ग्रन्थ प्रस्थानत्रयी के हैं । इसलिए बड़े-बड़े आचार्यों ने यह लिख रखा है कि जब पुत्र बड़ा हो जाए, वरवार सम्भाल ले, तब गृहस्थ का भार लड़के पर डालकर फिर इन ग्रन्थों का अध्ययन करें । देखिए—

गर्भाधानादि-संस्कार-संस्कृतं अधीतवेदं जनितसुतं अनुष्ठितवशं निष्पुहं मुमुक्षुं शिष्यं
पुत्रं वा कृषिरूपदिशन् आह । ईशावास्त्यमिति ।

उव्वट, महीघर भाष्य

“जिसके गर्भाधानादि संस्कार हो चुके हैं, जिसने वेदों का अध्ययन किया है, जिसके लड़के हो चुके हैं, जिसने यज्ञ किए हैं, जो निरच्छ है, जिसे केवल अपनी मुक्ति प्राप्त करने की इच्छा है, ऐसे शिष्य को अथवा पुत्र को कृपि उपदेश करते हैं ।”

यहां और बातें थोड़ी दी जाएं तो जो बात ध्यान देने योग्य है वह यह कि ‘पुत्र उत्पन्न हो जाने पर तथा इसके पश्चात् पुत्र होने की सम्भावना न रहने पर इस अध्यात्म शास्त्र का अध्ययन करे ।’ पुत्र उत्पन्न हो जाने पर ईशोपनिषद् सीखें तथा गीता उपनिषदादि अन्य ग्रन्थ सीखें, ऐसा उक्त आचार्यों का अभिप्राय दिखाई देता है । यदि यह बात सत्य मान ली जाए तो उसका क्या परिणाम होगा, यह देखिए—

ब्रह्मज्ञान से सुप्रजा

ब्रह्मारण्यक उपनिषद् में समस्त उपनिषद् विद्याओं का उपदेश कर देने के पश्चात् ‘सुप्रजाजनन’ की विद्या बताई गई है । सुप्रजाजनन के लिए माता-पिता कैसा व्यवहार करें, क्या खाएं, क्या पढ़ें, मन में कैसे विचार धारण करें, जिससे निःसंशय इष्टसन्तति निर्माण की जा सके । ज्ञानी, शूर, व्यवहारमुश्ल, एक या चारों वेदों का जाता, जैसा चाहें वैसा पुत्र उत्पन्न किया जा सकता है । यह बात इस उपनिषद् के अन्त में वर्णन की गई है । यदि पुत्र उत्पन्न करने के पश्चात् ब्रह्मविद्या सीखती हो तो इस अध्याय की ब्रह्मारण्यक उपनिषद् में होने की कोई आवश्यकता नहीं

थी। किन्तु वह अध्याय वहां पर है। अथर्ववेद भी उसी का समर्थन करता है—

यो वै तां ब्राह्मणो वेद अमृतेनावृतां पुरीम् ।

तस्मै ब्रह्म च ब्रह्मादच आयुः प्राणं प्रजां बदुः ॥ अथर्वे० १०।२।२६

“जो इस अमृत से भरी हुई ब्रह्मपुरी को जानता है, उसे ब्रह्म की कृपा से दीर्घ आयुष्य, नीरोग शरीर, एवं सुप्रजा प्राप्त होती है।” अथर्ववेद ने ब्रह्मज्ञान का यह फल लिखा है। यहां पर ब्रह्म की कृपा से जो प्रजा होगी वह दत्तक तो नहीं होगी! वह तो औरस सन्तति ही होगी। इसी-लिए औरस सन्तति होने के समय से पूर्व यह ब्रह्मज्ञान उन स्त्री-पुरुषों को होना चाहिए। यह है वास्तव में वेद और उपनिषदों का कथन। सुप्रजा की प्राप्ति तो ब्रह्मज्ञानी पुरुषों को हुआ करती है। यही तो ब्रह्मज्ञान का फल है। प्राचीन वैदिक परम्परा ब्रह्मज्ञान का परिणाम सुसन्तति होना बताती है और आधुनिक आचार्य कहते हैं कि सन्तति होने पर संसार त्याग करना चाहिए तथा उसके पश्चात् उपनिषदों का अध्ययन करें। अब हम किसकी बात मानें?

विवेचन

अब हम प्रमाण वचनों को छोड़कर उचित बात का विचार करेंगे। माता-पिता सुशक्षित, ज्ञान-विज्ञान-सम्पन्न व सदाचारी, ब्रह्मनिष्ठ एवं ब्रह्मज्ञानी हों तो उनकी सन्तानें अवश्य ही उत्तम होंगी, इसमें किंचिन्मात्र भी संशय नहीं है। वेद और उपनिषदों का यही ध्येय था। यह बात उपर्युक्त वचनों से स्पष्ट सिद्ध होती है। प्रथम आयु में कन्या और पुत्र उत्तम ज्ञान प्राप्त करें, समस्त अध्यात्मज्ञान का अध्ययन भी करें और फिर उनका विवाह हो।

ब्रह्मचर्येण कन्या युवानं विन्दते पतिम् । अथर्वे०

इस प्रकार विवाह हो जाने के पश्चात् वे वृहदारण्यकोपनिषद् के कथनानुसार, ध्येयनिष्ठा-पूर्वक, मैं अमुक प्रकार की सन्तति निर्माण करूंगा, ऐसा संकल्प करके उसके लिए अपेक्षित नियम-बन्धनों का पालन करके उत्तम सन्तति तैयार करें। ब्रह्मविद्या का यही फल है। ‘अथर्ववेद एवं वृहदारण्यक उपनिषद् जो कहते हैं वही सत्य है’ ऐसा विचार करने पर यह स्पष्ट प्रतीत होता है।

किन्तु आज तो हम इसके सर्वथा विपरीत मानने लगे हैं। मान लीजिए कि हम उपर्युक्त विचारों के अनुसार पुत्र पर संसार का सब भार डालकर उपनिषदों का अध्ययन प्रारम्भ करें और फिर १० वर्षों में ब्रह्मज्ञान की प्राप्ति हो तो १०वें वर्ष ब्रह्म की कृपा होने पर औरस सन्तति उत्पन्न करने की सम्भावना ही नहीं रहती। दत्तक पुत्र प्राप्त करने के लिए तो ब्रह्म की कृपा की भी आवश्यकता बिल्कुल नहीं रहती।

मैंने वेदान्त विषय के एक प्राध्यापक से यह प्रश्न किया कि ‘वृहदारण्यक उपनिषद् के अन्त में इच्छानुसार पुत्र उत्पन्न करने का अध्याय है, उसका क्या प्रयोजन है तथा उसका आध्यात्मिक तत्त्वज्ञान से क्या सम्बन्ध है?’ इसका उत्तर उन्होंने यह दिया: ‘वृहदारण्यक शतपथ में से लिया गया है और चूंकि शतपथ में वह अध्याय था, इसलिए वृहदारण्यक में भी वह आ गया। इस अध्याय का तत्त्वज्ञान से कोई सम्बन्ध नहीं है।’ अर्थात् उनके मत से वृहदारण्यक उपनिषद् का कर्ता अज्ञानी था तथा अनजाने में उसने वह अध्याय यहां ले लिया। ऐसे लोग हमारे विद्यार्थियों को क्या तत्त्वज्ञान सिखाएंगे?

आचरण के लिए तत्वज्ञान

वास्तविक बात यह है कि तत्वज्ञान का अस्तित्व आचरण में उतारने के लिए ही है। तत्वज्ञान केवल वादविवाद का विषय नहीं है। मनुष्य के आचरण में उतर कर मनुष्य का निर्माण तदनुरूप होना चाहिए। मानवी आचरण पवित्र एवं शुद्ध होना चाहिए। नर को नारायण बनना चाहिए। इसे ब्राह्मी स्थिति प्राप्त करनी चाहिए। क्योंकि इसीलिए प्रत्येक कार्यशास्त्र में अध्यात्म-शास्त्र गुम्फित किया गया है। मनुष्य का जीवन ही इस ज्ञान द्वारा पवित्र बनना चाहिए।

आज गीता और उपनिषदों के पठन-पाठन वर्ग चालू हैं। किन्तु उनमें वे लोग आते हैं जो पेत्तनर हैं, जिन्हें आंखों से ठीक दिखाई नहीं देता और कानों से ठीक सुनाई नहीं देता। जिनके शरीर में पुरुषार्थ करने की शक्ति शैष नहीं है, प्रायः ऐसे ही लोग गीता का अध्ययन किया करते हैं। किन्तु मूलतः जिस गीता का उपदेश किया गया वह भारत के युवक वीर अर्जुन को किया गया था। उपदेश करने के समय भगवान् कृष्ण भी युवक ही थे। एक युवक द्वारा दूसरे युवक के लिए उपदिष्ट ग्रन्थ को आज गलितगात्र वृद्ध पढ़ते हैं। भारतीय युद्ध समाप्त हो जाने के पश्चात् अर्जुन ने ३० वर्षों तक राज्य किया था और आन्तरिक एवं बाह्य शब्दों का विनाश किया था। अर्थात् गीता एवं उपनिषद् जैसे ग्रन्थ ऐसी आयु में आत्मसात् करने चाहिए। जिस आयु के पश्चात् कम से कम ३०-४० वर्षों तक जनसेवा एवं राष्ट्रसेवा करने की शक्ति हम में रहे।

बुद्धोत्तर काल में अपनी तुच्छता व्यक्त करने की प्रथा चल गई जो आज तक प्रचलित है। यह छुड़ि समाप्त होनी चाहिए। मेरा अर्थात् व्यक्ति का स्वरूप क्या है? उसकी शक्ति कितनी है? उसकी कार्यक्षमता कितनी है? इसी दृष्टिकोण से आज का पाठ्यक्रम निर्धारित होना चाहिए अर्थात् स्नातक होने से पूर्व उसे अध्यात्मज्ञान, ब्रह्मज्ञान एवं भौतिक ज्ञान प्राप्त होना चाहिए। ऐसे ज्ञान से युक्त तरुण भारतीय ज्ञान का प्रसार विश्व में कर सकते हैं और भारतीय तत्वज्ञान की विशेषता संसार के सामने आ सकती है।

यदि अध्यात्मज्ञान व्यक्तिगत जीवन का अवलम्बन बन जाए तो उसके द्वारा मानवी जीवन में अभ्युदय-निःश्रेयस की सिद्धि हो सकती है। अब हमें यह देखना है कि यही अध्यात्म की भूमिका राष्ट्रोन्नति के लिए किस प्रकार सहायक हो सकती है।

(२) अध्यात्मज्ञान से साष्ट्रीय उन्नति

अध्यात्म ज्ञान आर्यों के जीवनोपयोगी समस्त शास्त्रों का ध्येय था। महाभारत के युद्ध से पूर्व जिस गीता शास्त्र का उपदेश किया गया था, वह अध्यात्मशास्त्र ही माना गया है। गीताशास्त्र का श्वरण करके अर्जुन का मन यदि शुद्ध न हुआ होता तो वह बन में जाकर, कन्द-मूल-फल खाकर हरिहरि जपता हुआ अपना जीवन समाप्त कर देता क्योंकि गीता श्रवण से पूर्व उसने अपना यही निश्चय किया था।

श्रीरामचन्द्र की दैववादी प्रवृत्ति द्वारा करके पुरुषार्थ द्वारा सब कुछ प्राप्त कर लेने की उत्साही प्रवृत्ति उत्पन्न करने का समस्त श्रेय 'योगवासिष्ठ' नामक अध्यात्म ग्रन्थ को ही देना चाहिए। इस ग्रन्थ का उपदेश सुनकर श्रीरामचन्द्र दैववाद को छोड़कर पवके पुरुषार्थी बन गए।

जिस प्रकार गीता का श्रवण करने के पश्चात् अर्जुन ने कौरवों की साम्राज्यशाही को समाप्त कर दिया और अपने राज्य की फिर से स्थापना की, उसी प्रकार योगवासिष्ठ का उपदेश सुन कर श्रीरामचन्द्र ने अपने दैववादी विचार दूर फेंक दिए और अपने अन्दर प्रयत्नवादी विचारों का उदय करके रावण-साम्राज्य का विनाश कर दिया और रामराज्य की स्थापना की। इस रामराज्य की प्रशंसा सारा विश्व आज तक करता आ रहा है।

दो स्थानों पर अध्यात्मशास्त्र का उपदेश दिया गया और दोनों ही स्थानों पर राष्ट्रीय दृष्टि से सर्वाङ्गीण उन्नति हुई, यह बात स्पष्ट दिखाई देती है। इससे यह सिद्ध होता है कि अध्यात्मशास्त्र राष्ट्रीय उन्नति के लिए साधक है।

शान्ति की इच्छा

संसार को और मनुष्यमात्र को शान्ति चाहिए। मनुष्य शान्ति के लिए छटपटाया करता है। वह युद्ध भी इसीलिए करता है कि जिससे शान्ति स्थापित हो सके। यदि उसके इन प्रयत्नों के बावजूद युद्ध होते हों तो हों; किन्तु उसका ध्येय शान्ति ही रहता है। यह शान्ति तीन प्रकार की है। एक वैयक्तिक शान्ति, दूसरी राष्ट्रीय शान्ति और तीसरी जागतिक शान्ति। इस प्रकार इन तीनों शान्तियों की स्थापना इस धरती पर होनी चाहिए।

वैयक्तिक शान्ति अन्तःकरण एवं शरीर में होने वाली शान्ति है। दूसरी राष्ट्रीय शान्ति है जो राष्ट्र में हुआ करती है। अर्थात् राष्ट्र में गुणों का, चोर डाकुओं का, व्याघ्रादि पशुओं का उपद्रव न हो, रोग न फैलें। जागतिक शान्ति का अर्थ यह है कि जगत् में युद्ध न हों तथा अन्य जागतिक अशान्ति के कारण दूर हों। इन तीनों प्रकार की शान्तियों की इच्छा मनुष्यों के अन्दर है। जनता एतादृश शान्ति के लिए आज अत्यन्त आतुर है। इसीलिए भारतीयों के प्रत्येक धर्म कार्य के अन्त में “ओं शान्तिः शान्तिः शान्तिः” ऐसा कहा जाता है। यह रुढ़ि हजारों वर्ष पुरानी है। हम जो कुछ करते हैं वह इन तीनों शान्तियों की स्थापना के लिए करते हैं। इस रुढ़ि का यही अर्थ है।

समस्त उपनिषदों के प्रारम्भ एवं अन्त में इन तीनों शान्तियों का उच्चारण किया जाए, ऐसी प्रथा अनादि काल से प्रचलित है।

किन्तु हमने तीन शान्तियों का उच्चारण किया, इसका अर्थ यह नहीं होता कि हमने इन तीनों शान्तियों की स्थापना का कार्य कर लिया। क्या यह सब करने का दायित्व हम पर है? इस प्रश्न पर हम यदि गम्भीरता से विचार करें तो यह स्पष्ट विदित हो जाएगा कि इन तीनों शान्तियों की स्थापना का वास्तविक उत्तरदायित्व बहुत कम व्यक्ति अनुभव करते हैं और उस उत्तरदायित्व को निभाने की शक्ति भी बहुत कम लोगों में है।

व्यक्ति, राष्ट्र और विश्व

आज विश्वशान्ति स्थापित करने के कार्य को पूरा करने की शक्ति केवल दो पुरुषों में ही है। एक है रूस का राष्ट्रपति और दूसरा है अमेरिका का राष्ट्रपति। ये दोनों यदि मिल जाएं और सोच लें तो शान्ति स्थापित हो सकती है और यदि वे सोच लें कि युद्ध करेंगे तो इस सारी पृथिवी पर युद्ध भड़क सकते हैं। अब कुछ वर्षों से चीन भी इस होड़ में शामिल हो गया है।

दूसरी शान्ति राष्ट्रीय है। केवल भारत के विषय में यदि कुछ कहना हो तो विदेश से युद्ध करना या न करना आज भारत सरकार पर निर्भर है। सर्वसाधारण जनता चाहे जितना हल्ला मचावे, कुछ होना जाना नहीं है।

जागतिक शान्ति एवं राष्ट्रीय शान्ति दोनों राज्याधिकारियों द्वारा ही सम्भव हैं और यदि वे चाहें कि युद्ध हो तो युद्ध भी उन्हीं की इच्छा पर अवलम्बित है। अर्थात् युद्ध एवं शान्ति उन्हीं की इच्छा पर अवलम्बित रहने वाली बात है। सदैव ऐसी परिस्थिति रहा करती है। महाभारत का युद्ध अकेले दुर्योधन के दुराग्रह के कारण हुआ और लंका का युद्ध भी अकेले रावण के हठ के कारण हुआ। अन्य बड़े-बड़े पुरुषों का सारा शान्ति प्रयास व्यर्थ ही गया।

वैयक्तिक शान्ति व्यक्ति के अन्तःकरण में स्थापित करनी होती है; अतः वह प्रत्येक व्यक्ति के अपने अधिकार की बात है, ऐसा यदि हम कहें तो यह भी सत्य नहीं है। क्योंकि अन्तःकरण की शान्ति, योगसाधानादि द्वारा सम्भव है और योगसाधन 'सुभिक्षे धामिके राज्ये' जहां सस्तापन और धामिक राज्य हो, वहीं सम्भव है। चाहे जहां पर योगसाधन सम्भव नहीं है और इसीलिए चाहे जहां वैयक्तिक शान्ति भी सम्भव नहीं है।

जहां खून, रक्तपात, अग्निकाण्ड, लूट और डाकेजनी होती हो, जहां की राज्य-व्यवस्था अशान्ति को रोकने में समर्थ न हो वहां कोई किस प्रकार योगसाधन कर सकेगा? ऐसे अशान्ति के युग में और अशान्त देश में योगसाधना सम्भव ही नहीं है। अतः ऐसे स्थान पर वैयक्तिक शान्ति की स्थापना भी असम्भव है।

इन सब बातों से यह स्पष्ट हो जाता है कि तीनों शान्तियों का सम्बन्ध राज्य-व्यवस्था से है। यदि राज्य-व्यवस्था उत्तम एवं समर्थ हो तो वे तीनों शान्तियां स्थापित हो सकेंगी; अन्यथा वे तीनों शान्तियां स्थापित न हों सकेंगी। हम लगभग पांच हजार वर्षों से 'शान्तिः शान्तिः' चिल्लाते आ रहे हैं; किन्तु शान्ति स्थापित न होकर अशान्ति ही बढ़ती जा रही है।

जिन ऋषियों ने प्रथम तीन बार शान्ति का उच्चारण किया, उन्हें यह विदित था कि राज्य-शासन-शक्ति से ही इन तीन शान्तियों की स्थापना सम्भव है। उस समय के ऋषि राज्य-शासन शक्ति का उपयोग कर सकते थे; इसीलिए उनके 'शान्तिः' उच्चारण करने का महत्व था। संसार में उन्हें स्थायी शान्ति स्थापित करनी थी और इस विषय में उनके पास एक व्यवस्थित योजना थी। इसीलिए उन्होंने 'समुद्रं पर्यन्तायाः पृथिव्याः एकराद्' समुद्रपर्यन्त पृथ्वी का एक आर्य राजा होना चाहिए और उसका विधान भी एक ही होना चाहिए, ऐसा धोषित किया था। यह धोषणा पूजा आदि के अवसरों पर आज भी ब्राह्मण करते हैं; किन्तु उनके हाथ में राज्य-सत्ता नहीं। ऐसी स्थिति में इस धोषणा का कोई महत्व नहीं। इस प्रकार के विचार करने पर यह प्रतीत होता है कि प्रत्येक उपनिषद् के आरम्भ और अन्त में किया जाने वाला यह त्रिवार शान्ति धोष राजकीय स्वरूप का है। इस धोष के साथ राज्य-शक्ति होने पर ही शान्ति स्थापना सम्भव है।

उपनिषदों का शान्ति मन्त्र आध्यात्मिक ध्येय का एक अंश है और इसका सम्बन्ध इस प्रकार राष्ट्रीय एवं अन्तर्राष्ट्रीय स्वरूप की राजनीति से है। बहुत बड़ी राजकीय योजना और बहुत बड़ी राज्य-शासन-शक्ति पीछे होने पर ही तीन बार शान्ति का कुछ मूल्य हो सकता है। अन्यथा केवल खोखले शब्दों के उच्चारण से क्या लाभ?

आध्यात्म का राष्ट्रीय जीवन से क्या सम्बन्ध है—यह बात इस विवरण से स्पष्ट हो जाती है। आज के अध्यात्म शास्त्र का अध्ययन करने वाले यह समझते हैं कि अन्तर्राष्ट्रीय, राष्ट्रीय एवं प्रान्तीय राजनीति से हमारा कोई सम्बन्ध नहीं है। यही नहीं, अपितु अपने घर के प्रबन्ध से भी हमें कोई सरोकार नहीं है। हम अकेले रहेंगे, किसी से सम्बन्ध न रखेंगे एवं आध्यात्मिक उन्नति प्राप्त करेंगे, आदि। किन्तु ये विचार अशुद्ध हैं।

संघशः अमृत-प्राप्ति

यजुर्वेद अ० ४० ईशोपनिषद् में स्पष्ट रूप से कहा है कि 'संभूत्या अमृतं अशुते' सम्भूति से ही अमृत की प्राप्ति होती है। 'सम्भूति' अर्थात् सं=एकरूप होकर, भूति=रहना। संघ बनाकर रहने से अमरत्व की प्राप्ति होती है। व्यक्ति तो मरेगा ही। व्यक्ति का अमर होना असम्भव है। समाज अमर है।

प्रजया अने अमृतत्वं अश्याम् । अ०

प्रजा द्वारा अमरत्व की प्राप्ति होती है। अखण्डित प्रजासात्त्व से अमरत्व होता है। इसी प्रकार शिष्य परम्परा से अमरत्व प्राप्त हुआ करता है। संघ में रहने से, प्रजासात्त्व से, शिष्य-परम्परा से अमरत्व प्राप्त होता है। यह बात अच्छी प्रकार से सिद्ध की जा सकती है।

एक मनुष्य के दस पुत्र पौदा हुए। इस प्रकार प्रत्येक पीढ़ी में होता गया तो तीसवीं पीढ़ी के बाद धरती पर रहने के लिए उनके बंशजों को स्थान ही न रहेगा। किन्तु यह केवल संख्या की बात ही नहीं। 'न अस्य कुले अब्रहामित् भवति' ऐसा माण्डूक्योपनिषद् में कहा गया है। जो ओंकार की उपासना करता है उसके कुल में ब्रह्मज्ञानहीन पुरुष उत्पन्न नहीं होते। सन्तति हो और वह ज्ञान-सम्पन्न हो, यह कितनी बड़ी महत्वाकांक्षा है। 'हम ज्ञान-विज्ञान सम्पन्न अविच्छिन्न सन्तति-परम्परा से अमर होंगे'। यह महत्वाकांक्षा वैदिक ऋषियों की थी और ऐसी महत्वाकांक्षा किसी के भी लिए भूषणावह ही होगी। दो-चार पीढ़ियों तक निरन्तर विद्वान् उत्पन्न होते रहें तो उस कुल का कितना गौरव होता है। यहाँ तो इस प्रकार की सन्तान-परम्परा से आनन्द्य की प्राप्ति करनी है। शिष्य परम्परा से भी इस प्रकार आनन्द्य हो सकता है। वसिष्ठ-विश्वामित्रादि गोत्र पुत्र-परम्परा और शिष्य-परम्परा दोनों से आनन्द्य प्राप्त करने वाले कुल थे।

व्यक्ति विश्व का सम्बन्ध तोड़कर मुक्त होता है, इस प्रकार की जो मुक्ति की कल्पना सर्वत्र की जाती है वह इन प्राचीन ऋषियों के मन में नहीं थी। अपने संघ की वृद्धि करके, पुत्र-परम्परा एवं शिष्य-परम्परा अविच्छिन्न रूपेण सुरक्षित रखकर आनन्द्य प्राप्त करना ही ऋषि जीवन का आदर्श था। मैंने यह ज्ञान ढूँढ़कर निकाला है और इसे मैं इन तीनों परम्पराओं द्वारा स्थायी बनाऊंगा, ऐसा भाव यहाँ है। सारे विश्व का त्याग करके केवल मैं ही मुक्ति का अमृतपान करता रहूँगा, ऐसा भाव यहाँ नहीं है। सम्भूति, समुदाय, समाज, राष्ट्र, मानव समिष्टि इस प्रकार यह सम्बन्ध उत्तरोत्तर वृद्धिगत होता जाएगा। इसके द्वारा एक होकर हमें समुदाय का हित साधन करना है। यह संगठन बढ़कर समुद्र तक व्यापक समस्त पृथ्वी के मानवों तक पहुँचाना है। यह विश्व एक कुटुम्ब या एक शारीर है, ऐसा अनुभव हमें प्राप्त करना है।

कारणशरीर एक

स्थूल, सूक्ष्म और कारण—इस प्रकार मनुष्य के तीन शरीर हुआ करते हैं। कोई-कोई एक चीया महाकरण शरीर भी मानते हैं। प्रत्येक का स्थूल एवं सूक्ष्म शरीर भिन्न-भिन्न हुआ करता है। किन्तु कारण शरीर समस्त मानव-जाति का एक ही होता है। वैयक्तिक भाव केवल स्थूल एवं सूक्ष्म शरीर के विषय में ही सीमित रहता है। कारण शरीर में जाकर पृथक्-पृथक् वैयक्तिक भाव रहता ही नहीं है, क्योंकि वह कारणशरीर सबका मिलकर एक है। मुक्ति में अवस्थित अमृत यहीं पर संचित रहता है। इसीलिए इस प्रकार की सम्भूति द्वारा अमृतत्व की प्राप्ति होती है। अविच्छिन्न ज्ञान की परम्परा अमरत्व की प्राप्ति है, ऐसा कहा गया है।

जागृत अवस्था के मन में व्यक्तिकृत भाव का पार्थक्य है। एक बार जागृति वाला मन स्थिर हो जाने पर भूमा अवस्था प्राप्त होती है। यह कारणशरीर की भूमा अवस्था, संभूति की अवस्था है। यहाँ सर्वांतम् भाव का अनुभव होता है। यही अमृतत्व है। यही विश्वरूप है। यहीं पर सर्वांतमता अवस्थित है।

जनता=पुरुष

पृथ्वी पर की समस्त जनता को मिलाकर एक शरीर बनता है। यहाँ मत, पंथ, वंश, देश आदि का भेद नहीं है। समस्त मानव-जाति कारणशरीर से एक ही है। वह एकता अविभवत एवं अविच्छिन्न है, ऐसा मानकर ही मनुष्यों के समस्त व्यवहार होने चाहिए। इसी का नाम 'समुद्र तक समस्त पृथ्वी पर एक राजा हो और समस्त मानव-जाति का एक राज्य हो' यह है। इस अखिल मानव जाति को वेद ने 'पुरुष' कहा है। समस्त मानवी जनता मिलकर 'एक पुरुष' है। इसी बात को प्रथम समझना चाहिए। देखिए—

सहस्रीरा पुरुषः सहस्राक्षः सहस्रपात् । स भूमि विश्वतो वृत्वाऽत्यतिष्ठत् दशाङ् गुलम् ॥

त्राण्योऽस्य मूलमासीत् बाहु राज्यः कृतः । ऊरु तदस्य यद्वैश्यः पद्म्यां शूद्रो अजायत ॥

(ऋग् १०।६०)

सहस्र-बाहुः पुरुषः ॥ (अथर्वा ११।६)

हजारों मस्तक, हजारों बाहु, हजारों नेत्र, हजारों उदर, हजारों जांघें और हजारों पैरों वाला एक पुरुष इस पृथ्वी पर चारों ओर फैला हुआ है। जानी मनुष्य इसके मुख हैं, शूरवीर बाहु हैं, किसान और व्यापारी इसके उदर तथा जांघें हैं, कारीगर इसके पैर हैं। इस प्रकार का यह ज्ञानी, शूर, व्यापारी और शिल्पी मिलकर एक देह है। एक देह में जिस प्रकार एकात्मा होनी चाहिए वैसी एकात्मा इस जनता रूपी पुरुष में होनी चाहिए।

कुटुम्ब में अनेक मनुष्य भिन्न-भिन्न होने पर भी कुटुम्ब रूप से उनमें जिस प्रकार एकात्मता रहती है (क्योंकि इस प्रकार की एकात्मता होने पर ही उस कुटुम्ब का यश एवं सामर्थ्य बढ़ सकता है) उसी प्रकार गांव में, प्रान्त में, राष्ट्र में और पृथ्वी पर एकात्मता होवे तो समुद्रपर्यंत पृथ्वी पर एक आर्य राजा होगा एवं सर्वत्र एक राज्य व्यवस्था हो सकेगी। 'वसुधैव कुटुम्बकम्' की वृत्ति यहीं है। सम्पूर्ण पृथ्वी की समस्त जनता एक कुटुम्ब के समान एकात्मता से एकरूप होनी चाहिए।

अध्यात्म के आधार पर राष्ट्रीय जीवन का इस प्रकार का यह सुन्दर पाया है। इसी पर राष्ट्रीय जीवन की रचना होनी है। यहां यह बात और भी स्पष्ट हो जाती है कि विश्वात्मा, सूत्रात्मा या सर्वात्मा एक है, सबका कारणशरीर एक है। इस अध्यात्म के सिद्धान्त पर ही ये विचार आधारित हैं। वैयक्ति के पृथक् मुक्ति को यहां कोई विशेष स्थान नहीं है। वैयक्ति को अपनी पूर्ण उन्नति अवश्यमेव करनी चाहिए। कारणशरीर में जागृत होने तक इसकी पारसीमा है। इसका उदाहरण हम भगवान् श्रीकृष्ण एवं अर्जुन के रूप में दे सकते हैं।

भगवान् श्रीकृष्ण स्वयं को विश्व रूप में अनुभव करते थे। उनका यह अनुभव उनके कारण-शरीर में जागृत होने की अवस्था का था। श्रीकृष्ण के लिए वैयक्तिक अथवा अन्य छोटे-मोटे भेद प्रतिबन्ध स्वरूप नहीं हो पाते थे। इस कारण उनके सार्वजनिक हित के कार्य अव्याहत रूप से जारी थे।

इनके साथ अर्जुन था। उसकी जागृति केवल उसके शरीर तक ही सीमित थी। उसे इस बात का सुख-दुःख अनुभव होता था कि 'मेरे सभे सम्बन्धी मर जाएंगे अथवा जीवित रहेंगे।' भगवान् श्रीकृष्ण इस सुख-दुःख से मुक्त थे क्योंकि उनकी जागृति कारण शरीर पर अर्थात् वैश्वानर की स्थिति की थी। मनुष्य को इस स्थिति तक पहुंचना है।

वैश्वानर स्थिति

अहं वैश्वानरो भूत्वा प्राणिनां देहमाश्रितः। प्राणापानसमायुक्तः पचास्यन्तं चतुर्विधम् ॥

(गीता अ० १५)

"मैं वैश्वानर होकर प्राणियों की देह में रहता हूं और प्राण तथा अपान से युक्त होकर मैं चतुर्विध अन्न शरीर में पचाया करता हूं।" शरीर में अन्न पचाना वैयक्तिक कार्य है तथा प्राणियों के देह में रहने वाला, सदैव कारणशरीर पर जाग्रत रहने वाला विश्वव्यापक आत्मा वैश्वानर है। इस वैश्वानर अवस्था का अनुभव श्रीकृष्ण किया करते थे और उसी काल में उनके सहवास में रहने वाला अर्जुन वैयक्तिक अवस्था में जाग्रत था। ये दोनों कौरवों के दुष्ट साम्राज्य को तोड़कर उसके स्थान पर धर्म से साम्राज्य की स्थापना का राष्ट्रीय आन्दोलन एक मन से कर रहे थे। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि कारणशरीर की उच्च भूमिका पर पहुंचा हुआ पुरुष भी राजनीति के दांवपेच खेल सकता है। अर्जुन केवल स्थूल शरीर पर जाग्रत होने के कारण बार-बार भोहित हो जाता था और इसी कारण वह अपने कर्तव्य से भी च्युत हो जाता था।

ज्ञानी, शूर, व्यापारी और शिल्पी ये सब मानव समष्टि रूप एक पुरुष के मस्तक, बाहू, उदर और पैर हैं। इन एक-एक अवयवों के अत्तर्गत और भी बहुत से उपविभाग हैं। किन्तु मुख्य मुद्दा तो यह है कि सम्पूर्ण मानव समष्टि एक देह है। एक देह के समान इसमें एकात्मा अपेक्षित है।

अध्यात्म ज्ञान द्वारा वैश्वानर, सूत्रात्मा, सर्वात्मा, विश्वात्मा इत्यादि नामों से यही सबकी एकात्मता की कल्पना प्रतिपादित की गई है। इस कल्पना का प्रतिपादन वेद और उपनिषदों द्वारा होने पर भी मानव-जाति ने अभी तक उसे स्वीकार नहीं किया है। अभी तक मानव जाति वंश-भेद, धर्म-भेद, पंथ-भेद, देश-भेद, प्रांत-भेद आदि के चक्कर में ही पड़ी हुई है। अभी तक इस मानव-समाज में 'वसुधैव कुटुम्बकम्' की वृत्ति उत्पन्न नहीं हुई है। आर्य कृषियों में यह वृत्ति खूब

विकसित हुई थी; किन्तु वह वृत्ति आज उनके वंशजों में नहीं रह गयी है। किन्तु भारतीय तत्त्वज्ञान के ग्रन्थों में वह है और वे ग्रन्थ ओज हमारे पास हैं, यह सौभाग्य की बात है।

मानव-सूष्टि की एकात्मता आयों की अध्यात्मिक राष्ट्रीयता का आधार है। यह एकात्मता हमारे अन्दर एकरस हो जाने के पश्चात् केवल राष्ट्रीयता के नाम पर वेर नहीं बढ़ेगे। यह वैश्वानरीय एकात्मता हममें न होने के कारण और इस प्रकार की अज्ञान-स्थिति में भौतिक विज्ञान अत्यधिक बढ़ जाने के कारण यूरोपियन राष्ट्र आपस में व्यर्थ ही संघर्ष करते रहते हैं और इस प्रकार अपना गला अपने आप ही काट लेते हैं। किन्तु ऐसा करने का कोई कारण नहीं है। जिस प्रकार एक कुटुम्ब में अनेक मनुष्य स्वतन्त्र रूप से रहने पर भी कुटुम्ब भावना से एकत्र हो सकते हैं, इसी प्रकार विश्वरूपी वैश्वानर पुरुष एक ही है, यह जानकर प्रत्येक राष्ट्र एक कुटुम्ब के अवयव के समान अपने को माने और सेवा भाव से एक दूसरे की उन्नति के लिए पूरक हो। किन्तु इसके लिए विश्वात्मा एक है, समस्त पृथ्वी के मनुष्य मिलकर एक पुरुष है, यह अध्यात्म का ज्ञान उन्हें समझाना आवश्यक है।

ईश्वर और राजा

ईश्वर विश्व का राजा है और हमारा राजा एक राष्ट्र का राजा है। राज्य छोटा हो या बड़ा हो, उसकी व्यवस्था एवं अनुशासान सर्वत्र समान ही रहनी आवश्यक है। अपियों ने जो ईश्वर की स्तुति की है और उसमें जो उसका वर्णन किया है वह विश्व के श्रेष्ठ एवं निर्दोष राज्य शासक का वर्णन है। ईश्वर शुद्ध, पवित्र, निर्दोष, समर्थ, दक्ष एवं प्रमादरहित शासक है। इस प्रकार के जिन गुणों का वर्णन किया गया है वे सब राष्ट्र के शासक के लिए आदर्श स्वरूप होंगे, इसीलिए किया गया है। ईश्वर के सब गुण इस प्रकार से आदर्श राजा के गुण हो सकते हैं। इस एक सूत्र को यदि हम ध्यान में रखें तो अध्यात्म शास्त्र के सिद्धान्त राज्यव्यवस्था में किस प्रकार उपयोगी होते हैं, यह सहज ही समझ में आ जाएगा। ईश्वर के ज्ञानी, निर्दोष, दक्ष, समर्थ आदि जो गुण हैं वे राजा में भी होंगे, यह बात किसे स्वीकार न होगी? हम यद्यों एक दो गुणों का सोदावरण विचार करेंगे।

अकर्ता ईश्वर एवं कर्त्री प्रकृति

ईश्वर अकर्ता है और जो कुछ करना होता है वह सब प्रकृति किया करती है। यह अध्यात्म का एक बड़ा सिद्धान्त है।

कार्यकारणकर्त्त्वे हेतुः प्रकृतिरुच्यते ॥२०॥

प्रकृत्यैव च कर्माणि क्रियमाणानि सर्वशः । यः पश्यति तथात्मानमकर्तारं स पश्यति ॥२६॥

(गीता अ० १३)

“प्रकृति ही सब कर्म किया करती है और आत्मा अकर्ता है, इस प्रकार जो जानता है वही सचमुच सत्य जानता है।” प्रकृति समस्त सूष्टि के व्यवहार किया करती है और आत्मा अथवा ईश्वर उस प्रकृति के खेल देखा करता है, स्वयं कुछ नहीं करता। अध्यात्म का यह सिद्धान्त सबको विदित है। ईश्वर अथवा आत्मा के स्थान पर हम ‘राजा’ को रखें और प्रकृति का अर्थ ‘प्रजा’ है, यह तो प्रसिद्ध ही है। यदि उसके प्रमाण अपेक्षित हों तो देखिए—

प्रवर्ततां प्रकृतिहिताय पार्थिवः । शाकुन्तल ७।३५

नृपतिः प्रकृतिरवेक्षितुं । रघु० द।१८-१९

स्वामी-अमात्य-मुहूर्त-कोष-राष्ट्र-दुर्ग-बलानि च । राज्यांगानि प्रकृतयः पौराणां श्रेण्योऽपि च ॥

(अमरकोश २।८।१७)

(प्रकृतिहित) राजा प्रजा का हित करे । प्रजा की देख-रेख के लिए राजा होता है । (१) अधिकारी, (२) मन्त्री, (३) मित्र, (४) कोश, (५) देश-राष्ट्र, (६) किले, (७) सेना ये राज्य के सात अंग हैं और इसे प्रकृति कहते हैं । नागरिकों के समुदाय को भी प्रकृति कहा जाता है । (पौरश्रेणी) नागरिकों का यह भी एक आठवां अंग है, ऐसा किन्हीं विद्वानों का कथन है । 'प्रकृति' का अर्थ प्रजाजनों का संघ । प्रकृति सब कार्य करे, इसका अर्थ तो यह होता है कि प्रजाजनों की समितियां और उनके संघ राष्ट्र शासन के सब कार्य करे । राजा प्रकृति के कार्य में हस्तक्षेप न करे । प्रकृति को—प्रजा को—अपनी उन्नति के लिए जो कुछ करना आवश्यक हो वह सब करने के लिए उसे पूर्ण स्वतन्त्रता होनी चाहिए ।

प्रजा ज्ञान-विज्ञान से इतनी अधिक सम्पन्न होनी चाहिए कि वह अपना समस्त कार्य-व्यवहार स्वयं कर सके और राजा को करने के लिए कुछ शेष न रहे । 'आत्मा अकर्ता एवं प्रकृति सब कुछ करने वाली' अध्यात्म के इस सिद्धान्त का ही क्या यह राजकीय रूपान्तर नहीं है? इसमें अर्थ या विषय की कोई खींचातानी भी नहीं है अथवा कोई विशेष कल्पना भी नहीं करनी पड़ी है । ईश्वर के विश्वराज्य के सिद्धान्तों को हमने पृथ्वी के राजा के लिए प्रयुक्त किया है । इसी प्रकार अन्य सिद्धान्त लगाकर देखने चाहिए । और देखिए—

विशि राजा प्रतिष्ठितः । धर्मोऽस्मि । वा० य० २०।६

विशो मे अंगानि सर्वतः ॥ वा० य० २०।८

"प्रजा का आधार राजा है । राजा कहे कि मैं धर्म हूं, और मेरा समस्त शरीर प्रजा का बना हुआ है ।" इस प्रकार राजा माने । राजा और प्रजा की एकात्मता का यहां उत्तम प्रकार से वर्णन किया गया है । यहां राजा प्रजा का संघर्ष नहीं है, अपितु उनका ऐकात्म्य है ।

राज्य शासक का शरीर प्रजाजनों का शरीर है और प्रजा राज्य शासक का शरीर है । इतनी यहां पर एकात्मता है ।

हमने पहले दिखाया है कि समस्त जनता मिलकर एक पुरुष है, एक शरीर है । इस शरीर में एक राष्ट्र भी है और वह उस अखिल मानव संघ रूपी शरीर का एक अवयव बनकर रहेगा । वहां पर वैर-भाव उत्पन्न न होने के लिए 'समस्त मानव समाज एक शरीर है' यह कल्पना राष्ट्र-शासन के मूल में रखी है । यह एक शरीर है; अतएव समुद्रपर्यन्त पृथ्वी का एक आर्य राजा हो और उसका राज्य शासन एक हो, ऐसा कहा गया है । एक शरीर में एक ही शासन हो, इसमें विशेष स्पष्टीकरण की आवश्यकता नहीं है । प्रत्येक राष्ट्र को 'मैं समस्त मानव संघ का एक भाग हूं, एक अवयव तथा एक अंग हूं,' ऐसा मानकर व्यवहार करना चाहिए । इससे विश्व सेवा के भाव प्रत्येक में उत्पन्न होंगे और द्वेषभाव जड़-मूल से नष्ट हो जाएंगे ।

अपने शरीर को ही लीजिए । प्रत्येक अवयव अन्य अवयवों की सेवा करने के लिए ही है । प्रत्येक अवयव को चाहिए कि वह समर्थ बने और अन्य अवयवों की सेवा करे । तभी सम्पूर्ण

शरीर सुखी हो सकता है। इसी प्रकार समस्त राष्ट्रों को चाहिए कि वे मिलकर अपने को अखिल मानव जातिरूपी 'शरीर के अवयव मानें' और अपने सामर्थ्य एवं वैशिष्ट्य की वृद्धि करके, समस्त जनता की सेवा द्वारा सुख का बातावरण निर्माण करें। इसी प्रकार समस्त मानव-जाति का कल्याण होगा।

सर्वव्यापक ईश्वर

एक और सिद्धान्त का अब विचार करेंगे। 'ईश्वर सर्वव्यापक है' यह बात अध्यात्म द्वारा निश्चित की गई है और यह सर्वविदित है।

ईशा वास्त्वमिदं सर्वं । वा० य० ४०।१ ई० १

"ईश्वर इस सबमें व्यापक है" ऐसा इस मन्त्र का कहना है। जो ईश्वर समस्त विश्व में है वह स्वयं के सामर्थ्य से ही वहां व्याप्त है। किसी दूसरे की दया से वहां नहीं है। उससे अधिक सामर्थ्यवान् कोई अन्य नहीं है जो उसे वहां से हटा सके।

प्रजापते न त्वदेतान्यन्यो विश्वा जातानि परि ता बभूव । ऋ० १०।१२।१।१०

"हे प्रजापते! यहां पर तुमसे अधिक सामर्थ्यवान् दूसरा और कोई नहीं है, जो तुम्हारा पराभव कर सके।" इसका तात्पर्य यह है कि जिसके शरीर में शक्ति होती है वही इस राष्ट्र में रह सकता है। यदि कोई दूसरा वहां पर उससे बढ़-चढ़कर होगा तो वह उसे हटा देगा।

इस अर्थ को अपने राष्ट्र में घटाइये। आज हम स्वतन्त्र हैं। यदि इस स्वतंत्रता को स्थायी रखना हो तो हमें सामर्थ्यवान् बनना चाहिए, हमसे अधिक दूसरा कोई भी अधिक सामर्थ्यशाली न हो, ऐसा प्रयत्न करना चाहिए। हमारा सामर्थ्य अपने शत्रु की अपेक्षा अधिक प्रभावशाली होना चाहिए तभी हमारा स्वराज्य टिक सकेगा। यदि हमारी लापरवाही से शत्रु की शक्ति अधिक प्रभावी हो गई तो हमारा टिकाव भी कठिन हो जाएगा।

ऊपर बताया गया है कि ईश्वर सर्वत्र व्यापक है। ऐसा स्थान कहीं भी नहीं है जहां पर उसकी शक्ति न हो। राष्ट्र भर में यह शासक-शक्ति सर्वत्र समान रूपेण प्रभावशाली होनी चाहिए। केवल केन्द्र में प्रभावशाली हो और अन्यत्र न हो, ऐसा न होना चाहिए। ईश्वर सर्वत्र पहुंचा है और सर्वत्र प्रभावशाली है। हमारे राज्य शासक का शासन यदि सभी स्थानों पर उत्तम रूपेण प्रभावी होगा तो वह स्थिर रह सकता है। जहां संरक्षण कर होगा वहां शत्रु आक्रमण कर देगा और अपना आधिपत्य जमा लेगा।

ईश्वर के उपर्युक्त गुणों का ही यदि केवलमात्र विचार किया जाए तो यह भली-भांति विदित हो जाएगा कि हमारा राज्य शासन किस प्रकार का होना चाहिए। ईश्वर के गुणों को ही हमें अपने राज्य शासन में अन्तर्हित कर लेना चाहिए। उनका समावेश हम अपने में करें, इसीलिए ऋषि-मुनियों ने ईश्वर के गुणों का वर्णन किया है। इस प्रकार सम्पूर्ण राज्य शासन के विषय में पूरा विवरण बताया जा सकता है।

हम उदाहरणार्थ ईश्वर के दो गुणों का वर्णन और कर लेते हैं और यह दिखाने का यत्न करते हैं कि वे गुण राज्यशासन में किस प्रकार समाविष्ट हो सकते हैं—

तत् द्वारे तद उ अग्निके । तत् अग्नतर् अस्य सर्वस्य । तत् उ सर्वस्यास्य बाह्यतः । तत्

धावतः अन्यान् अत्येति । वा० य० ४० । ईश० ३०

‘वह दूर है और समीप भी है, वह सबके अन्दर है और बाहर है, वह दूसरे दौड़ने वालों के आगे जाता है।’ यह ब्रह्म का वर्णन है। ब्रह्म, आत्मा और ईश ये नाम उस मूल महाशक्ति के ही वाचक हैं। यही विश्व का शासक है और उसी का इस विश्व में शासन चल रहा है। वह शासन जिस प्रकार समीप उसी प्रकार दूर, जिस प्रकार केन्द्र में उसी प्रकार सीमा प्राप्ति में है। वह जैसा अन्दर, वैसा ही बाहर है और जो शत्रु दौड़ते हैं उनसे भी आगे वह वेग से दौड़ता है। यह अन्तिम गुण अत्यन्त महत्व का है। मान लीजिए कि चोर चोरी करके भागने लगे तो राष्ट्र-रक्षकों का वेग उसे पकड़ने के लिए उनसे भी अधिक होना चाहिए, तभी वे उस चोर को पकड़ सकेंगे। शासकों की शक्ति अन्य लोगों की अपेक्षा अधिक होनी चाहिए तभी वे शासन कर सकेंगे। यदि गुणों की शक्ति बढ़ गई तो वहाँ गुणों का राज्य हो जावेगा।

“ईशावास्यमिदं सर्वं” शक्तिमानों का शासक यहाँ पर रहा करता है, यह नियम है। ईश से अधिक और किसी की भी शक्ति नहीं है; अतएव सब पर ईश का शासन चलता है।

नगर, ग्राम आदि

“अष्टाचक्रा नवद्वारा देवानां पूरयोध्या”—मन्त्र में ‘देवानां पूः’ अर्थात् ‘देवों की नगरी’ ऐसा कहा गया है। समस्त सुख साधन एवं समस्त संरक्षक साधनों से जो परिपूर्ण होती है वह ‘पूरी’ कहलाती है। जहाँ केवल नागरिक रहते हैं, उसे नगरी कहा जाता है। जहाँ पवित्र स्थान होते हैं, तीर्थ क्षेत्र कहा जाता है। जहाँ लोग संघशः रहते हैं, उसे ग्राम कहते हैं। इस प्रकार से भिन्न-भिन्न गांवों के भिन्न-भिन्न नाम हैं। इससे यह सिद्ध होता कि वैदिककाल में ग्राम-नगर-पत्तन-पूरी-क्षेत्र आदि की कल्पना विलुप्त निश्चित हो गई थी।

ग्राम की स्थापना होते ही ग्रामाधिकारी नियुक्त किया जाता है। इस सम्बन्ध से भी अध्यात्म का प्रतिपादन करते समय प्राण अन्य प्राणों एवं उपप्राणों को शरीर में भिन्न-भिन्न स्थानों पर निवास करने के लिए कहता है तथा प्रत्येक ग्राम पर एक-एक अधिकारी की नियुक्त करता है। उसका वर्णन इस प्रकार है—

यथा सम्भ्राट् एव अधिकृतान् विनियुड्यते । एतान् ग्रामान् एतान् ग्रामान् अधितिष्ठस्व इति ।

एवमेव एव प्राणः इतरान् प्राणान् पृथक्पृथगेव संनिधत्ते ॥ प्रश्न उ० ३।४

जिस प्रकार सम्भ्राट् अपने साम्राज्य में ‘तू इतने गावों की देख-रेख कर !’ ‘तुझे इस जिले पर नियुक्त किया है’ ऐसा कहकर विभिन्न नियुक्तियाँ करता है, इस प्रकार मुख्य प्राण अन्य प्राणों को इस शरीर के भिन्न-भिन्न भागों में नियुक्त करता है और उनके द्वारा काम करा लिया करता है। यहाँ प्राणों के कार्यों का वर्णन करने के लिए प्रान्ताधिकारियों की उपमा दी गई है।

इन्द्रियों तो विषयभोग की प्राप्ति होने पर ही कार्य करती हैं। विषय भोगों की लालसा से कार्य करना गौण है। प्राण का कार्य मुख्य है; वर्षोंकि वह बिना कोई उपभोग लिए जन्म से लेकर मृत्यु तक निरन्तर कार्य किया करता है। प्राण के उदाहरण से यह सिद्ध होता है कि वही कार्य मुख्य है जो बिना किसी लालसा के बराबर होता रहे। अधिकारी प्रलोभन में फँसने वाले न होने चाहिए। सुख हो या न हो, अपना कार्य उत्तम रीति से करने वाले अधिकारी हों। प्राण एवं

अधिकारियों से साधम्य से यह बोध हमें प्राप्त होता है।

समस्त प्रजाजनों का संघ एक प्रकार से शासक है पर समस्त प्रजा एक साथ कोई राज्य-शासन नहीं चला सकती। यह कार्य तो उसके प्रतिनिधियों द्वारा ही सम्भव है। इन प्रतिनिधियों का चुनाव किस प्रकार हो? वह वेद मन्त्रों में इस प्रकार वर्णित है—

विराट् वा इबमप्र ग्रासीत् । सा उदकामत् सा समितौ न्यकामत् । सा उदकामत् सा
ग्रामन्त्रणे न्यकामत् । अथर्व० दा।१०

वि-राट् अर्थात् राजा के न होने की स्थिति। जब राजा की कल्पना ही न थी उस समय की यह अवस्था है। तब केवल प्रजामात्र थी और उसका शासक कोई भी नहीं था। यह प्रजाशक्ति उन्नत एवं केन्द्रित हुई और उसमें से ग्रामसभा उत्पन्न हुई। ग्रामसभा द्वारा वह प्रजा की शक्ति कार्य करने लगी। इसके बाद इस शक्ति को और भी उत्कर्षित हुई और वह राजसमिति के रूप में परिणत हुई। अर्थात् ग्रामस्थ मण्डल के प्रतिनिधि ग्रामसभा में आए और उसके द्वारा ग्राम-शासन होने लगा। ग्रामसभाओं के प्रतिनिधियों की राष्ट्रसमिति बनी और उसके द्वारा राष्ट्र का शासन चलने लगा। इसके पश्चात् इस राष्ट्र समिति के प्रतिनिधियों का एक मन्त्रिमण्डल बना। इसी को उपर्युक्त मन्त्र में 'आमन्त्रण' कहा गया है। यह मन्त्रिमण्डल राष्ट्र का शासन करने लगा। इस आमन्त्रण मण्डल का अध्यक्ष 'प्रजापति' हुआ। इस प्रकार 'प्रजापति-संस्था' द्वारा राष्ट्र का शासन चलने लगा।

प्रजापति राष्ट्र का अध्यक्ष बना और उसकी आज्ञा से चलने वाली ग्रामसभा एवं राष्ट्र-समिति ये दो शासक संस्थाएं बनीं। प्रजापति की आज्ञा से उत्पन्न होने के कारण उन्हें प्रजापति की पुत्रियां कहा जाता था। तथापि इन दोनों सभाओं के सदस्य प्रजापति के रक्षक माने जाते थे, ऐसा भी वर्णन किया गया है—

सभा च मा समितिश्चावतां प्रजापतेर्दुःहितरौ संविदाने । यना संगच्छा उप मास शिक्षात्
चारु वद्वनि पितरः संगतेषु । अथर्व० दा।१२।१

"सभा और समिति प्रजापति की दो पुत्रियाँ हैं; किन्तु वे प्रजापति को सिखाने वाली एवं उसकी रक्षा करने वाली हैं।" राज्य शासन सम्बन्धी सत्यज्ञान इन सभाओं के द्वारा राजा को प्राप्त होता है। यही कारण है कि वे प्रजापति को सिखाती हैं तथा उसकी रक्षा करती हैं। क्योंकि जो राजा प्रजा का उत्तम प्रकार से पालन करता है वह प्रजापति के रूप में सम्मानित होता है। किन्तु जो शासक उत्तम रीति से प्रजा का पालन न करेगा वह प्रजापति पद से हटा दिया जावेगा। यह बात वेद मंत्र ही कहता है। देखिए—

वास्तोष्पति व्रतपां निरतक्षन् । कृ० १०।६।१७

ठीक प्रकार से राज्य शासन न करने वाले पहले प्रजापति को निकाल दिया तथा दूसरे प्रजापति को लोक प्रतिनिधियों ने चुन लिया।

राज्य शासन बहुत व्यापक विषय है। उसमें आर्थिक, सामाजिक, शत्रुनिर्दलन, मित्र-संरक्षण आदि अनेक विषय हैं। उन सबका वर्णन इस छोटे से लेख में सम्भव नहीं है। पर इन सम्पूर्ण विषयों पर लिखा जा सकता है। मुख्य बात यह है कि समस्त मानव-जाति मिलकर एक शरीर है। यह एकात्मता ही अध्यात्मसूलक राज्य शासन की आत्मा है।

○ ○ ○



सातवलेकरजी द्वारा निर्मित एक रेखा चित्र



सातवेंकर्जी द्वारा निर्मित एक अन्य रेलो चित्र



राष्ट्रपति डा० राजेन्द्रप्रसाद
द्वारा
पण्डित जी का सम्मान
(दिल्ली : १९६०)



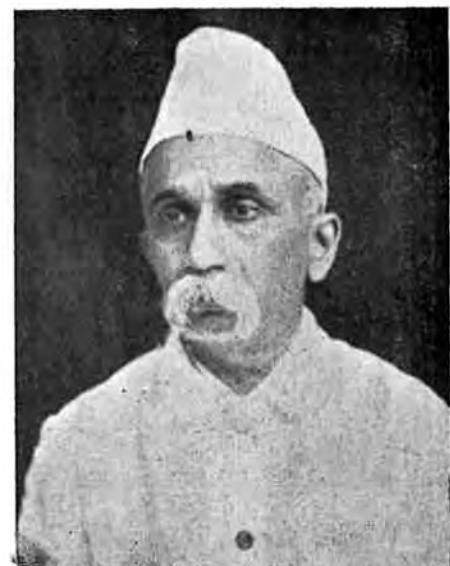
पंडित जी : १६१४



पंडित जी : १६१५



पंडित जी : १६३०



पंडित जी : १६३३



पेंडित जी की धर्मपत्नी
सौ० सरस्वती बाई : १६१३



सौ० सरस्वती बाई
च० वसन्त गोद में
(लाहौर : १६१५)



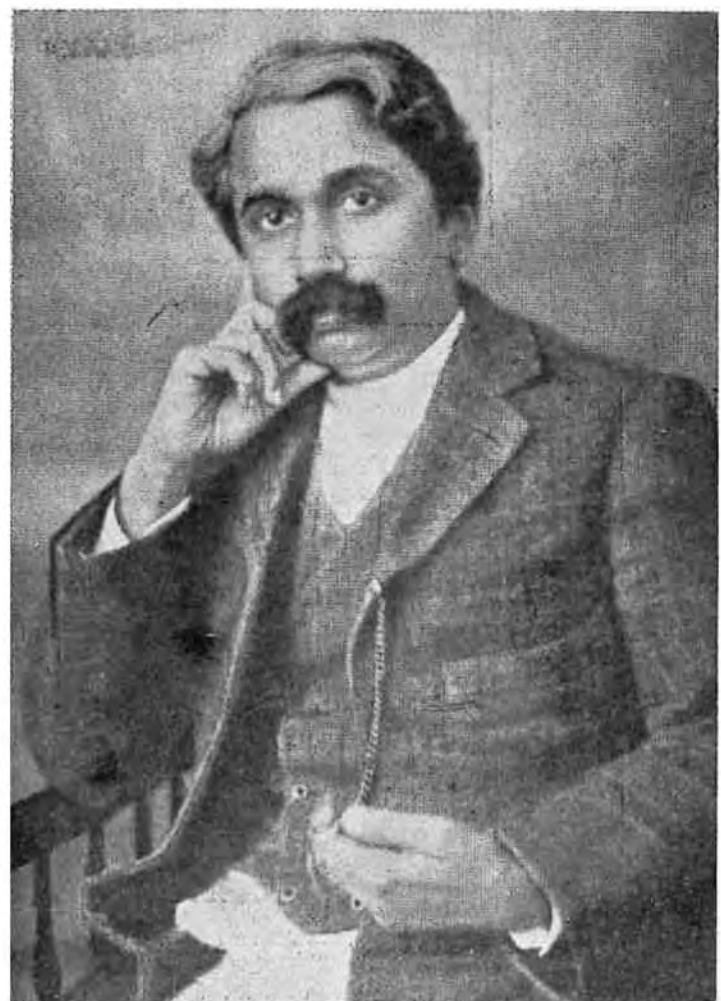
ਪੰਡਿਤਜੀ : ੧੬੧੩



ਪੰਡਿਤਜੀ : ੧੬੩੩



पारडी में
वेद मन्दिर का
उद्घाटन : १९५४



पंडितजी
लाहौर में : १९१५

पंडित जी
श्री माधव सदाशिव
गोलवलकर
(गुरुजी)
के साथ :
१९६६



बम्बई में संस्कृत सम्मेलन के अवसर पर पं० सातवलेकर पुरी के शंकराचार्य और द्वारका
के शंकराचार्य के साथ : १९५८

बम्बई में ६०वें जन्म दिवस के अवसर पर
सर सी० पी० रामास्वामी अय्यर
और कन्हैयालाल माणिकलाल
मुंशी के साथ :
१९५७



पुना विश्वविद्यालय में डी० लिट० उपाधि
वितरण के अवसर पर : १९६६

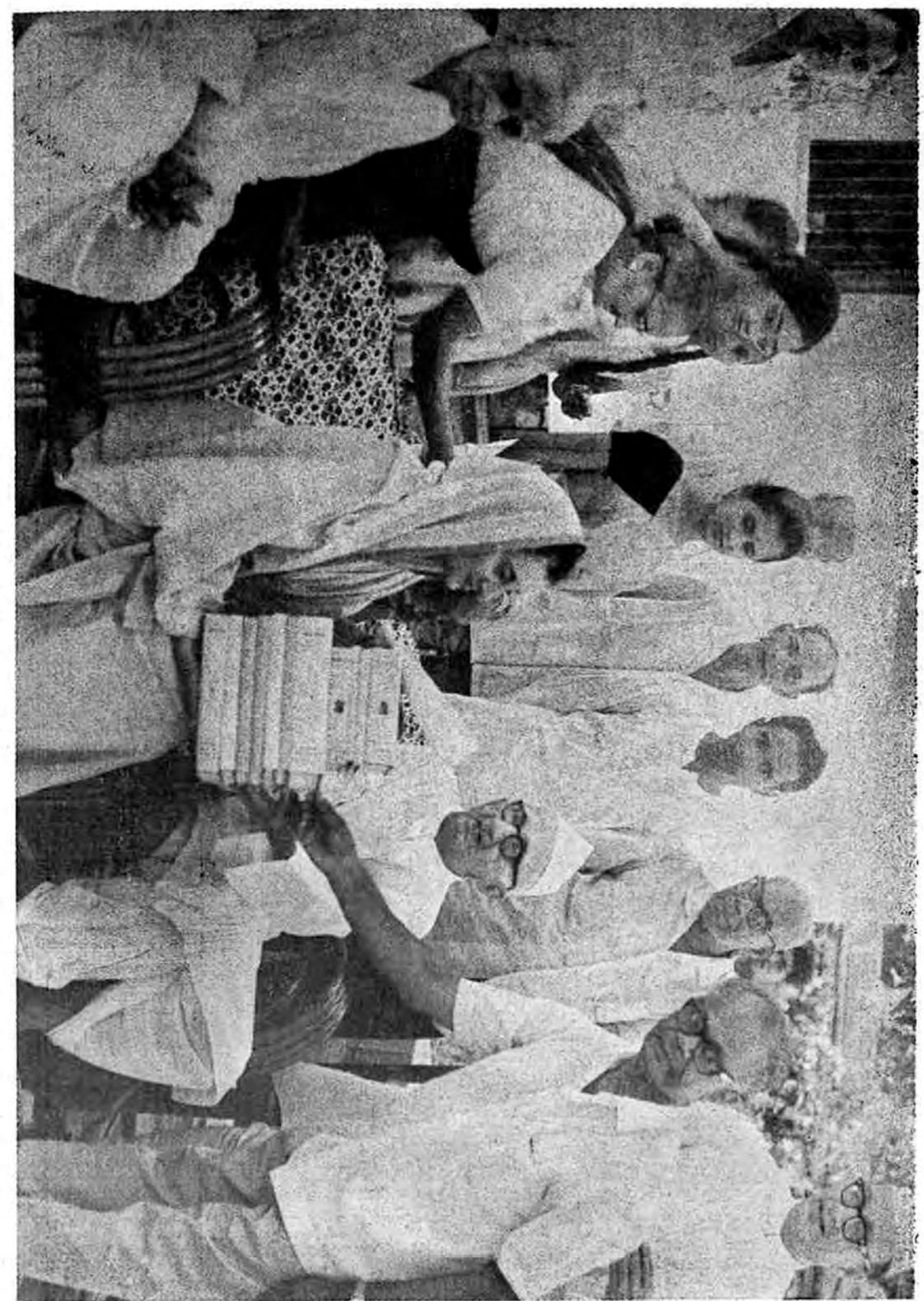




पंडित जी
व सौ० सरस्वती बाई :
१९६५

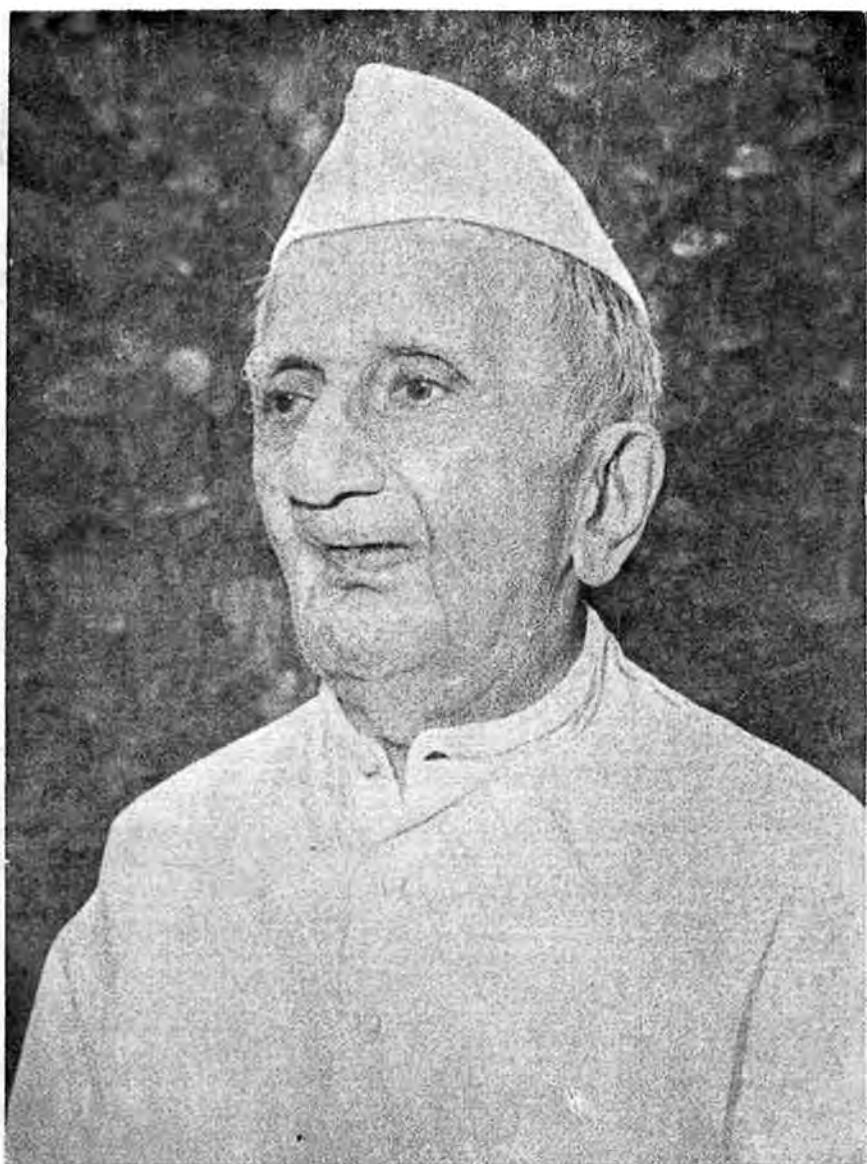


लेखन कार्यमण्डन पंडित जी :
१९६५



स्वाध्याय मंडल पारझी, में पथारने पर प्रधान मंत्री श्रीमती इन्दिरा गांधी को पुस्तकों का सेट भेट करते हुए : जनवरी, १९६८

भूयश्च शरदः शतात्



जीवन के १०१वें वर्ष में पंडित जी : मार्च, १९६८

स जीव शरदां शतं नुतमिति प्रमोदाजजनी
यमाह विद्वां वरं प्रथितवेदवाचस्पतिम् ।
तमप्रतिमधीषणं प्रणतवान्नितान्तादराद्
अयं हि जन ईहते दिनमिदं चिरावर्तकम् ॥

—श्री चिन्तामणराव देशमुख

खण्ड ---- ३
अभिशंसा

अहमिन्द्रो न पराजिय इद्धन
न मृत्यवेऽबत्तस्थे कवाचन ।
सोममिन्मा सुन्वन्तो याचता वसु
न मे पूरवः सख्ये रिषाथन ॥

ऋग्० १०।४८।५

मैं इन्द्रियों का राजा इन्द्र—अर्थात्
जीवात्मा हूँ । सब इन्द्रियां मेरी ही
शक्ति से काम करती हैं । मैं अपने
ऐश्वर्य के कारण न कभी पराजित
होता हूँ, न ही कभी मृत्यु को प्राप्त
होता हूँ । शान्ति और आनन्द प्राप्त
करने की शक्ति अपने मन के अन्दर
ही है, उसी सोमरस का पान करते
हुए अपने निवास-योग्य साधनों को
प्राप्त कीजिए । हे पुरवासियो, मुझ
आत्मा की मित्रता करने से (आत्म-
शक्ति पर विश्वास करने से) किसी
का नाश नहीं हो सकता ।

वेद-व्याख्या के मार्ग को फिर से प्रशस्त करने वाला महापुरुष (डा० सम्पूर्णानन्द, उपकुलपति काशी विद्यापीठ, बाराणसी)

सातवलेकर जी ने संस्कृत वाङ्मय के सम्बन्ध में जो सेवायें की हैं उनका यथार्थ मूल्यांकन

करना मेरी समझ में अभी पूर्णतया सम्भव नहीं है। हम लोग उनके न्यूनाधिक समसामयिक हैं और समसामयिक के लिए अपने को ऐसे विचारों से पूर्णतया मुक्त कर लेना सम्भव नहीं होता जो सामयिक विवादों और शास्त्राधों से समय-समय पर उपस्थित होते रहते हैं।

वैदिक देव-परिवार में जो नाम परिणित हैं, वह किन लोगों के हैं, किसी प्रकार के मनुष्यों के समान प्राणियों के, मनुष्यों से ऊंचे प्रकार के प्राणियों के, या दैवी शक्तियों तथा ऊर्जा के भेदों के—यह प्रश्न पहिले भी विवादास्पद था, आज भी है और आगे भी रहेगा। वेद सम्बन्धी ऐसे और भी कई प्रश्न हैं। वेद का कोई भी भाष्यकार या व्याख्याकार अपनी अभीष्ट व्याख्या के सम्बन्ध में यह नहीं कह सकता कि 'इदम् इत्थम् एव'। परन्तु अर्थ तो करना ही होगा और इसकी आज पहिले की अपेक्षा और अधिक आवश्यकता है। वेद स्वयं कहता है :—

यथेमां वाचं कल्याणां आवदानि जनेभ्यः ।

ब्रह्मराजन्यास्यां शूद्राय चार्याय च स्वाय चारणाय ॥

यह आदेश बहुत स्पष्ट और उदार है। परन्तु इतना कह कर इसके पात्रों का क्षेत्र और भी व्यापक कर दिया गया है। 'स्वाय च अरणाय च'—अब निश्चय ही यहां प्रश्न होता है कि अपने और पराये कौन है—पराये शब्द की किसी व्याख्या के द्वारा सीमा नहीं बांधी गयी है। 'जनेभ्यः'—मनुष्य मात्र को कौन-सी कल्याणमयी वाणी सुनायी जाय? जब तक सुनने वाले को ही स्वयं निश्चित रूप से कोई ऐसा तत्त्व न मिले जिसकी वह दूसरों के सामने रखने के योग्य समझता हो, तब तक वह क्या मुँह खोले? मेरे कहने का तात्पर्य यह है कि हमारे लिए अब यह परमावश्यक हो गया है कि वेद के अर्थ को समझने का पूरा प्रयत्न किया जाय।

परिस्थितियां बदल गईं

ऐसे प्रयत्न प्राचीन काल में भी किये गये। परन्तु उनसे तो काम नहीं चलता। जिन लोगों के लिए वह अर्थ किये गये थे, जिन लोगों की शंकाओं के समाधान का उद्देश्य लेकर टीकाकार उठा था, वे अब नहीं हैं। वे परिस्थितियां चली गयीं, वे शंकायें चली गईं, पात्र बदल गये, उनके अनुरूप उनसे बात करनी होगी।

एक या दो उदाहरणों से यह बात स्पष्ट हो जायगी। संहिता-भाग का बहुत बड़ा अंश कर्म-परक है। वह यज्ञों की मर्यादा के आधार पर लड़ा है। परन्तु आज यज्ञ कहां है? आस्था और श्रद्धा के साथ कहां और कितने यज्ञ कराये जाते हैं, कितने लोगों की यज्ञों के फलों के सम्बन्ध में

अवश्यम्भाविता की धारणा है ? इसी प्रकार हमारे दर्शन ग्रन्थों के आधार भी एक प्रकार से हिल गये हैं। उस समय के सिद्धान्त के सामने जो पूर्व-पक्ष स्थापित होता था उसके उठाने वाले मुख्यतया बौद्ध और जैन थे। कभी-कभी कुछ चार्वाक जैसे नास्तिक हुआ करते थे। आज के नास्तिक भी चार्वाक से बहुत दूर चले गये हैं। आज का शंका करने वाला आधुनिक विज्ञान में निष्णात है, उसने प्रत्यक्ष रूप से जगत् के वे रहस्य जाने और पहचाने हैं जो प्राचीन काल के बौद्ध और जैन को उपलब्ध नहीं थे। उसको वे सब समाधान जो पहिले के दर्शन के विद्यार्थी की आत्मा को तुष्टिदायक प्रतीत होते थे, असन्तोषजनक और थोथे लगते हैं। हमको यह बात सतत स्मरण रखनी चाहिए।

जब हमारे प्राचीन ग्रन्थ लिखे गये थे उस समय से अब जगत् बदल गया है। सत्य बदल गया, ऐसा मैं नहीं कह रहा हूँ। परन्तु सत्य को उस नये कलेवर में पहचानना होगा जिसको उसने अब धारण किया है। यदि सत्य का वह रूप, जिसका प्रतिपादन वेद में हुआ है, त्रिकाल के लिए यथार्थ है तो उसका प्रतिपादन इस प्रकार करना होगा कि आजकल के मनुष्य भी उसको सत्य मान कर ग्रहण कर सकें। इस कथन का निष्कर्ष यह है कि हमको वेद की समयानुकूल व्याख्या करने के लिए संलग्न होना होगा।

इसका तात्पर्य यह नहीं है कि हम अपने ढंग से टीका कर चलें। आज साइंस का युग है तो वेद के मन्त्रों में से ढूँढ़ कर साइंस के सिद्धान्त निकालें और फिर जब कुल साइंस उन सिद्धान्तों का परित्याग कर दे तो वेद का फिर नया अर्थ ढूँढ़ने चलें। वेद प्राचीन काल के व्यवसायों की निर्देशिका (डाइरेक्टरी) नहीं है। वह आर्यों की आध्यात्मिक उपलब्धियों का उत्कृष्टतम समुच्चय है। हमको उसके अर्थ को आजकल के पात्र की दुर्द्धि में उतारने का प्रयत्न करना है। जो अर्थ किया जाय उसमें संगति होना चाहिए। सायण ने 'धातुनामु अनेकार्थत्वम्' के सिद्धान्त को लेकर अनर्थ कर दिया है। एक ही शब्द कहीं एक और कहीं दूसरे अर्थ में प्रयुक्त प्रतीत होता है। शुद्ध नैष्ठक पद्धति से आध्यात्मिकता का लोप हो जाता है और वेद के पास जनता के ग्रहण करने के योग्य कोई उपदेश नहीं रह जाता। मरु आदि देवता किसी एक निश्चित अर्थ के बोधक हैं या नहीं, यह निश्चित करना कठिन हो जाता है।

मार्ग तो खोला

श्री सातवलेकर ने वेद-व्याख्या के मार्ग को फिर से प्रशस्त किया और अब भी इसी काम में लगे हुए हैं। उन्होंने जो अर्थ किये हैं, वे सब ज्यों के त्यों मान्य हैं, ऐसा नहीं कहा जा सकता। परन्तु जो मार्ग अवरुद्ध हो गया था वह खुला, यह बड़ी बात है। सामान्य जनता में तो एक ऐसी भावना-सी फैल गयी थी कि सायण ने जो कह दिया वह कह दिया, अब किसी को कुछ कहने-मुनने का अधिकार नहीं है। सायण पर शंका करना एक प्रकार से स्वयं वेद पर शंका करने के बराबर माना जाता था। यह धारणा दूटी है। नये लोगों में वेदार्थ का स्पष्टीकरण करने के लिए नयी-नयी शैलियां निकल रही हैं। उदाहरण के लिए उस पद्धति पर दृष्टिपात दिया जा सकता है जिसका प्रवर्त्तन श्री अरविन्द घोष ने किया है।

एक दुर्बोध मन्त्र

वेद की व्याख्या करने का जिसका विचार हो उसको समझ लेना चाहिए कि वह बड़े ही

कठिन काम का अनुष्ठान करने चला है। इस सम्बन्ध में उदाहरण के लिए मैं एक मन्त्र उद्धृत करता हूँ। यों तो इस प्रकार के मन्त्र वेद में भरे पड़े हैं। मैं इस मन्त्र-विशेष को बहुधा इसलिए उद्धृत कर देता हूँ क्योंकि यह उन मन्त्रों में से है जिनके पीछे कई वर्षों से पड़े रहने के बाद भी मैं आज तक कोई अर्थ नहीं निकाल सका। सम्भव है, मेरे इस लेख या ऐसे ही और लेखों को देखकर किसी की प्रतिभा में स्फुरण हो और मेरे लिए मार्ग-दर्शन हो जाय। मन्त्र यह है :

चत्वारि शृंगा त्रयो अस्य पादा द्वे शीर्षे सप्त हस्तासो अस्य ।

त्रिधा बद्धो वृषभो रोरवीति महो देवो मर्त्या आ विवेश ॥

—एक महान् देव है जिसने मनुष्य में प्रवेश किया। वह वृषभ के रूप में है। इस वृषभ के चार सींग हैं, तीन पैर हैं, दो सिर हैं, सात हाथ हैं। वह त्रिधा बंधा हुआ है और गरज रहा है।

यह स्पष्ट ही है कि यह किसी भौतिक शरीरधारी वृषभ का वर्णन नहीं है। वृषभ के हाथ और पैर में क्या अन्तर होता है? यह ऋग्वेद के चौथे मण्डल के ५८वें सूक्त का तीसरा मन्त्र है। सायण ने इसका अर्थ इस प्रकार किया है : “यों तो सूर्य, अग्नि, जल आदि की दृष्टि से यज्ञ के पांच रूप होते हैं परन्तु इनमें सूर्य मुख्य रूप से यज्ञात्मक है अतः मैं यहां उसी दृष्टि से व्याख्या करता हूँ। चारों वेद यज्ञरूपी वृषभ के चार सींग हैं। प्रातः आदि तीन सवन होते हैं, वे ही तीन पांच हैं। ब्रह्मोदत और प्रवर्ग दो सिर हैं। गायत्री आदि सात छन्द ७ पांच हैं। मन्त्र-ब्राह्मण-कल्प—इस प्रकार तीन रूप से वह बंधा हुआ है।”

यज्ञ का स्वरूप इस रूप में जान लेने से किसी का क्या आध्यात्मिक कल्याण हो सकता है? कौन-सा नया सन्देश इस मन्त्र के द्वारा मिल रहा है? मुझको ऐसा लगता है कि ऐसे मन्त्रों में कोई आध्यात्मिक रहस्य निहित है जिनकी कुंजी हम खो दैठे हैं। वेदार्थ के जिजासु को उन्हीं कुंजियों की खोज करनी है।

मैं स्वयं, श्री सातवलेकर ने जो काम किया है उसकी, भूरि-भूरि प्रशंसा तो करता ही हूँ, उनके द्वारा दूसरों को काम करने का जो मार्ग मिल गया उसके लिए उनकी और भी प्रशंसा करता हूँ। जो वाक्य आज से हजारों वर्ष पहिले उद्घोषित हुए, उनका ठोक-ठोक अर्थ समझने के लिए प्रयत्न होना चाहिए। इस रहस्यमय कोठरी में प्रवेश करने के पहिले निःक्तकार के इस कथन को हृदयंगम कर लेना चाहिए कि अनृष्टि वेदार्थ को नहीं समझ सकता। जो तपस्वी होगा, सत्य का अनन्य अन्वेष्टा होगा, उस पर ही वेदार्थरूपी परादेवता अपने रूप को प्रकट करेगी।

भगवान् श्री सातवलेकर को दीर्घजीवी करे और उनके द्वारा बहुत से वेद के छात्र स्फुर्ति ग्रहण करते रहें।

● ● ●

वेद के लिए संन्यास

(आचार्य प्रियव्रत वेद वाचस्पति, उपकुलपति गुरुकुल विश्वविद्यालय, कांगड़ी)

अपने यौवन काल में श्री पं. सातवलेकर जी उत्कृष्ट कोटि के चित्रकार थे। लाहौर में उनकी 'सातवलेकर स्टूडियो' नाम से फोटोग्राफरी और चित्रकारी की प्रसिद्ध दुकान थी। वहाँ उनके बनाए फोटो और चित्रों की भारी मांग रहती थी। वे अपने व्यवसाय के यशोभागी कलाकार थे। उनके हाथ से बनाये गये ये चित्र बड़े दर्शनीय और मूल्यवान् होते थे। गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय के पुस्कालय में उनके बनाए हुए कृषि दिवानन्द, स्वामी विरजानन्द, महात्मा मुंशीराम और लोकमान्य तिलक के बड़े उत्कृष्ट चित्र लगे हुए हैं। इनमें से एक-एक चित्र कई-कई हजार रुपये की कीमत का है। पण्डित जी ने ये सारे चित्र गुरुकुल को दान रूप में भेंट कर दिये थे।

इसके साथ ही पण्डित जी की वेद के स्वाध्याय में भी अप्रतिम रुचि थी। वे अपने व्यवसाय के साथ-साथ प्रतिदिन नियमित रूप से वेद का स्वाध्याय भी करते थे और अपने इस स्वाध्याय के परिणाम स्वरूप वेद के सम्बन्ध में अनेक उपयोगी पुस्तकें भी लिखते रहते थे। पण्डित जी का वेद के स्वाध्याय का यह क्रम उत्तरोत्तर बढ़ता गया और परिणामस्वरूप वेद विषयक साहित्य निर्माण का उनका कार्य भी अधिक तीव्र और व्यापक होता गया।

कृषि दिवानन्द के पश्चात् वेद को लोकप्रिय बनाने में जितना कार्य श्री पण्डित सातवलेकर जी ने किया है उतना और किसी व्यक्ति ने नहीं किया। उन्होंने इस क्षेत्र में जो कार्य किया है उसे देख कर चकित रह जाना पड़ता है और आश्चर्य होता है कि कोई व्यक्ति अकेला इतना भारी कार्य कर भी सकता है।

एक घटना मुझे स्मरण आती है जिससे मालूम होता है कि पण्डित जी ने वेद के लिए किस प्रकार अपने आप को समर्पित कर दिया था तथा वेद को लोकप्रिय बनाने के लिए भाँति-भाँति का वेद विषयक साहित्य निर्माण करने की उनमें कितनी उत्कृष्ट इच्छा जागृत हो गई थी।

'चित्र नहीं बनाऊंगा'

गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय उन दिनों गंगा के पार पूर्वी तट पर चण्डी पर्वत उपत्यका में कांगड़ी नामक गांव के पास विद्यमान था। मैं उन दिनों गुरुकुल की १३ वीं या १४ वीं श्रेणी में पढ़ता था। गुरुकुल का वार्षिकोत्सव था। उस अवसर पर सातवलेकर जी भी पधारे हुए थे। गुरुकुल के पुराने प्रोफेसर श्री महेशचरण सिंह जी भी उस उत्सव पर आये हुए थे। महाविद्यालय भण्डार में दोपहर का भोजन हो रहा था। श्री सातवलेकर जी और श्री महेशचरण जी भी ब्रह्मचारियों की पंक्ति में बैठ कर भोजन कर रहे थे। मैं भी सातवलेकर जी के पास ही बैठा हुआ था।

बात-बात में प्रो. महेशचरण जी ने पण्डित जी से कहा, "पण्डित जी, अपने एक परिचित व्यक्ति का बढ़िया आदम कद चित्र आपसे बनवाना है।" पण्डित जी ने कहा, "मैं चित्र नहीं बना सकूंगा।"

प्रोफेसर साहब ने आग्रह किया : “नहीं पण्डित जी, आपको मेरा यह कार्य तो करना ही होगा।” पण्डित जी ने फिर असमर्थता प्रकट की। प्रोफेसर साहब ने समझा कि शायद पण्डित जी चित्र के परिश्रमिक की बात सोच रहे हैं और संकोच के कारण उसे कहना नहीं चाह रहे हैं एवं इसी लिए टालमटोल कर रहे हैं। इस विचार से प्रोफेसर साहब ने पण्डित जी से पुनः कहा, “नहीं पण्डित जी, यह चित्र तो आपको बनाना ही होगा और उसके लिए जो परिश्रमिक आप चाहेंगे, वह आपको मिल जायगा। आप निश्चिन्त रहिये। मैं आपको पांच हजार रुपये की राशि दिलवा दूंगा।” पण्डित जी ने हंस कर कहा—“भाई, मैंने तो संन्यास ले लिया है और इसलिए अब मैं पांच क्या पचास हजार के प्रलोभन से भी आपका कार्य करने के लिए उद्यत नहीं हूं।”

प्रोफेसर साहब आश्चर्य में पड़कर कहने लगे, “कौन कहता है कि आपने संन्यास ले लिया है? आपने तो गृहस्थियों के से सफेद वस्त्र पहने हुए हैं।”

पण्डित जी ने उत्तर दिया, “मैंने सचमुच संन्यास ले लिया है। संन्यास वस्त्रों के रंग से नहीं, मन की भावना से होता है। मैंने वेद के लिए संन्यास लिया है।” मैंने वेद के लिए और सब काम-धन्धे छोड़ दिये हैं और मैं अब अपनी समग्र शक्ति से वेद का स्वाध्याय करने और तद्रिष्यक साहित्य का निर्माण करने में लग गया हूं। इस काम के आगे मैंने और सब बातें त्याग दी हैं। इस प्रकार मैं वेद के लिए संन्यासी हो गया हूं और इसी लिए मैं आप द्वारा अपेक्षित चित्र बनाने के लिए समय नहीं निकाल सकता। क्षमा करें।”

पण्डित जी के इस उत्तर से जहां प्रोफेसर साहब स्तब्ध हो गये, वहां आस-पास बैठे अन्य हम सब लोग भी आश्चर्य चकित रह गये और सोचने लगे कि यहां एक असली ब्रह्माण बैठा है जिसने अपने आपको वेद के लिए सर्वतोभावेन न्यौछावर कर रखा है और बड़े से बड़ा प्रलोभन भी उसे वेद-सेवा के मार्ग से विचलित नहीं कर सकता। प्रो० महेशचरण सिंह जी के साथ-नाथ वहां बैठे हम सबके मस्तक भी श्रद्धा से पण्डित जी के चरणों में भुक्त गये। पण्डित जी की वेद के प्रति इसी अगाध निष्ठा का परिणाम है कि वेदविषयक साहित्य निर्माण के क्षेत्र में वे इतना विशाल और उपयोगी कार्य कर सके हैं।

‘वेद झूठे हैं?’

इसी प्रसंग में एक और घटना याद आती है। एक बार पण्डित जी गुरुकुल में वेद के सम्बन्ध में ब्रह्मचारियों को व्याख्यान देने के लिए पधारे हुए थे। उस समय पण्डित जी ने हम ब्रह्मचारियों का वेद के अग्नि देवता पर कुछ भाषण दिये। एक दिन व्याख्यान के प्रसंग में प्रश्नोत्तर के समय वेद के अनुसार मनुष्य की आयु की चर्चा छिड़ गई। पण्डित जी ने बताया कि वेद के अनुसार प्रत्येक व्यक्ति को सौ साल तक तो जीना ही चाहिए। उन्होंने कहा कि मेरा विश्वास है कि अगर वेद के अनुसार जीवन व्यतीत किया जाय तो मनुष्य अवश्य ही सौ साल तक जी सकता है। उन्होंने इस सम्बन्ध में अपनी आस्था व्यक्त करते हुए कहा कि मैं पूर्णरूप से वेद की मर्यादाओं और चर्याओं के अनुसार अपना जीवन बिता रहा हूं और मुझे पूर्ण विश्वास है कि मैं १०० साल तक अवश्य जीऊंगा। उन्होंने अपनी इस आस्था की दृढ़ता को प्रकट करने के लिए विनोद के ढंग से कहा कि यदि मैं सौ साल तक न जिया तो मरते समय मैं लिख जाऊंगा कि वेद झूठे हैं।

पण्डित जी ने अपने जीवन के सम्बन्ध में यह भविष्यवाणी गुरुकुल में आज से लगभग ५० वर्ष पूर्व की थी। वैदिक मर्यादाओं के अनुसार अपना जीवन बिताने का परिणाम यह है कि पण्डित जी इस समय १०१ वर्ष के हो गये हैं और अब भी उनका स्वास्थ्य खूब अच्छा है। इस लम्बी आयु में भी पण्डित जी में जो कार्य करने की शक्ति है उसे देखकर तो और भी आश्चर्य होता है। तपःपूत, यमनियमनिष्ठ और जीवनचर्या की वैदिक मर्यादाओं में गहरी निष्ठा रखने वाले इस कृष्ण-नुल्य ब्राह्मण पर वेद-पुरुष और परम-पुरुष की सचमुच असीम कृपा रही है।

वेद के लिए संन्यास लेकर वेद की सेवा में अपने आपको होम देने वाले इस महर्षि के प्रति अपनी श्रद्धांजलि अर्पित करते हुए मैं शतशः प्रणाम करता हूँ।

● ● ●

ज्ञान-सागर के छ्रीटे

(श्री प्रह्लाद केशव अत्रे, सम्पादक—‘मराठा’ दैनिक)

पिछले पचास वर्षों से महामहोपाध्याय, ब्रह्मर्षि पं० सातवलेकर ने अपना तन-मन-धन वेदों के संशोधन कार्य में लगा दिया है। वेदमंत्रों पर उन्होंने जितना मनन किया है, वह अप्रतिम है।

“स्वाध्यायमण्डल” के द्वारा प्रकाशित पुस्तकों की संख्या चार सौ के आसपास है। अपने सौ वर्ष के जीवन में पण्डित जी ने पुस्तकों का एक छोटा मोटा पहाड़ ही मानों तैयार कर दिया है। पर पण्डित जी के इस महान कार्य की तरफ आज तक जनता और सरकार को जितना ध्यान देना चाहिए, उतना नहीं दिया गया, यह खेद का विषय है।

पण्डित जी ने एकबार कहा था : “ईसाईयों के धर्मग्रंथ बाइबिल के प्रकाशन के लिए ‘बाइबिल सोसायटी’ को इस वर्ष १३ करोड़ रुपये मिले हैं, पर वेदों के प्रकाशन के लिए तेरह लाख रुपये देने के लिए भी कोई तैयार नहीं हैं।”

वेदों के सम्बन्ध में

उन्होंने कहा है—“सर्वसाधारण जनता का मत है कि वेदों में अत्यन्त प्राचीन सभ्यता का वर्णन है। पर यह मत दोषपूर्ण है। आज तक जिन विषयों की खोज भी नहीं हो सकी है, उनका भी उल्लेख वेदों में है। उदाहरण के लिए—ऋग्वेद में तीन दिन और तीन रात तक बिना रुके लगा-

तार जुहान करते वाले विमान का वर्णन है। इस प्रकार के विमान अभी तक आविष्कृत नहीं हो पाये हैं। आज के विमानों को निश्चित समय के बाद जमीन पर उतरना पड़ता है।

“विदेशियों ने जब भारत पर आक्रमण किया, तब उनकी सेना अत्यन्त अनुशासनबद्ध थी, इसी कारण भारतीय पराजित हुए। पर क्रृग्वेद में जो मर्हतों का वर्णन है, वह बिल्कुल अनुशासित सेना का ही वर्णन है। हमारे वेदपाठी ब्राह्मण अर्थ का विचार न करके केवल वेदमंत्रों को कण्ठस्थ किया करते थे। यदि वे उस समय वेदार्थ पर विचार करके तत्कालीन राजाओं को वेदों में वर्णित सैन्य-प्रणाली से परिचित करा देते तो उन राजाओं की सेनायें भी उसी तरह अनुशासित हो जातीं और तब वे शत्रुओं का मुकाबला अच्छी तरह कर सकते।

“इसी प्रकार अथर्ववेद के बारे में भी लोगों के विचार गलत हैं। वे समझते हैं कि अथर्ववेद में जादू टोने के ही मंत्र हैं, जबकि वास्तविकता यह है कि अथर्ववेद में राजनीति, व्यवहार, आरोग्य, दीर्घायु आदि अनेक विषयों का ज्ञान भरा पड़ा है।

“हमारे संगीत का उद्गम स्थान सामवेद है। सामवेद को जिस रीति से बोलना चाहिए, उस रीति से उसका गायन यदि किया जाए, तो सुनने वाले के मन पर उसका प्रभाव पड़ता है, इसका अनुभव मैंने प्रत्यक्ष किया है।

“एक अस्पताल में एक बीमार था। वह इतना बीमार था कि उससे उठा भी नहीं जाता था। एक दिन टेप रिकार्डर पर रिकॉर्ड किया हुआ सामवेद का थोड़ा सा भाग उसको सुनाया गया। उसको सुनकर वह खाट पर उठकर बैठ गया।

“इन सब प्रयोगों को करके देखना चाहिए। पर करे कौन? यहीं तो सबसे बड़ा प्रश्न है।”

इस्लाम के सम्बन्ध में

इसके बाद हिन्दू समाज के अन्धःपतन पर अपने विचार व्यक्त करते हुए पण्डित जी ने कहा— “इस देश पर मुसलमानों के जो आक्रमण हुए उसके कारण हमारी सभी विद्यायें नष्ट हो गईं। आक्रमणकारियों के हृदयों में भारतीय संस्कृति के प्रति राई भर भी आंदर नहीं था। इस्लाम के जन्म से पहले हिन्दू धर्म का प्रसार अनेक देशों में हो चुका था। मबका ‘महाकाय’ का अपश्रंश है। वहां मूलतः महादेव का मन्दिर था। वहां चारसौ शिवलिंग थे, उनमें से तीनसौ निन्यानवे शिवलिंग तो तोड़ डाले गए, एक बच गया। वही काबा में अब ‘संगे असबद’ के नाम से प्रसिद्ध है। वह काले पथर के शिवलिंग के सिवाय और कुछ नहीं है। इसका वर्णन इस्लामिक इनसाइक्लोपीडिया में मिलता है। इसके अलावा कुरान की पहली आयत ‘अनेन नय सुपथा राये’ इस वेदमंत्र का शब्दशः अनुवाद है।”

बौद्ध धर्म के सम्बन्ध में

बौद्ध धर्म के सम्बन्ध में उनका कहना है : ‘‘बुद्ध ने लोगों को जीवन की दुःखमयता, क्षण-भंगुरता का उपदेश देकर उनमें जीवन के प्रति निराशावाद उत्पन्न किया। मानव शरीर को पृथ्विण्मुख का गोला बताकर इस शरीर के प्रति लोगों में वृद्धा के भाव पैदा किए। इस सिद्धान्त ने लोगों को निष्क्रिय और आलसी बना दिया। इसके विपरीत वेदों का सन्देश तेजस्विता से भरपूर है। वेदों का सिद्धान्त है कि इस संसार में कुछ भी क्षणभंगुर या दुःखमय नहीं है। यह सब आनन्दमय लहा है। यह मानवी शरीर देवों का त्रिवास स्थान है।”

पण्डित जी का ज्ञानसागर अगाध है। उनके ज्ञानसागर के कुछ छोटे हम पर भी पड़ गए, उनसे हम पवित्र हो गए, यह हमारा सौभाग्य है।

राष्ट्र के इस महापुरुष के चरणों में हमारे अनन्त प्रणाम !

● ● ●

कुछ प्रेरक प्रसंग

(श्री ना० स० करन्दीकर)

श्री पण्डित सातवलेकर के जीवन में प्रेरणाप्रद प्रसंगों की कमी नहीं है। मैं कुछ ऐसे स्मरणीय प्रसंगों का उल्लेख करना चाहता हूँ जिन्होंने मुझे व्यक्तिगत जीवन में भी पर्याप्त प्रेरणा दी है :

बृद्ध की चिन्ता क्यों ?

१६४६ में औंध में राष्ट्रीय स्वयं सेवक संघ का शरदकालीन अधिवेशन था। उसके लिए एक शिविर की व्यवस्था की गई थी। दूसरे दिन अचानक भयंकर वर्षा हीने लगी। शिविर एकदम खुले में था इसलिए हवा की तेजी भी कष्टदायक थी। लिहाजा तत्काल वहाँ से हटाकर स्वयं सेवकों के निवास की व्यवस्था शिविर-स्थान से दूर बस्ती में करना आवश्यक हो गया। पण्डित जी स्वयं वर्षा में भीगते हुए सामान बांधने में स्वयं सेवकों की मदद करते लगे। उन्हें गरसात में भीगते हुए देखकर एक अधिकारी उनसे बोला—“यहाँ बारिश बहुत है और हवा भी तेज बहुत चल रही है, इसलिए आप मोटर से बस्ती में चले जाइये, ये स्वयं सेवक पीछे से आते रहेंगे।” सुनकर पण्डित जी बोले—“मेरी नजरों के सामने ये छोटे-छोटे किशोर स्वयंसेवक पानी में भीग रहे हैं, फिर मैं मोटर में बैठकर कैसे जा सकता हूँ? मुझ बृद्ध की चिन्ता आप क्यों करते हैं? पहले इन सबकी व्यवस्था कर दीजिए। मैं भी इन्हीं के साथ जाऊंगा।”

ध्यान देने की बात यह है कि उस समय पण्डित जी की आयु ७६ वर्ष की थी।

हिंसक बिल्ली : अहिंसक बिल्ली

औंध में पण्डित जी ने दो बिल्लियाँ पाल रखी थीं। उनमें एक बहुत बलवान् थी। जब दोनों को दूध दिया जाता तो पहली बिल्ली झटपट अपना दूध पीकर दूसरी बिल्ली का दूध भी पी जाती। जब दूसरी कमजोर बिल्ली चिल्लाती हुए पण्डित जी के पास आई तो उसे देखकर पण्डित जी बोले—“देखो, इन बिल्लियों में भी एक गांधी बिल्ली है और दूसरी जिन्हा बिल्ली है। एक अहिंसक है तो दूसरी अपना हिस्सा खा-पीकर दूसरे का हिस्सा लूटती है।”

नेता बनाम 'र'

एक बार किसी प्रसंग में पण्डित जी ने कहा था : किसी भी राजनीतिक और सामाजिक नेता को 'र' के समान होना चाहिए। पर्व शब्द में 'र' 'व' के सिर पर बैठा हुआ है, वही 'विप्र' में प के पेट में छुसा हुआ है। 'राष्ट्र' के 'ष्ट्र' में वह चरणधिष्ठित है और 'वक्र' के 'क' में वह क के साथ है। 'आद्र' में वह 'द्र' के सिर पर भी है और चरण में भी। इसी प्रकार नेता भी वही सफल होता है जो समय की मांग पहचान कर तदनुसार यथायोग्य आचरण करता है।

आयु से बड़ा काम

"सभी मेरी दीर्घायु की कामना करते हैं। पर यदि मेरे जीवन-व्यापी इस वेद-कार्य में जनता और सरकार की सहायता मुझे न मिल सके तो बेहतर है कि मैं इसी क्षण मर जाऊं। पर यदि वह सहायता मिल जाए, तो मेरी इच्छा है कि मैं कभी भी न मरूँ।"

चाय सिर्फ एक बार

"अपने सौ बरस के जीवन में मैंने सिर्फ एक बार चाय पी है, और वह भी कोल्हापुर महाराज के आग्रह पर। मैं तब कोल्हापुर की जेल में था। महाराज का सन्देश आया कि तुमसे मिलना चाहते हैं। मैं कैदी की पोशाक में ही उनसे मिलने गया। महाराज मिले और चाय का एक प्याला मेरे आगे रख दिया। मैं था एक कैदी, उस पर भी हाथ में प्याला लेकर स्वयं महाराज मुझसे चाय लेने का आग्रह कर रहे थे। शिष्टाचार का भी तकाजा था। बस, उसी समय मैंने चाय पी थी जीवन में सिर्फ एक बार।"

आत्मचरित नहीं, मरुत-चरित

पण्डित जी का जीवन अनेक हृष्टियों से दूसरों के लिए उत्तम मार्ग-दर्शक है। इसलिए एक व्यक्ति ने उनसे प्रार्थना की कि वे "आत्मचरित" लिखें। उसकी प्रार्थना सुनकर पण्डित जी बोले— "तुम जो कहते हो, वह ठीक है, पर मैं आत्मचरित लिखने की अपेक्षा मरुत देवता का चरित लिखना अधिक प्रसन्न करूँगा। आत्मचरित लिखने में जो समय लगेगा, वही समय यदि मैं वैदिक साहित्य पर खर्च करूँ, तो ज्यादा लाभदायक होगा। मैं मानता हूँ कि आत्मचरित अनुपयोगी नहीं है, पर उसके लिए मैं अपने अमूल्य क्षण नष्ट नहीं करना चाहता।"

मन्दिरों में गन्दगी

उनका कहना है कि मन्दिर देवस्थान हैं, अतः इनको हर हृष्टि से पवित्र रखना चाहिए। एक बार वे दक्षिण भारत के एक भव्य मन्दिर में गये। वहाँ उन्होंने एक दीया अखण्ड रूप से जलता हुआ देखा। उस दीये के चारों ओर बहुत चीकट जमी हुई थी। यह देखकर पण्डित जी देवता के आगे रखे उस दीपक का मैल खरोंच कर साफ करने लगे। तब एक पुजारी उन्हें इस काम से रोकते हुए बोला—“आप यह क्या कर रहे हैं? भक्तगण इसी को तो देवता का प्रसाद समझ कर अपने घर ले जाते हैं। इसलिए हमें यह सुरक्षित रखना पड़ता है।”

इसी प्रकार उनके जीवन के अनेक प्रेरक प्रसंग हैं जिनसे मेरी तरह अन्य लोग भी प्रेरणा ग्रहण कर सकते हैं।

● ● ●

पंडितजी की सहृदयता

(आचार्य वैद्यनाथ शास्त्री, सम्पादक-'वैदिक लाइट')

पंडित जी में जहां और अनेक गुण हैं वहां उनमें सहृदयता एवं सत्यग्राहिता तो अनुकरणीयता की सीमा तक पहुंच गई है। इस प्रसंग के अनेक संस्मरण स्मृति-पथ में सुरक्षित हैं। पंडित जी कर्मनिष्ठ तो हैं ही, शाताधिक आयु होने पर भी वे नियमित रूप से अपने स्वीकृत कार्यों को करते रहते हैं। वे कभी दूसरे से सेवा लेने का प्रयत्न नहीं करते। अगर कोई बीमार हो वा कष्ट में हो तो स्वयं उसकी सेवा करने में तत्पर हो जाते हैं।

वेद सम्बन्धी विचारों में मेरा उनका पर्याप्त मतभेद भी रहा है, परन्तु पारस्परिक ब्रेमभाव सदा बना रहा और कभी भी इस सम्बन्ध को उन्होंने शिथिल नहीं होने दिया।

बम्बई का कच्छ कैसल ऐसे धर्मनिष्ठ, वेदभक्त और क्रृषि दयानन्द के अनुयायी आर्य श्रेष्ठी का गृह है जहां वेदज्ञों की सदा प्रतिष्ठा होती रही है। वहां प्रतिदिन प्रातः-सायं चारों वेदों की सहित आठों के वेदपाठी मन्त्र पाठ करते हैं। प्रतिदिन सारा परिवार यज्ञ करता है। स्वर्गीय सेठ श्री शूरजी भाई बलभदास से लेकर उनके सुपुत्र श्री सेठ प्रतापसिंह शूरजी तक, जो इस समय उस महान परिवार के मुख्यतम व्यक्ति हैं, बराबर यह परम्परा चलती आ रही है।

श्री प्रतापसिंह शूरजी लाखों रुपये व्यय करके चारों वेदों से तीन ब्रह्मपारायण यज्ञ कर चुके हैं। जब प्रथम ब्रह्मपारायण यज्ञ की तैयारी चल रही थी तब वेद के विद्वानों में ही एक विवाद खड़ा हो गया। उस पर पक्ष-विपक्ष में अनेक लेख लिखे गए। सातवलेकर जी का पक्ष था कि ब्रह्मपारायण यज्ञ चारों वेदों से नहीं हो सकता। मेरा पक्ष था कि हो सकता है। जब यज्ञ का समय आया तब सातवलेकर जी ने कच्छ कैसल में स्वयं कहा कि 'इस यज्ञ का सम्पादन मैं स्वयं करूंगा, मैं आचार्य वैद्यनाथ शास्त्री के तर्कों और शास्त्रीय प्रमाणों से पूर्णतः सहमत हूँ'। उन्होंने यज्ञ के ब्रह्मा बनने का हमारा अनुरोध स्वीकार किया और बड़ी कुशलता से यज्ञ सम्पन्न कराया। उसके बाद दूसरे यज्ञ में भी वे सम्मिलित हुए। अब की बार तीसरे यज्ञ में यात्रा की परेशानी के कारण हम लोगों ने उन्हें कष्ट देना ठीक नहीं समझा।

लेख और पत्र-ब्यवहार के द्वारा पंडित जी से सम्पर्क तो रहा, परन्तु निकट सम्पर्क में आने का अवसर कच्छ कैसल में ही मिला। मैंने इस प्रकार के अवसरों पर अनुभव किया है कि पंडित जी जहां विद्वान् हैं, वहां विशाल-हृदय और सहिष्णु भी हैं। हठ और दुराशह उनमें नहीं है। सत्य की परीक्षा और ग्रहण को वे सदा उद्यत रहते हैं। विद्वान् तो और भी मिल जाएंगे, और वेद के विद्वानों का भी अभी इस देश में सर्वथा अभाव नहीं हुआ है, किन्तु ऐसा सहृदय, कर्मठ, वेद के लिए अपना सम्प्र जीवन अर्पित कर देने वाला, तेजस्वी और राष्ट्रोत्थान के लिए अहंनिश्च व्यग्र विप्र और कोई हृषिगोचर नहीं होता। इतने गुणों का एकत्र समुच्चय और कहां मिलेगा? ऐसे गुणपूज व्यक्ति के प्रति मेरा मस्तक अद्वा से नत है।

● ● ●

मेरे चित्रकार पिता

(श्री माधव सातबलेकर)

[पण्डित जी के छोटे पुत्र द्वारा, जो स्वयं प्रसिद्ध चित्रकार हैं, लिखित संस्मरण]

उस समय मैं बहुत ही छोटा था । हम सब औंध में रहते थे । तीर्थंरूप बाबा (पूज्य पितृपाद को परिवार के हम सब लोग इसी नाम से सम्बोधित करते हैं) वे हमारे बच्चों अर्थात् अपने पोते-पोतियों के तो बाबा हैं ही, हम भी बाबा ही कहते हैं) लाहौर छोड़कर यहां आ बसे थे । चित्रकला के व्यावसायिक रूप को पूर्णतः त्याग कर स्वाध्याय मण्डल के कार्य के लिए उन्होंने अपना सर्वस्व समर्पित कर दिया था । उनका सारा दिन लिखने-पढ़ने में ही बीत जाता था । मुद्रणालय की इमारत हमारे घर की बगल में ही थी । उसी मुद्रणालय में उनका दिन बीतता ।

हम दोनों (मैं और मेरा भाई) प्राइमरी स्कूल में पढ़ते थे । रविवार अर्थवा छुट्टी के दिन कभी-कभी सबेरे बाबा घर में ही ऊपर के कमरे में बैठकर चित्र बनाया करते थे । हम आस्तर्य से उन चित्रों को देखा करते थे । एक दिन वे "भीष्म प्रतिज्ञा" का चित्र बना रहे थे । आज भी वह चित्र मेरी नजरों के आगे आकर खड़ा हो जाता है । आज वह चित्र कहां है, कुछ पता नहीं । बाबा का एक भी चित्र आज हमारे पास नहीं है । उनका स्वभाव ही ऐसा था कि जो कोई चित्र मांगने आता उसे वह चित्र उठाकर दे देते थे । अपने पास जोड़कर रखने की संग्राहक प्रवृत्ति उनकी कभी नहीं रही ।

हमने केवल इतना सुन रखा था कि बाबा अपने पूर्व जीवन में एक विष्यात चित्रकार थे । यह बात भी हमने दूसरों के मुंह से ही सुनी थी । औंध के राजासाहब बड़े कला-प्रेमी थे, अतः उन्हीं के कारण औंध में अनेक चित्रकार बाबा के पास आया-जाया करते थे । वे बातें करते थे और हम बैठे-बैठे उनकी बातें सुना करते थे । उन दिनों के चित्रकारों में पूरम, शंकरराव किलोस्कर, वैकटराव ओगले प्रमुख भाने जाते थे । वे लोग कभी-कभी आकर बाबा से चित्र रंग कर बताने के लिए प्रार्थना किया करते थे । मैं भी देखने के लिए चला जाता । बाबा का कहना था कि चित्र रंगने के लिए कोई भी दृश्य छुना जा सकता है । यह आवश्यक नहीं है कि चित्र रंगने के लिए कोई आकर्षक दृश्य ही होना चाहिए । किसी भी जीर्ण-शीर्ण वृक्ष, घर अथवा मार्ग का दृश्य भी कुशलता से चित्रित किया जा सकता है । बाबा घर के आस-पास का ही कोई दृश्य छुन लेते और उसे घण्टे भर में ही चित्रित कर दिखाता देते थे ।

आगे चलकर जब उन्होंने चित्रकला की तरफ मेरा रुक्मान देखा, तब वे मुझे पोटेंट पैटिंग सिखाने लगे । मुझे सिखाने के लिए वे किसी न किसी तरह समय निकाल ही लिया करते । कह चुका हूँ, चित्रकारी का व्यवसाय उन्होंने पूरी तरह से छोड़ दिया था । केवल एक बार वे लगातार ५-६ दिन एक चित्र को चित्रित करते रहे । वह प्रसंग अब भी मुझे याद है । प्राकृतिक दृश्यों को चित्रित करने का तरीका सिखाने के लिए वे मुझे महाबलेश्वर ले गए थे । प्रतिदिन सबेरे और

शाम को एक चित्र पूरा कर दिया करते थे। यह बात सम्भवतः १९३० की है। इसके बाद उन्होंने कभी इस कला पर ज्यादा समय नहीं लगाया। वे चित्र Impressionist शैली से तैयार किये गये थे। उनमें से दो चित्र आज भी मेरे पास हैं और सचमुच आज भी उनकी ताजगी में अन्तर नहीं आया।

ओंध के राजमहल में और अम्बाबाई के मन्दिर में बाबा के बनाए अनेक चित्र लगे हुए थे। अब वे सब ओंध के संग्रहालय में सुरक्षित हैं। उनमें से दो चित्रों में हिमालय के दृश्य चित्रित किये गये थे। उनमें प्रयुक्त रंग-विन्यास और उनकी प्रयोग-रीति मुझे बहुत आकर्षक लगी थी। बाबा के द्वारा बनाये गये पोट्रैट्स की ख्याति मैंने सुनी है, किन्तु उन्हें प्रत्यक्ष देखने का सौभाग्य मुझे नहीं मिला। अलबत्ता राजमहल में मैंने उनके बनाये अनेक सुन्दर-सुन्दर चित्र देखे हैं। उस समय का एक संस्मरण है। कहाड़देवी के हॉल में दो नये चित्र टाँगे गये। वे दोनों चित्र कलकत्ता के प्रसिद्ध चित्रकार ठाकुरसिंह द्वारा निर्मित थे। उनमें से एक चित्र “ओलेटी” (चित्रकला की एक शैली है, जिसमें किसी सद्यःस्नाता तरुणी का चित्रण किया जाता है और भीगे हुए कपड़ों के शरीर से चिपट जाने के कारण वह सवस्त्रा होते हुए भी विवस्त्रा के समान दीखती है।) शैली का था। श्री शिवराम महादेव परांजपे ने “रत्नाकर” नामक मासिक पत्र में एक लेख लिखकर इस चित्र की बड़ी प्रशंसा की थी। आगे चल कर इसी चित्र को लेकर विवाद खड़ा हो गया। कुछ लोगों की हास्ति में यह चित्र अश्लील था, जबकि कुछ इसे अश्लील मानते को तैयार नहीं थे। बड़े-बड़े कलाकारों ने इस विवाद में भाग लिया। तब बाबा ने लिखा कि यह चित्र ही इस स्तर का नहीं है कि इस पर किसी भी तरह का वाद-विवाद किया जाए। पर यह चित्र काफी लोकप्रिय हो चुका था। केवल चित्रकार ही नहीं, अनेक साहित्यकार भी इसके प्रशंसक बन चुके थे। अतः एक संस्कृत के पण्डित के द्वारा इतने लोकप्रिय चित्र का इस प्रकार हीन बताया जाना इन साहित्यकारों को पसन्द न आया। तब प्रसिद्ध साहित्यकार श्री खाण्डेकर ने लिखा कि पण्डित सातवलेकर को वेद-गीता आदि ग्रंथों को छोड़कर चित्रकला पर अपना मत देने की क्या आवश्यकता थी? उन लोगों का दोष नहीं था, क्योंकि वे सब यही समझते थे कि संस्कृत के इस पण्डित को चित्रकला का क्या ज्ञान हो सकता है। बहुत थोड़े लोग ही जानते थे कि बाबा भी कभी विस्त्रयात् चित्रकार रह चुके हैं। जब इन साहित्यकारों को वस्तुस्थिति का पता लगा तो आत्मगलानि उन्हें कम नहीं हुई होगी।

मैं जब जे० जे० स्कूल में दाखिल हुआ तब वहां मुझे ज्ञात हुआ कि इसी स्कूल में जब बाबा छात्र बनकर विद्याध्ययन कर रहे थे, तभी उन्होंने चित्रकला और स्थापत्यकला के लिए दिये जाने वाला उस संस्था का सर्वोच्च स्वर्णपदक “मेयो मेडल” प्राप्त किया और इसी संस्था में उन्होंने कुछ समय तक अध्यापन का काम भी किया था।

आध्यात्मिक परिप्रेक्ष्य

सन् १९४१ में बम्बई में चित्रकार-परिषद् की अध्यक्षता करते हुए बाबा ने चित्रकला पर अपने विचार प्रकट किये थे। अजन्ता और एलोरा (वेरूल) की गुफाओं में अनेक आकृतियों वाले छोटे-बड़े चित्रों पर अपना मत व्यक्त करते हुए बाबा ने अपने भाषण में कहा था कि वे चित्र आध्यात्मिक परिप्रेक्ष्य (Spiritual perspective) से युक्त हैं। आज तक चित्रकला में चित्रकार

Linear and aerial perspective से ही परिचित थे, पर बाबा ने Spiritual perspective के रूप में एक नई हृष्टि आधुनिक चित्रकारों को प्रदान की। इस हृष्टि ने बुद्ध की विशालकाय मूर्ति के चारों ओर बनी हुई छोटी-छोटी मूर्तियों की समस्या का समाधान कर दिया। ये मूर्तियां वस्तुतः देवों और मानवों के नैतिक मूल्यों की प्रतीक हैं।

आधुनिक कला

आधुनिक चित्रकला (मॉडर्न आर्ट) के बारे में बाबा के विचार अधिक अनुकूल नहीं हैं। माडने आर्ट के चित्रों को वे प्रसन्न नहीं करते। उनका मत है कि आजकल चित्रकारों ने कला को लोगों को धोखा देने का साधन नहीं रखा है। वे कला के नाम पर लोगों को लूटते हैं। कॅनवास पर चारपाँच छेद करके उस पर रंगों को पोतकर कुछ डिजाइन तैयार कर देने में कोई बहुत बड़ी कुशलता नहीं है। ऐसे उल्टे-सीधे डिजाइनों को कलाकृति मानने के लिए बाबा तैयार नहीं हैं।

चित्रकला को छोड़े हुए बाबा को आज करीब ५० वर्ष हो गये हैं। पर उनकी सौन्दर्य-हृष्टि में आज भी एक कलाकार विराजमान है। १९४८ में हम पारडी गए थे। सबसे पहले बाबा वहां अकेले ही गए थे। घर के आसपास जमीन काफी थी। पर चारों ओर घास ही घास नजर आती थी। वहां आकर बाबा ने सबसे पहले एक सुन्दर बाग तैयार करवाया। युकिलिपिस के वृक्ष कहां लगवाये जाएं, इंटे किस प्रकार लगवाई जाएं, इन सबकी एक रूपरेखा बनाकर उन्होंने मेरे पास भेजी थी। उस समय उनकी उम्र दर बरस की थी।

आज भी वे प्रतिदिन शाम को बरामदे में लगे हुए भूले पर बैठते हैं। दिन भर उनका लिखने-पढ़ने का काम चलता रहता है। अब वे धूमने भी नहीं जाते। इसलिए वे भूले पर ही बैठें-बैठें बाग और अमराई पर अपनी नजर दौड़ाया करते हैं। एक बार हमने पूछा कि आप यहां बैठ कर क्या देखा करते हैं? तब वे बोले कि यहां बैठकर निसर्ग को निसर्ग के रूप में देखता हूँ। मुझे इसमें बड़ा आनन्द मिलता है। प्रकृति के इसी रम्य रूप को देखकर मेरा समस्त मानसिक श्रम-परिहार हो जाता है।'

रंगविरंगे फूलों को देखकर एक कलाकार के सिवाय और कौन इतना आनन्द प्राप्त कर सकता है?



दाम्पत्य जीवन के कुछ कटु-मधु प्रसंग

(श्रीमती सरस्वतीबाई सातवलेकर)

[श्री सातवलेकर जी की ६१ वर्षों का धर्मपत्नी द्वारा अपने गृहस्थ जीवन के सम्बन्ध में मामिक संस्मरण]

पंडित जी की सहधर्मचारिणी के रूप में मैंने करीब-करीब ७५ वर्षों का लम्बा समय बिताया है। इतने लम्बे समय में अनेकों भली-नुरी बातें हुईं, साथ ही पंडित जी में भी अनेक तरह के परिवर्तन हुए। उनके स्वभाव में हुए परिवर्तन को वेखकर मुझे भी आश्चर्य हो रहा है। जैसे अब शान्त स्वभाव के हैं, वैसे पहले नहीं थे। मुझे तो हमेशा उनके नाराज होने का डर लगा रहता था।

लाहौर की ही एक घटना है—वसन्त (हमारे ज्येष्ठ पुत्र) तथा माघव (हमारे कनिष्ठ पुत्र) उस समय लगभग ८-९ वर्ष के रहे होंगे। उनकी देखरेख के लिए एक नौकर था, वही घर के काम भी करता था। वह उत्तरप्रदेशीय था, अतः उसे हमारा महाराष्ट्रीय भोजन पसन्द नहीं आता था। पर पंडित जी पर उसकी इतनी श्रद्धा थी कि जबतक ये कुछ खान-पीन न लेते, तबतक वह भी बिना खाये पीये ही रहता। फोटोग्राफी का इनका कार्य, जिसमें न भोजन का समय निश्चित, न सोने का। १-१॥ वजे कि नौकर को भूख लगने लगती। छोटा लड़का वसन्त उसीके साथ हिला हुआ था। एक दिन वह भी नौकर के साथ ही चना-मुरमुरा खाने लगा। इतने में ही ये आए, इनको देखते ही नौकर घबराया। उसे देखकर मेरे गरजे—“तू अभी अपना रास्ता नाप। मैंने इतना मना किया था कि लड़के को अपनी ओर से कुछ मत खिलाया कर, फिर क्यों खिलाया तूने? कितनी ही बार कहा, पर तुझ पर कुछ असर नहीं। अब तो मैं तेरे जाने के बाद ही भोजन करूँगा।” यह सुनना था कि वेचारे नौकर की आंखों से गंगा जमुना चूँह। उसने क्षमा भी मांगी। मैं खड़ी-खड़ी सब कुछ सुन रही थी। मैंने उससे कहा: ‘तू इस बत्त इनके सामने से चला जा। कल से फिर काम पर आ जाना। इस समय कुछ भी मत बोल।’ दूसरे दिन इनका गुस्सा खत्म हो चुका था, उसके साथ ही प्रतिदिन की तरह वह नौकर भी अपने काम पर आ चुका था।

घर से अलिप्त

वे ‘ब्रह्मविष’ भी तो हैं। वस्तुतः ‘ब्रह्मविष’ की तरह संसार में रहते हुए भी उससे सर्वथा अलिप्त। इतने पर भी उन्होंने संसार बड़े सुख से चलाया। मुझे ही क्या, बच्चों को भी कभी किसी प्रकार का कष्ट नहीं होने दिया। मैं जब उनके साथ हैदराबाद, लाहौर आदि शहरों में रही, तब मैं एक सीधी-सादी गांव की स्त्री थी, पर इन्होंने उसका भूलकर भी कभी उल्लेख नहीं किया। अपितु जहाँ-जहाँ जो-जो दर्शनीय स्थान थे, उन सबको मुचाह रूप से दिखाया। काश्मीर से लेकर कन्या-कुमारी तक सब भारत बुमाया। जहाँ बसका कष्ट था, वहाँ टैक्सी से, पहाड़ों पर तो डोली से भी, मुझे और बच्चों को ले गए। घर की तरफ इनका जरा भी ध्यान नहीं था। जबसे औन्ध में घर

बना, तबसे मैं, मेरे बच्चे, मेरा घर और अतिथि, बस। इन्हें अपने काम और व्याख्यानों से ही फुरसत नहीं थी। प्रायः दौरे पर ही रहते थे। 'क्यों और कहाँ जा रहा हूँ,' यह इन्होंने मुझे कभी नहीं बनाया, पर 'कब लौट कर आऊंगा' यह अवश्य बता देते थे और उस दिन अवश्य लौट आते। बिल्कुल घड़ी की तरह नियमित कार्यक्रम। घर के विषय में सदा निश्चिन्ता, घर के खर्च के लिए पैसे दे दिए कि इनका काम पूरा हुआ, फिर घर का खर्च किस तरह और कितना किया जाए, यह सब मेरी जिम्मेदारी थी।

नियमित जीवन

उनका सारा जीवन एकदम व्यवस्थित एवं नियमित रहा है, यही कारण है कि सन्तानें भी नियमितता सीख गईं। उसी नियमितता का फायदा उहें अब मिल रहा है। सदा जीवन, सदा आहार और नियमित व्यायाम, इसमें कभी जरासा भी फरक नहीं पड़ा। अपनी पसन्द कुछ भी नहीं, जो भी सामने आ जाए, वड़े प्रेम से खा लेना इनका स्वभाव रहा है। 'यह क्यों नहीं बनाया, वह क्यों नहीं बनाया' ये शब्द उनके मुह से कभी मैंने सुने हों, याद नहीं आता।

पर इस सरल स्वभाव का अनुचित लाभ उठा कर इन्हें अब तक कितनों ने ही ठगा है। मैं कुछ नाराज होकर कहूँ, तो कहते हैं कि तुम्हें किसी बात की कमी है क्या? बाकी यह उनकी बात सत्य भी है। आज तक मुझे अथवा मेरे बच्चों को किसी चीज की भी कमी महसूस नहीं हुई। पारडी में भी औन्ध की अपेक्षा बड़े घर, बाग और अमराई से युक्त सर्वांग सुन्दर स्थान ही मिला है।

चूंकि यह संसार है, अतः दुःख तो अनिवार्य ही है, पर मेरे जीवन की असली परीक्षा तो उस समय थी, जब इन पर मुकदमा चालू था। मैं कहाँ और किस प्रकार रहूँ, यह समस्या मेरे सामने थी। पर धैर्य से मैंने वह भी वर्ष काट दिया। इसके बाद औंध में हम स्थायी हो गए। औंध के राजा साहब ने ही हमें वहाँ बुलाया था। दरबार में वेद के विद्वान् के रूप में इनका बहुत मान था, स्वयं राजासाहब भी वहुत आदर करते थे। कभी दरबार हो, या सभा हो और उसमें महाराज जरा जल्दी पहुंच जाते और ये जरा देर से दरबार पहुंचते, तो राजासाहब स्वयं उठ कर इनका स्वागत करते थे। इस प्रकार एक दो बार हुआ, बस, तबसे ये, जहाँ कहाँ भी जाना होता, वहाँ ५-१० मिनट पहले ही जा पहुंचते। उन्हें यह पसन्द नहीं था कि उनके कारण महाराज को बिना कारण कष्ट हो। इन्होंने कभी मान अपमान का ख्याल नहीं किया। इसी कारण इन्होंने अपना रास्ता भी कभी नहीं बदला। इनका सदा यह सिद्धान्त रहा है कि 'अपना काम करते जाओ, जिनको तुम्हारे काम की ज़रूरत होगी, वे स्वयं तुम्हारे काम का मूल्यांकन करेंगे।'

अतिथि प्रेम

पारडी में आकर अतिथियों की विविधता और संख्या में इतनी वृद्धि हो गई है कि बस तोबा! कभी-कभी इतनी तंग आ जाती हूँ कि चिढ़ने के सिवाय मेरे लिए और कोई चारा ही नहीं रहता। पर ये हँसते हुए मुझे समझते हैं, कि 'ब्राह्मणभोज देना हमारे वश की बात नहीं थी, फिर भी वही बात तुम्हारे हाथों से अनजाने ही हो रही है। ऊपर से तुम उन्हें दक्षिणा भी देती जाओ, तो बस बेड़ा पार है।' इस पर मैं क्या बोलूँ?

मैं कई बार इन पर नाराज भी हुई, पर अतिथि इन्हें साक्षात् परब्रह्म ही प्रतीत होता है,

फिर चाहे वह अतिथि विद्वान् हो या महा गंवार, वयोवृद्ध हो या अल्पवयी । घर में उसने कदम रखा कि इनकी चाकरी शुरू । हाथ धोने के लिए पानी देना, पोछने के लिए तौलिया देना, सब काम मानों भगवान् ने इनके लिए ही निश्चित कर रखा है । फिर पूछेंगे कि 'आप दूध तो लेंगे न ?' अब यदि बेचारा वह चायपायी हो, और चाय के बिना उसका काम न चलता हो, तो दूध का नाम सुन करके ही वह आधा रह जाता है । कैसे कहे कि मैं चाय लूँगा । तब हम ही उसके बचाव के लिए आते हैं और चाय से सत्कार करते हैं । स्वयं तो कभी चाय या काफी का स्वाद कैसा होता है, यह जाना नहीं, फिर दूसरों के लिए चाय किस प्रकार दें ? यदि वह अतिथि संकोची हो, तो मुंह सीकर चुपचाप बैठ जायेगा, पर यदि वह इतिहासाचार्य राजवाड़े की तरह हुआ, तो बस तोबा तोबा, फिर कुछ न पूछिए ।

जी हाँ, वे ही राजवाडे, औंध में एक दिन हमारे यहाँ भी पधारे ! ओ हो ! बहुत बड़े आदमी ! (यद्यपि इन्हें सभी बड़े ही दिखाई देते हैं), लोग भी उन्हें बहुत विद्वान् मानते थे । हाँ तो, वे हमारे यहाँ भी पधारे । सोचा कि रोज की तरह रसोई बनाकर परोस दूँगी, पर उन महाशय ने उस दिन केवल भात ही खाया । घर में केवल हम दो और वे अतिथि महोदय, बच्चे छोटे थे । इस-लिए मैं भात भी कितना बनाती ? पर वे महाशय उस दिन भात पर ही पिल पड़े । अतः मैंने उस दिन शामको भी केवल भात ही बनाया । पर वे महाशय ठहरे पूरे धाघ और मौजी, बोले 'इस बत्त को केवल फुलके ही खाऊंगा ।' अब आप ही बताइए कि एक गृहिणी, चाहे वह कितनी भी सुधङ्ग हो, ऐसे इमर्जेंसी केस में किस काम की और वह करेगी भी क्या ? अतः उन महाशय को मजबूर होकर भात ही खाना पड़ा ।

फिर उन्होंने भात, शहद और धी पर जो लम्बे-लम्बे हाथ भारे, बस कुछ न पूछिए । वे खाने वाले और ये देने वाले, फिर मैं दालभात में मूसलचन्द बनकर क्यों रोकूँ ? पर यह ग्रह्यभोज उनको पच भी जाता, तो भी कोई चिन्ता नहीं थी । २-४ दिन में इतिहासाचार्यजी की हालत पतली हो गई, दस्त लग गए । हम सब भी पूरी तरह हैरान । ऊपर से तुर्य यह कि कहते हैं : 'पण्डित जी ! मालूम पड़ता है कि पेट में किसी तरह का विष चला गया है । अच्छा पण्डित जी, अब मैं महाप्रयाण करता हूँ । डॉक्टरोंने मेरे लिए भात मना कर दिया था ।' पर भात देखा कि फिर उन्हें रोकना फूंक से पहाड़ उड़ाने के समान ही था । गीले चावल पकाने में जरा ज्यादा समय लगता है । पर जरा सी देर हो जाए कि इतिहासाचार्य जी का ताण्डव नृत्य शुरू हो जाता था । और यदि जल्दी दे दिया, तो भात को दबा कर कहते कि 'देखो, ये मुझे ऐसे दबाकर मार डालेंगे ।' इतना सब होने पर भी ये बड़ी ही शान्ति से उनकी सेवा में मशगूल । पर मैं सोचती कि ये महाशय कब अपने घर जाएं और कब हमें चैत लिले । उस बत्त मुझे इन पर बहुत गुस्सा आया । एक तो भरपूर परिश्रम करके चीजें बनायें, उसपर ऐसी ऊटपटांग बातें सुनें । पिताजी (मेरे श्वसुर) के समय से आज तक कोई भी ऐसा दिन नहीं आया कि जिस दिन भोजन पर कोई अतिथि हाजिर न हो । पर इनके शासन में 'दुर्वासा' सदृश अतिथियों की ही अधिकता रहती है ।

ऐसे कितने मनोरंजक संस्मरण सुनाऊं । अब तो बास्तव में ये मनोरंजक ही प्रतीत होते हैं । अब पुत्र पौत्र आदि छुट्टियों में घर आते हैं, तो ये उनका भरपूर मनोरंजन करते हैं । 'पेट भर कर खाया न ? खूब खाओ । खाकर जल्दी क्यों उठ गए ? खूब सोओ और खूब खेलो' इस प्रकार अपने

प्यार की वर्षा उन पर ये हमेशा करते हैं, मानों वे भी कोई अतिथि हों। उनकी पढ़ाई तथा और कामों की खूब प्रशंसा करते हैं। अब भी अपनी सबसे छोटी पीत्री क्षमा को संस्कृत और चित्रकला उतने ही उत्साह से सिखाते हैं।

इस कारण सब सम्बन्धी इस बात की प्रतीक्षा में रहते हैं कि कब छुट्टी हो और कब वे पारडी आवें। ये भी उन सबकी प्रतीक्षा करते रहते हैं। बच्चे दंगा करें, शौर करें या परस्पर कलह करें, पर ये कभी नाराज नहीं होते। इन का काम चलता ही रहता है। इसके विपरीत भोजन के समय बातचीत न हो, तो इन्हें अच्छा नहीं लगता। घर में बच्चों की भागदौड़ जल्दी है। बच्चों को अपने बाबा का तो डर होता ही नहीं, पर यदि मैं भी उन पर नाराज होती हूँ तो वे कहते हैं—‘मोठी आई (दादी) ! देख बाबा कैसे चुपचाप बैठे रहते हैं, और एक तू है कि बिना बात हम पर नाराज होती है। उन्हें हमारे कारण कष्ट कहां होता है ? वे अपना काम तो करते ही हैं।’

इसी प्रकार मैं उन्हें ७५ वर्षों से देखती चली आ रही हूँ। इसी प्रकार मैं आगे भी दीर्घकाल तक देखती चली जाऊँ और हम सबको उनका सहवास मिलता रहे, यही अम्बाबाई (पंडित जी की कुल देवता) के चरणों में प्रार्थना है।

● ● ●

हमारे आशुतोष बाबा

(सौ. लतिका सातवलेकर)

[श्री सातवलेकर जी की पुत्रवधु द्वारा घरेलू जीवन के पहलू पर प्रकाश]

यहां ‘आशुतोष’ शब्द का प्रयोग मैंने जानवूभकर किया है। तीर्थरूप बाबा के बारे में यह शब्द विल्कुल सार्थक है। मुझे पिछले कई वर्षों से बाबा की सेवा करनेका अवसर मिल रहा है। इसे मैं अपना सौभाग्य ही समझती हूँ कि मुझे घर बैठे ही गंगा मिल गई है।

बाबा सचमुच आशुतोष हैं। भगवान् आशुतोष शंकर के गुणों का साक्षात्कार उनमें किया जा सकता है। भगवान् शंकर हलाहल विषको भी पचा जानेवाले हैं, औढ़र दानी हैं, निष्ठृह तथा छल-कपट से कोसों दूर हैं। इसी प्रकार बाबा भी कई बार लोगों की कदु आलोचनाके शिकार हुए, पर इस कदु आलोचना के विषको भी वे पचा गए। एक घटना याद आती है। किसी पत्रमें बाबाका एक लेख छपा था। उस लेख के प्रत्युत्तर में एक पाठक का पत्र आया कि आपने वेदमंत्रों के अर्थ का

अनर्थ कर डाला है, आपने अपने यश को कलंकित किया है, इत्यादि। इस पत्र को पढ़ कर वे हाँसे और उसे चुपचाप एक ओर रख दिया। मैंने कई ऐसे लेखक भी देखे हैं, जो अपनी आलोचना पढ़ या सुनकर एकदम लालपीले हो जाते हैं। यह असहिष्णुता मैंने बाबा में कभी नहीं देखी।

बाबा में एक और विशेषता मैंने देखी कि वे उन मनुष्यों को भी शरण दे देते हैं, जो बाद में इनके लिए भी घातक सिद्ध हुए। एक बार की घटना है कि एक आदमी बाबा के पास आकर कहण स्वर में बोला कि मैं अपने परिवार के साथ बहुत दूर से यात्रा करता हुआ चला आ रहा हूँ, बलसाड़ स्टेशन पर मेरी किसी ने जेब काट ली, अब मैं असहाय हो गया हूँ। मेरा परिवार स्टेशन पर पढ़ा हुआ है, आप कुछ रूपये दे दीजिए। बस, बाबा का हृदय द्रवित हो गया और कुछ रूपये उन्होंने उसको दे दिए। बाद में मालूम पड़ा कि उसकी कथा एक फरेब थी। इसी प्रकार एक व्यक्ति जेल से छूट कर आया, उसे बाबा ने मण्डल के प्रकाशनों का एंजेंट बना दिया, उसने भी कई हजार का धोखा दिया। इस प्रकार अपने जीवन में बाबा ने कई बार धोखा खाया, पर फिर भी इनके मस्तिष्क का सन्तुलन बिगड़ते मैंने नहीं देखा।

बाबा को मैंने कभी भी छल-कपट का आसरा लेते हुए नहीं देखा। हृदय से सरल, वाणी से मधुर, कर्म में कुशल साक्षात् कर्मयोगी। पहले बाबा बहुत कोधी थे, एक बार मेरी एक पुत्री ने कुछ शौतानी की, इस पर बाबा बहुत नाराज हुए, और उसे खूब पीटा। पर वही बाबा अब इतने शान्त हो गये हैं कि क्रोध नाम की कोई चीज ही उनमें नहीं रही। कोई कुछ भी कह ले, कभी नाराज नहीं होते।

बाबा सदा से ही स्वावलम्बी रहे हैं, अतः इस वृद्धावस्था में भी वे किसी से किसी प्रकार की सहायता लेने में हिचकिचाते हैं। यही कारण है कि अपने अस्वास्थ्य की दशा में भी बाबा की यही भरसक कोशिश रहती है कि अपना काम स्वयं ही करें। मेरे पतिदेव, माताजी, सभी यही कहते हैं कि आप अपने कमरे में ही रहिए, आपका दूध, नाश्ता, भोजन सब वहीं पहुँचा देंगे। वे हां, हां करते रहेंगे, पर जब नाश्ते का समय आएगा, तो भोजन कक्ष में कुर्सी पर बिखाई देंगे। कोई कितना भी कहे, सुनेंगे सबकी, पर करेंगे अपने मन की। एक दिन बाबा की जांघ में दर्द उठा और उस कारण थोड़ी हरारत भी हो आई। डॉक्टर आया, परीक्षा की और दर्दाई देकर बोला कि अब २-३ दिन पूरा आराम करें। उधर डॉक्टर की पीठ फिरी कि बाबा बिस्तरे से गायब और हमने जाकर देखा तो कार्यालय में अपनी कुर्सी पर बिराजमान थे।

बाबा सम्मान से सदा भागते हैं। कई बार वे कई सभाओं के अध्यक्ष बने, पर घर में उनके अध्यक्ष बनने का कुछ भी पता नहीं। एक बार हिन्दी साहित्य सम्मेलन (प्रयाग) ने उनको 'साहित्य वाचस्पति' की सम्मानित उपाधि देने के लिए बम्बई में एक विराट् सम्मेलन का आयोजन किया था। पर इस बारे में मेरे पतिदेव या घर के किसी सदस्य को कुछ भी पता नहीं था। ठीक उनके जाने के दिन किसी प्रकार बाबा के बम्बई जाने का रहस्य-स्फोट हो गया। उसी समय हम सबने भी बम्बई चलने की तैयारी शुरू कर दी। यह देखकर बाबा बोले, 'मैं जाता तो हूँ, एक दो दिन में वापस आ जाऊंगा। तुम सबके चलने की क्या जरूरत है?' ऐसे हैं हमारे तीर्थरूप बाबा।

मैं अपनी भावना कैसे व्यक्त करूँ ?

(श्री वसन्तराव सातवलेकर)

[ज्येष्ठ पुत्र द्वारा लिखित पण्डित जी के जीवन की एक झलक]

हमेशा की तरह पण्डित जी से मिलने मेहमान आए हुए थे। वे प्रदन पूछते जाते थे और पण्डित जी उत्तर देते जाते थे। इस प्रकार प्रश्नोत्तर में करीब ११-२ घण्टे बीत गए। मैं मुद्रणालय में बैठा अपना काम कर रहा था। इसी बीच घर में बुलावट हुई। घर जाने पर मेरी पत्नी लतिका ने कहा—“ये सज्जन डेढ़ दो घण्टे से बराबर बोलते जा रहे हैं। बातचीत बन्द होने का कोई लक्षण नहीं दीख रहा। अतः जो करना हो, कीजिए।”

ये सज्जन कौन हैं, कहां से आये हैं, आदि सब जानकर मैं सीधे पण्डित जी के अध्ययनकक्ष में गया। अतिथि महोदय को प्रणाम करके मैंने उन्हें अपना परिचय दिया और कहा—“मेरे विचार में अब आप थोड़ी देर के लिए अपना बार्तालाप बन्द कर दें तो अच्छा हो। बहुत देर से आपका यह बार्तालाप चल रहा है। थोड़ा आराम कर लें। पण्डित जी को लगतार इतनी देर बुलवाना ठीक नहीं।”

मेरी बात पूरी होने भी नहीं पाई थी कि पण्डित जी बीच में हीं बोल पड़े—“नहीं ! नहीं ! मुझे कोई कष्ट नहीं होता। आप कहते चलिए।”

मेहमान दुविधा में पड़े कि क्या किया जाए। किसकी बात मानें ? अन्त में मैंने ही कहा—“देखिए, पण्डित जी जो कहते हैं, वह सच है। उनका मन उत्साही तरुण है, इसलिए उन्हें कष्ट न भी होता हो, पर हमको और आपको उनकी आयु का भी रुखाल रखना चाहिए। इसलिए यही अच्छा है कि आप बातचीत थोड़ी देर के लिए बन्द कर दें।” यह सुनकर पण्डित जी हँस दिए और अतिथि महोदय भी उठ गए।

हमेशा ऐसा ही होता है। मुझे हर बार इसी तरह का कठोर व्यवहार करना पड़ता है। बाहर से आने वाले अतिथियों को मेरा यह व्यवहार कदाचित विचित्र सा लगता है कि पण्डित जी के पुत्र होकर भी ऐसा रुखा व्यवहार ये क्यों करते हैं ? तब मुझे स्पष्ट करना पड़ता है कि “पण्डित जी स्वाध्याय मण्डल के अध्यक्ष एवं संचालक तो हैं ही, साथ ही मेरे पिता भी हैं। हमारे परिवार के सदस्यों को दोनों तरह की जिम्मेदारियां सम्भालनी पड़ती हैं। पिता के रूप में और संस्था के अध्यक्ष के रूप में भी, उनके स्वास्थ्य की चिन्ता करती ही पड़ती है।”

नई जगह

बीस वर्ष पहले जब मैं, अपनी पत्नी और पुत्रियों के साथ सर्व प्रथम पारडी आया तो घर के सामने रंग बिरंगे फूलों से भरा हुआ सुन्दर बीचा देखा। इस जगह को देखने से पहले हमारे मन में डर था कि पता नहीं, नई जगह कैसी हो, उसे निवास योग्य बनाने के लिए कितना परिश्रम करना पड़े। पर यहां आकर इस स्थान को देखते ही हमारा सारा डर काफ़ूर हो गया।

हमारी बैलगाड़ी फाटक से प्रविष्ट होकर घर के सामने आकर खड़ी हुई। पण्डित जी बरामदे में ही भूले पर बैठे थे। हम गाड़ी से उतर घर की सीढ़ियाँ चढ़ ही रहे थे कि उन्होंने पूछा—“वसन्त ! यात्रा कैसी रही ? सब कुशल हैं न ? जगह पसन्द आई कि नहीं ?” हम सभी एकदम बोले—“जगह बहुत सुन्दर है, हमें बहुत पसन्द आई !” इन शब्दों को सुनकर पण्डित जी को सन्तोष हुआ, उनका चेहरा आनन्द से खिल उठा।

पर इस जगह को सुन्दर और स्वच्छ बनाने के लिए पण्डित जी ने कितना परिश्रम किया, इसका वृत्तान्त हमें माता जी ने सुनाया। पण्डित जी और माता जी हमसे पहले ही पारडी आ गए थे। मैं, पलीं व पुत्रियों के साथ औंध में ही रह गया था। औंध से संस्थान का सारा सामान पारडी जो भिजवाना था।

माता जी ने पारडी आते ही यह जगह जब देखी तो झट बोल पड़ी—“जगह भी आपने बहुत अच्छी खोजी है। इससे तो जंगल अच्छा है। वसन्त और उसकी लड़कियाँ आकर यह जगह देखेंगे, तो क्या कहेंगे ?”

सुनकर पण्डित जी हँसते हुए आत्म-विश्वास से बोले—“घबराती क्यों हो ? वसन्त के आने में अभी बहुत दिन हैं। तब तक देखना मैं किस तरह इस जगह को संवार देता हूँ ?”

उस वक्त पण्डित जी की उम्र ६१ वरस की थी। उस उम्र में भी पण्डित जी को अपना सारा संस्थान औंध से लाकर पारडी में फिर से खड़ा करने में फिरक नहीं हुई।

यहाँ आकर उन्होंने जगह साफ करवाई। घर की इमारत तो ठीक थी, पर चारों ओर भाड़-भँखाड़ उगे हुए थे। लेत भी व्यवस्थित नहीं थे। रात दिन स्वयं खड़े होकर पण्डित जी ने सारा अहाता साफ करवाया। घर के सामने एक छोटा-सा पर सुन्दर मनोरम उद्यान तैयार करवाया। छापाखाने की मशीनें अपनी नजर के सामने ही फिट करवाई और दशहरे के शुभ महूर्त पर एक शान्ति मन्त्र छपवाकर मेरे पास भेजा। तब मन ही मन मुझे अपने पिता के कर्तृत्व पर गौरव की अनुभूति हुई।

बाबू से बाबा

मेरा जन्म पंजाब में हुआ था, इसलिए मैं पण्डित जी को “बाबू जी” ही कहता था। पर मेरी लड़कियाँ उन्हें “बाबा” कहती हैं। इसलिए अब हम भी उन्हें “बाबा” ही कहते हैं। मुझे उनके साथ दो तरह से व्यवहार करना पड़ता है। एक नाता पिता पुत्र का है। उनके पुत्र के रूप में मैं उनके प्रति अपनी भावनायें व्यक्त ही नहीं कर पाता और वैसा करना ठीक भी नहीं है। भारतीय संस्कृति अपने प्रिय और श्रद्धास्पद व्यक्ति के प्रति केवल शब्दों से अपनी भावनाओं को व्यक्त करते को महत्व नहीं देती। भावना को शब्दों से नहीं, कृति से ही व्यक्त करना चाहिए।

बाबा मेरी श्रद्धा और भक्ति के पात्र हैं। उन्होंने आज तक कोई भी अपना काम मुझसे नहीं करवाया, अथवा करने के लिए कभी कहा भी नहीं।

जब पारडी आया

औंध का एक प्रसंग मेरी स्मृति में आज भी ज्यों का त्यों जड़ा हुआ है। दूसरी रियासतों की तरह औंध रियासत के चिलीनीकरण की बात चल रही थी। उस समय, रियासत के बड़े-बड़े ओहदे-

दारों की सूची में यदि नाम लिख दिया जाए तो भविष्य में आर्थिक और सामाजिक दृष्टि से बहुत लाभ होंगे, इस विचार से मुझे ऐसा पूछा गया "कि क्या तुम्हारा भी नाम उस सूची में लिख दिया जाए।" मेरे लिए तो वह भारी दुविधा का प्रश्न था। उस समय मैं अँधे रियासत की राजधानी की ग्राम पंचायतों का सरपंच और तालुका समिति का अध्यक्ष था। रियासत के विलीनकरण के बाद मैं मुक्त हो जाता और रियासत के सार्वजनिक कार्यों से मुझे छुट्टी मिल जाती। मैंने सोचा था, उसके बाद कोई उद्योग या व्यवसाय करूँगा। पर एक विचार यह भी मन में आया कि यदि बाबा की संस्था में मैं भी शामिल हो जाऊँ तो उनके पवित्र कार्य में मेरी थोड़ी बहुत सहायता रहेगी। आर्थिक लाभ तो स्पष्टतः नहीं था। पर संस्था का विस्तार इतना हो गया था कि घर के किसी मनुष्य की मदद आवश्यक हो गई थी। मैंने निश्चय कर लिया और रियासत की नौकरी को मैंने ठोक्कर मार दी।

स्वाध्यायमण्डल का मैं अवैतनिक मंत्री तो पहले से ही था, पर अब मैंने प्रत्यक्षरूप से संस्था के कार्यों में भाग लेने का निश्चय कर लिया और अपने इस निश्चय की सूचना मैंने बाबा को दे दी। उस समय उनके चेहरे पर मैंने आनन्द की जो झलक देखी, वही मेरी जीवन भर की सम्पत्ति है। उन्होंने मुझे आशीर्वाद दिया और मैं काम में लग गया।

अपना काम प्रारंभ करने के पूर्व उन्होंने सभी स्थितियाँ मेरे सामने स्पष्ट कर दीं—“इसमें तुम्हें आर्थिक लाभ नहीं होगा। शारीरिक व मानसिक कष्टों को भी सहना पड़ेगा। यह एक विलक्षण नैतिक जिम्मेदारी है। इसनिए मैं तुझसे यह नहीं कहूँगा कि तू यह काम अवश्य कर। तू यदि इसकी अपेक्षा अधिक सुख दायक और सुलभ नौकरी या कोई अन्य धन्धा करना चाहे, तो तू स्वतंत्र है। मैं उसमें भी तेरी सहायता करूँगा।”

यह सुनकर मुझ से रहा नहीं गया। मैंने कहा—“यदि संसार में घन ही कमाना सब मुझों का साधन हो तो भी मुझे उसकी चिन्ता नहीं है। मैं यहीं आपके पास रहूँगा। जो मुझ से होगा, कहूँगा। केवल आपका मार्गदर्शन और आशीर्वाद चाहता हूँ। आप यही समझें कि सब कुछ आप ही कर रहे हैं।” उनके बाद से आज तक उनके आशीर्वाद से ही मैं अपना काम करता चला आया हूँ।

वेदों के प्रकाशन और प्रचार का जो मन्दिर बाबा ने खड़ा किया है, उसकी नींव के रूप में ही क्यों न हो, यदि मेरा कुछ उपयोग हो सका तो यह मेरा सौभाग्य ही होगा। इसी विश्वास और श्रद्धा के साथ मैं अपना काम करता हूँ। इसी में मुझे शान्ति और सन्तोष मिलता है।

बाबा की सभी पुस्तकों में अनेक बार पढ़ गया हूँ। उनको पढ़कर मेरी यही इच्छा होती है कि सब काम छोड़ मैं भी बाबा से वेद पढ़ने लग जाऊँ। पर तब प्रबन्ध का काम कौन करेगा? इस अध्ययन से मुझे वैयक्तिक लाभ तो जरूर होगा, पर सारे संसार में वेदज्योति फैलाने का बाबा का ध्येय मूर्तरूप कैसे धारण कर सकेगा?

कल क्या होगा?

बाबा ने यह संस्था खड़ी की और उनकी कल्पना के अनुमार ही इस संस्था का काम भी चल रहा है। पर उनके जीवन का व्यावहारिक पक्षसदा से कमज़ोर रहा। उन्हें सभी लोग अपनी तरह ही सरल-हृदय दीखते हैं। उन्हें अनेक बार काफी बड़ी रकमों से हाथ धोना पड़ा। पर उन्होंने

यह सब बड़े ही शान्त चित्त और धीरंभीर वृत्ति से सहन किया। इसी कारण कभी-कभी आर्थिक अड़चन मार्ग में बाधक बन जाती है। पर परमेश्वर पर बाबा की अगाध श्रद्धा और निष्ठा है।

“कल क्या होगा” का प्रश्न अनेक बार आकर उपस्थित हो जाता है, पर अगले दिन ही कहीं से पैसा आ जाता है और सारी समस्या हल हो जाती है। बाबा हमेशा यही कहते हैं—“जगन्नियन्ता संकटों से ही मार्ग बताता है। आवश्यकता केवल इस बात की है कि मनुष्य स्वयं को पूरी तरह उसके हाथों में समर्पित कर दे। श्रद्धा एवं निष्ठा से परमात्मा की शरण में जाकर उसे अपनी कठिनाइयां सुनाये। वह निश्चय से उसे दुखों से तार देगा।”

घड़ी की सुई सी विनचर्या

बाबा का दैनन्दिन कार्यक्रम घड़ी की सुई की तरह विलकुल नियमित रहता है। वे सबेरे ५ बजे उठते हैं। एक दिन थोड़कर बाढ़ी बनाते हैं। तब तक नौकर स्नान का पानी तैयार कर लेता है। स्नान करके धुले हुए कपड़े पहन कर पूजाघर में चले जाते हैं। वहां करीब घण्टे डेढ़ घण्टे तक पूजा, ध्यान और प्राणायाम करते हैं। वहां से बाहर आकर एक प्याला गाय का दूध पीते हैं। दूध पीकर आठ बजे के करीब अपने अध्ययन कक्ष में चले जाते हैं। वहां लिखते-पढ़ते हैं। करीब नौ बजे तक डाक आती है। डाक में आये हुए पत्रों के उत्तर स्वयं लिखकर उसी दिन दे देते हैं। दस बजे के करीब फिर दूध और फिर अध्ययन कक्ष में १२ बजे तक काम करते हैं। १२ बजे भोजन का समय होता है। तभी मैं मुद्रणालय से घर आता हूँ। साथ बैठकर भोजन करते हैं।

उनका भोजन बहुत साधारण होता है। ११-२ फुलके, दाल और शाक। मिर्च, मसाला; खटाई आदि का हमारे भोजन में अभाव रहता है। भोजन के बाद बाबा दो बजे तक आराम करते हैं। ठीक दो बजे वे फिर अध्ययन-कक्ष में आ जाते हैं। दोपहर ३ के करीब एक प्याला दूध लेते हैं। उसके बाद फिर ६ बजे तक काम करते हैं। ६ बजे बरामदे में जाकर भूले पर बैठते हैं, जहां वे बाहर से आए हुए लोगों से बातचीत करते हैं। ७ बजे सायं संध्या के लिये चले जाते हैं। संध्या करते-करते आठ बज जाते हैं। आठ बजे भोजन करके थोड़ी देर तक रेडियो पर समाचार आदि सुनते हैं। ठीक नौ बजे सोने के लिए चले जाते हैं।

उनका यह कार्यक्रम विलकुल निश्चित है। उनकी दर्धायु का कारण उनकी यह नियमितता, ध्यान और प्राणायाम है।

एक बार बाबा के अनुज स्वर्गीय सखाराम बापू (मेरे चाचा) हमारे यहां आये। उनका दैनिक कार्यक्रम देखा तो सभी कुछ अनियमित। सबेरे देर से उठना, आराम से दातुन कुल्ला करना, स्नान करके संध्यावन्दन—इसी सब में दोपहर के १-१। बज जाते। तब तक बाबा को भी उनकी प्रतीक्षा में बैठे रहना पड़ता। शाम को वे घूमने जाते तो ८। बजे लौटकर आते और तब तक हम सभी उनकी प्रतीक्षा में बैठे रहते। यह देखकर उन्होंने एक दिन मुझ से पूछा—“वसन्त ! क्या बाबा (पंडित जी) का यह कार्यक्रम प्रतिदिन विलकुल नियम से चलता है ?” मैंने उत्तर दिया—“चाचा जी ! घड़ी की सुईयां भले ही आगे-पीछे हो जाएं पर बाबा का कार्यक्रम कभी नहीं बदलता।” यह सुनने के बाद चाचा जी जब तक पारडी में रहे तब तक फिर कभी उन्होंने बाबा के निश्चित समय का अपलाप नहीं होने दिया।

अपना हाथ, जगन्नाथ

बाबा को अनियमितता और दूसरों से अपना शारीरिक काम करवाना जरा भी पसन्द नहीं। उन्होंने के कारण हमारी भी यही आदत बन गई है।

कभी-कभी मेरे सिर में दर्द होने लगता है, पर अपने दर्द की शिकायत बाबा से करने का साहस मुझे नहीं होता। क्योंकि वे जाते ही नहीं कि सिर दर्द क्या बला है? उन्हें विस्तर पर पड़े रहना जरा भी पसन्द नहीं। कभी अकस्मात् वे अस्वस्थ हो जायें और डॉक्टर उनसे कहें कि आप आराम कीजिए, तो उस समय वे स्वीकार कर लेंगे, पर डॉक्टर के जाते ही उठ खड़े होंगे और अध्ययन कक्ष में जाकर बैठ जायेंगे। तब मुझे ठिठाई से कहना पड़ता है—“आप शान्ति से विस्तर पर लेटे रहें।” माता जी और लतिका (मेरी पत्नी) की बात को वे हँसकर टाल देते हैं, कहते हैं कि मुझे कुछ नहीं हुआ। तब माता जी कहती हैं—“आपको कुछ न हो, आप पहले के समान सब काम करते रहें, इसीलिए तो आपको आराम की जरूरत है।” ऐसी अवस्था में मैं जब तक घर में रहता हूं, तब तक तो वे विस्तर पर लेटे रहते हैं। पर इधर मैं छापाखाना में आता हूं और उधर वे अपने अध्ययन-कक्ष की तरफ चल देते हैं। अब उनसे कहा भी क्या जाये? उनकी मानसिक इच्छाशक्ति के सामने हमें ही भुक जाना पड़ता है।

बाबा ने वेदों पर आज तक जो काम किया है, उसको देखकर मुझे अभिमान होता है। ऐसे उदाहरण कम ही देखने में आते हैं, जब एक ही आदमी ने अपने ध्येय की पूर्ति के लिए कार्य का इतना बड़ा पहाड़ खड़ा कर दिया हो। बाबा का यह निश्चित मत है कि इस संसार में कोई भी ऐसी समस्या नहीं है जिसका समाधान वेदों में न हो। इसीलिए वेदों को सर्वसाधारण तक पहुंचाने के लिए उन्होंने अपना सर्वस्व समर्पित कर दिया है। उनका विश्वास है कि यदि हरेक मनुष्य वेदों के कथन के अनुसार चले तो सारे संसार में सुख और शान्ति हो सकती है।

बाबा इतने वर्षों से वेद भगवान् की सेवा करते चले आ रहे हैं। वे आगे भी इसी प्रकार करते चले जाएं और हमको उनकी सेवा करने का अवसर दीर्घ काल तक मिलता रहे, यही भगवान् से प्रार्थना है।

● ● ●

यमराज के सिर पर पांव

(आचार्य अभयदेव, श्रीअरविन्द निकेतन, चरथावल)

जब हम गुरुकुल में विद्यार्थी थे तब श्री पं० सातवलेकरजी प्रतिवर्ष गुरुकुलोत्सव की साहित्य परिषद में वेद पर एक निबन्ध पढ़ा करते थे। वैसे हमें याद है 'वेद में रोगजन्तु शास्त्र' 'वैदिक सम्यता का एक अंश' आदि अनेक लेख प्रत्येक बार वेद के एक पहलू पर प्रकाश डालने वाले होते थे। हम विद्यार्थी उत्सुकता से देखने लगते थे कि इस बार पंडित जी वेद पर क्या लिख कर लाते हैं। इस प्रकार बेद पर लिखना उनका वेद में प्रवेश था।

पं० जी ने विजनीर जेल में—क्योंकि जेल में धार्मिक पुस्तकें ही पढ़ने को दी जा सकती हैं, शायद सबसे पहली बार क्रहवेद की पुस्तक हाथ में ली। वेद पढ़कर उन्हें लगा कि उसमें तो बहुत उत्तम उत्तम बातें हैं। जब उन्होंने पूरी तरह वेद में लगने के लिए अपनी चित्रकारी की कमाई को छोड़ा तो वह उनके जीवन में एक बड़ा भारी परिवर्तन था, बड़ा भारी त्याग था। तब वे औंध (जिला सतारा) में 'वैदिक धर्म' मासिक चलाते हुए वेदों के ही कार्य में लग गये। उनकी वेद-सेवा सुविदित है। उनका मुझमें सदा प्रेम रहा है। एक बार उन्होंने मुझे लिखा था कि मैं 'वैदिक धर्म' का सम्पादक बन जाऊं।

मेरे आग्रह पर जब वे पांडिचेरी आश्रम में पधारे तो माता जी से मिलने पर उन्होंने अपना बनाया 'भारतमाता' का चित्र उन्हें भेंट किया। उन्होंने मुझसे स्वयं सुनाया था कि कैसे वे एक बार वेद-कार्य को छोड़ने वाले थे, सब तैयारी कर ली थी, परन्तु परमेश्वर की इच्छा कुछ और थी। अतः उसी समय किसी व्यक्ति ने कुछ हजार रुपये भेजकर उनसे शुद्ध-शुद्ध वेद छापने की प्रार्थना की। निस्संदेह उनका यह वेदकार्य परमेश्वर-निर्दिष्ट कार्य था।

जब वे ६० वर्ष के थे तो मुझे गुरुकुल सूपा जाने पर यह पता लगा कि पं० सातवलेकर जी का नया स्थान 'पारडी' समीप ही है। तब मैंने अपने साथियों से कहा कि मैं पारडी अवश्य होकर आऊंगा। मैं रात को नौ बजे पारडी पहुंचा। तब पंडित जी सोने वाले थे। फिर भी पता लगते ही पंडित जी उठ खड़े हुए और लालटेन जलाकर मुझे अपना आश्रम दिखाया। फिर उन्होंने मुझसे पूछा, आपकी कितनी आयु है। मेरे यह कहने पर कि ६० वर्ष है, वे बोले, मेरी आपसे ड्योढ़ी आयु है। सचमुच उनकी दीर्घ आयु का रहस्य उनके वैदिक जीवन में है।

'मृत्योः पदं योपयन्तः' की वे कैसी सुन्दर व्याख्या करते थे, हमें अच्छी तरह याद है। एक बार अपने भाषण में एक गुरुकुल के विद्यार्थी की तरफ सकेत करके कहने लगे 'देखो, यह ऐसे बैठा है जैसे कि २०० वर्ष का बुड़ा हो।' उनका बुड़ापा भी दो सौ वर्षों में आने वाला था।

जब उन्हें राष्ट्रपति ने सम्मानित किया तो मैंने पंडितजी से मजाक में कहा कि यह सरकार तो समझती है कि पंडितजी दो चार वर्ष जीवेंगे, अतएव उसने आपको प्रतिवर्ष कुछ रुपया देना

स्वीकार किया है। पर आप खूब देर तक जीइये और सरकार से रुपये लेते जाइये। तो मुझे वडे आत्मीयभाव से कहने लगे कि संकल्प तो लगाता हूँ पर अब कठिन होता जा रहा है। पंडितजी का सौ वर्ष का जीवन भी उनकी इष्ट से बहुत कम है। परमेश्वर उन्हें और चिरंजीवी करे—यही प्रार्थना उन जैसे यमराज के सिर पर पांव रखने वाले व्यक्ति के विषय में निकलती है।

धीर और ज्ञानी पं० सातवलेकर

(श्री धर्मदेव विद्यामार्तण्ड, आनन्द कुटीर, ज्वालापुर)

जनता की वेदों के प्रति निष्ठा को जागृत करने का अधिकतर श्रेय श्री सातवलेकर जी को देना सर्वथा उचित है, क्योंकि उन्होंने वेदविषयक विविध निवन्धों, पुस्तकों और वैदिक पाठ माला की पुस्तिकाओं द्वारा वेद और वैदिक-धर्म के प्रति जनता के ध्यान को अति विशेष रूप में आकर्षित किया है। उनकी मातृभाषा हिन्दी न होते हुए भी जितनी सरल संस्कृत-निष्ठ भाषा में वे अपने विचारों को पुस्तकों में प्रकट करते हैं, वैसा कम ही लेखक कर पाये हैं।

जब गुरुकुल कांगड़ी का प्रतिष्ठित स्नातक बनते ही मैं मई १९२१ ई० में वैदिक धर्म प्रचारार्थ दक्षिण भारत में गया, तो जिन पुस्तकों से हमें उधर के विद्वानों और छात्र वर्ग में वैदिक धर्म तथा साथ ही आयं भाषा (हिन्दी) के प्रचार करने में सबसे अधिक सहायता मिली, वह मान्य पं० सातवलेकरजी कृत बुल्लों की धर्म शिक्षा (२ भाग), वैदिक पाठमाला, सन्ध्योपासना, सन्ध्या का अनुष्ठान, ब्रह्मचर्य, योगसाधन, सच्ची शान्ति का सच्चा उपाय, एकेश्वर की उपासना, वैदिक प्राणविद्या, वैदिक धर्म का महत्व, वैदिक स्वराज्य का महत्व, वैदिक चिकित्साशास्त्र इत्यादि पुस्तकें ही थीं, जिनकी भाषा संस्कृतनिष्ठ होने के कारण दक्षिण भारत के लोग उन्हें बड़ी सुगमता से समझ सकते थे और उन्हें अत्यधिक पसंद करते थे।

मैंने और मेरी धर्मपत्नी देवी विद्यावती जी ने मंगलौर (द. कर्णाटक) बंगलौर इत्यादि में छात्र-छात्राओं तथा जज, बैरिस्टर, वकील, प्रोफेसर इत्यादि प्रतिष्ठित जनों को भी हिन्दी सिखाने के लिए बालकों की धर्मशिक्षा, वैदिक पाठ माला इत्यादि श्री पं० सातवलेकर जी द्वारा लिखित सरल हिन्दी पुस्तकें बहुत बड़ी संख्या में मंगवाईं, जिनसे हिन्दी सीखने के अतिरिक्त वैदिक धर्म की शिक्षाओं से भी लोग परिचित होते थे। धीरे-धीरे हम उनको वेद विषयक बड़ी-बड़ी पुस्तकें पढ़ने को देते थे। इस इष्ट से श्री पं० सातवलेकर जी ने वैदिकधर्म के प्रचारार्थ जो अत्यधिक महत्वपूर्ण कार्य

किया है उसका मुझे प्रत्यक्ष अनुभव दक्षिण भारत में लगभग २० वर्ष तक प्रचार करते हुए हुआ, जिसे मैं कभी भूल नहीं सकता ।

अपने विद्यार्थी जीवन की दो अन्य बातों का उल्लेख करना भी मुझे उचित प्रतीत होता है, जिनका लगभग ५०वर्ष बीतने पर भी मुझे भलीभांति स्मरण है। रुद्रदेवता विषयक व्याख्यानमाला में (जो सन् १९२० के लगभग गुरुकुल में दी गई थी) पण्डित जी ने बड़े दृढ़विश्वास के साथ कहा था कि मैं १२० वर्ष तक जीऊँगा। अब शताब्दी तो वे पूरी कर ही चुके हैं, आशा है कि वे योगी-राज श्री कृष्ण के समान १२० वर्ष की आयु प्राप्त कर लेंगे।

दूसरी घटना, दुखजनक होते हुए भी स्मरणीय है, सन् १९२१ के प्रारम्भ की है। मान्य पण्डित जी का सुपुत्र ब्र० नरदेव, जो गुरुकुल कांगड़ी के महाविद्यालय विभाग का ब्रह्मचारी था, विषम ज्वर से अचानक पञ्चत्व को प्राप्त हो गया। सूचना मिलने पर मान्य पं० सातवलेकर जी गुरुकुल में आये, किन्तु यह देखकर हम सबको बड़ा आश्चर्य हुआ कि उन्होंने अन्येष्टिसंस्कार के समय भी अत्यन्त धीरता का परिचय दिया और एक भी अंसू उनकी आंखों से किसी ने बहता हुआ नहीं देखा। तब हम लोगों को इन दो श्लोकों का विशेष रूप से स्मरण आया। “गतासूनगतासूनश्च नानुशोचन्ति पण्डिताः ॥” (गीता २।१) (अर्थात् पण्डित (ज्ञानी) लोग सूत अथवा जीवित किसी भी व्यक्ति पर शोक नहीं करते।) और “विकारहेतौ सति विक्रियन्ते येषां न चेतांसि त एव धीराः ॥” (कुमारसंभव) (विकार का कारण उपस्थित होने पर भी जिनके चित्त में किसी प्रकार का विकार वा विक्षोभ नहीं होता, वही धीर होते हैं।)

अपने सुपुत्र ब्र० नरदेव के शोकजनक देहावसान के पश्चात् की ही बात है। मेरे विषय में किसी ने मान्य पंडित जी से कहा कि धर्मदेव २, ३ दिनों में एक ट्रूङ्क लेने देहरादून जा रहा है, क्योंकि वहां ट्रूङ्क अच्छे बनते हैं। विनोदप्रिय पंडित जी ने तत्काल कहा—‘तब तो उसे पेन्सिल लेने के लिए जर्मनी जाना पड़ेगा, क्योंकि वहां अच्छी पेन्सिलें बनती हैं।’ नवयुवक पुत्र के देहावसान पर भी उनके इस विनोद को देखकर हम सब को बड़ा आश्चर्य हुआ था, पर यह उनकी धीरता का ही उदाहरण था, इसमें सन्देह नहीं।

उनके सरल, सौम्य तथा अत्यन्त नियमित जीवन, उनकी निरहङ्कारता, सज्जनता, वेदों के विषय में हड़ आस्था, वैदिक भावनाओं के प्रचार की लगन इत्यादि से मैं सदा अत्यन्त प्रभावित रहा। ऐसे अवसर आये जब कुछ मतभेद हो गया, तो भी उन्होंने कभी शिष्टता और सज्जनता का परित्याग नहीं किया। इस १०१ वर्ष की आयु में वे कितने अधिक क्रियाशील हैं, यह देखकर मेरा मस्तक इन आदर्श कर्मयोगी, वैदिक संस्कृति के उज्ज्वल मूर्तरूप, विशुद्ध स्वदेशभक्त के चरणों में स्वतः नत हो जाता है। छोटे से संस्मरणात्मक लेख को स्वनिर्मित इन श्लोकों के साथ समाप्त करता हूँ—

निष्ठा भारतसंस्कृतौ सुविदुषो यस्याचला विद्यते,
कार्येण विविधैः प्रसारकरणे गीर्वाणवाण्या रतः ।
वार्धक्येऽपि युवेव कर्मनिरतो योगस्य शक्त्या सुधीः;
मान्यः सातवलेकरो विजयते, सत्कर्मयोग्याग्रणीः ॥

मेधावी सुपरिश्रमी धृतियुतः, रुयातः कलावृद्वरो,
 वेदानां मननेऽनिशं रत इह, स्वार्थं विहायाखिलम् ।
 पत्रं वैदिकधर्मं संज्ञमिह यः सम्पाद्य लेभे यशः,
 मान्यः सातवलेकरो विजयते, सत्कर्मयोग्याग्रणीः ॥
 देवं सर्वसुखप्रदं प्रमुदितः, सं प्रार्थयेऽहं नतो,
 दीर्घायुः प्रददात्वसौ सुविदुषे, आरोग्यमत्युतमम् ।
 सेवा कार्यपरायणः सुविमलां, कीर्ति च सम्पादयन्,
 मान्यः सातवलेकरो विजयतां, सत्कर्मयोग्याग्रणीः ॥

जिस विद्वान् की भारतीय संस्कृति में अचल निष्ठा है, जो विविध कार्यों से गीर्वाणवाणी संस्कृत के प्रचार कार्य में रत है, जो सुधी योग की शक्ति के कारण वृद्धावस्था में भी युवक के समान कार्य में रत रहते हैं, वे सत्कर्म करने वालों में अग्रणी सन्मान्य सातवलेकर विजयी हों।

जो मेधावी, परिश्रमी, धैर्यवान्, कलाकारों में श्रेष्ठ, प्रसिंद्ध, सम्पूर्ण स्वार्थ को छोड़कर वेदों के मनन में सतत मग्न रहते हैं, जिन्होंने 'वैदिक धर्म' नामक पत्रिका का सम्पादन करके महान् यश प्राप्त किया, वे सत्कर्मियों में अग्रणी श्री सातवलेकर विजयी हों।

मैं न त होकर सर्व सुखप्रद परमदेव से प्रार्थना करता हूँ कि वह इन्हें उत्तम आरोग्य और दीर्घायु प्रदान करे; ताकि सेवा कार्य में परायण तथा सत्कर्मियों में अग्रणी ये सन्मान्य सातवलेकर विमल कीर्ति प्राप्त करते हुए सदा विजयी हों।

● ● ●

वैदिक पुरुष

(श्री हरिशरण सिद्धान्तालंकार, दिल्ली)

सब दृष्टिकोणों से, वर्तमान समय में, यदि किसी एक पुरुष के लिये "वैदिक पुरुष" शब्द का प्रयोग किया जा सकता है तो वे हैं "श्रीपादद्वामोदर-सातवलेकर जी!" गांधी जी के युग से भी पूर्व, इन्होंने वेद के आधार से "स्वतन्त्रता का सन्देश" भारतीयों को सुनाया और ब्रिटिश सरकार इनकी ओर से आशंकित व भयभीत हो उठी। गांधी जी के चरखे को अपनाने का सन्देश भी इन्होंने "वेद में चरखा" नामक पुस्तिका से इस रूप में दिया कि किसी अन्य के लिये उस प्रकार

देना सम्भव न था। गोरक्षा के प्रचार के लिये इनकी लिखी पुस्तक से अधिक सुन्दर पुस्तक लिखना डुष्कर है। गुरुकुल विश्वविद्यालय कांगड़ी में पढ़ते समय श्री पण्डितजी के जो व्याख्यान सुने थे उनका स्मरण आज भी रोमांचित कर देता है। उस समय व्याख्यान का विषय पण्डितजी के व्यक्तित्व के रूप में सशरीर श्रोताओं के सामने साक्षात् उपस्थित हो उठता था।

श्रीपाद

गुरुकुल में पढ़ते समय इनकी चित्रकला में प्रवीणता का प्रत्यक्ष प्रमाण इससे अधिक और क्या हो सकता है कि इनका एक तैलचित्र उन दिनों (१५००) में हमारे सामने ही बिका था। उस तरह के कई मूल्यवान् चित्र उन्होंने गुरुकुल को दान दिये थे। पीछे में लाहौर में एक फोटोग्राफर के रूप में आजीविका करते हुए भी वेद के स्वाध्याय से विमुख न हुए।

कुछ मित्रों की प्रेरणा से इन्होंने फोटोग्राफी और चित्रकला को छोड़कर सारा समय वेद के लिये ही अर्पित करने का निश्चय किया। उसी के परिणामस्वरूप “स्वाध्याय मण्डल” की स्थापना हुई और “वैदिक धर्म” पत्रिका का प्रकाशन प्रारम्भ हुआ। वेद सम्बन्धी उनका कार्य इतना अधिक है कि सब भारतीय विद्वानों का सम्मिलित कार्य भी उससे कम ही पड़ता है। इस प्रकार जीवन में इन्होंने “ज्ञान” को सर्वोपरि स्थान दिया।

ज्ञान के साथ ही दूसरे स्थान पर “हृदय की पवित्रता” को उन्होंने महत्व दिया। किसी का अपकार करने का विचार भी उन्होंने हृदय में कभी नहीं आने दिया। कार्य की क्षमता बनाये रखने के लिये उन्होंने शारीरिक स्वास्थ्य पर भी पूरा ध्यान दिया। आसन व प्राणायाम का प्रचार ही प्रचार न कर पूर्णरूप से आचरण भी किया। यह आचरण ही इनके दीर्घायुष्य व स्वास्थ्य का मूल कारण बना। “ज्ञान, पवित्रता, स्वास्थ्य (शक्ति) के बाद इन्होंने “श्री” को अपने जीवन में स्थान दिया। “पाद” शब्द के अर्थ—“चतुर्थांश” का ध्यान करते हुए इनका “श्रीपाद” यह नामांश कितना सुन्दर है कि (श्रीः पादः पस्य) जिनके जीवन में श्री एक चतुर्थांश मात्र है, अन्य तीन प्रमुख अंश तो “ज्ञान, पवित्रता व स्वास्थ्य” ही है।

दामोदर

यह ज्ञान लूचि, पवित्रता व स्वास्थ्य इनके जीवन में कभी सम्भव न हो पाते थे वे “दामोदर” न होते। दामोदर का भाव है “दाम उदरे यस्य”—जिन्होंने उदर पर दाम अर्थात् रस्सी बांधी हुई है। इन्होंने सदा इन्द्रियजय को महत्व दिया। आसन व प्राणायाम का आचरण इस कार्य में उनके लिये बड़ा सहायक सिद्ध हुआ। सब इन्द्रियों को वश में करते हुए इन्होंने विशेष रूप से “स्वादेन्द्रिय” को वश में किया। ये सातवले के लिए नहीं, प्रत्युत् प्राण धारण के लिये ही भोजन को अपनाने वाले बने। स्वाद को मारने में समर्थ हुए। यथार्थ रूप में ये “दामोदर” बने।

सातवलेकर

इस प्रकार “ज्ञान, पवित्रता, स्वास्थ्य श्री” को सिद्ध करते हुए ये “सातवलेकर” बने—(सातेन वले करी यस्य; साते Pleasure, delight; वलन् moving)—प्रसन्नतापूर्वक कर्तव्य कर्मों को करने में तत्पर होथों वाले बने। उन्होंने वेद के इस आवेदा को कि “कुर्वन्तवेहे कर्माणि

जिजीविषेच्छतं समाः” जीने का प्रयत्न किया। उन्होंने वेद को पढ़ा, उसे समझा और जीवन में चरितार्थ किया। यही इनके जीवन का महान् सौंदर्य है। यह जीवन किसको प्रेरणा देने वाला न होगा? आर्य जाति इस जीवन से अपने को सदा गौरवान्वित समझेगी।

[यह स्मरणीय है कि लेखक के पिता, लायलपुर-निवासी श्री लक्ष्मणदास आर्य, उन व्यक्तियों में से थे जिन्होंने लाहौर में ही पण्डितजी की प्रतिभा से प्रभावित होकर उनसे अनुरोध किया था कि और सब काम छोड़कर वे वेद के स्वाध्याय में अपना जीवन लगा दें। पण्डितजी अपने हितेषी मित्रों की सम्पत्ति का कितना आदर करते थे, यह उनके बाद के जीवन से स्पष्ट है। —सम्पादक]

● ● ●

पंडित सातवलेकर के प्रेरणा स्रोत :

महर्षि दयानन्द

(श्री वीरेन्द्रसिंह पमार, दिल्ली)

जब हम पं० श्रीपाद दामोदर सातवलेकर की वैदिक विचारधारा का अध्ययन करते हैं तो

उनकी धारणा यह प्रतीत होती है कि वेद मन्त्रों के मूल पाठ अथवा संहिताओं को कंठस्थ करने मात्र से वेदों का ज्ञान नहीं हो सकता, उसके लिए तो वेद मन्त्रों के अर्थ जानने होंगे और वह भी सही अर्थों में। इसी उद्देश्य की सिद्धि के लिए उन्होंने वेदों का स्वाध्याय और वेद मन्त्रों का भाष्य प्रारम्भ किया। वे उत्कृष्ट वैदिक साहित्य को सरल और सुबोध भाषा में जनसाधारण के लिए सुलभ करना चाहते हैं, क्योंकि उनकी मनीषा उस बद्धमूल रूढिवाद की विरोधी है जिसने वेदों को विशेष व्यक्तियों अथवा व्यक्ति-समूहों की सम्पत्ति बनाकर जनता को उस अमूल्य निधि का लाभ उठाने से वंचित कर दिया था।

श्री सातवलेकर जिस कुल में उत्पन्न हुए और जिस वातावरण में पले, उससे उनके मन पर वैदिक संस्कृति का प्रभाव अवश्य पड़ा, परन्तु वेद सम्बन्धी प्रचलित रूढियों से दूर हटकर वेद के सम्बन्ध में क्रान्तिकारी विचार धारण करने में जिस महान् स्रोत से उन्हें प्रेरणा मिली, वह हैं महर्षि स्वामी दयानन्द। महर्षि दयानन्द ने वेदोद्धार करने का संकल्प किया था। उन्होंने उस समय प्रचलित सामणाचार्य तथा महीधर द्वारा किये गये वेद भाष्यों का अध्ययन किया। उन्होंने देखा

कि इन तथाकथित वेदविदों ने वेद मन्त्रों के अर्थं पौराणिक विचारधारा तथा जड़ पूजा के आधार पर किये हैं। पाश्चात्य विद्वानों पर भी सायणादि भाष्यकारों का ही प्रभाव पड़ा और उन देशों में वेदों को पुराकालीन इतिहास एवं भौगोलिक स्थिति का परिचय कराने वाले तथा आलंकारिक कथाओं वाले ग्रंथों की संज्ञा दी गई। वेदों की अपीरुषेयता एवं उनके अखिल ज्ञान भंडार होने की बात को मैक्समूलर आदि विद्वानों ने अमान्य कर दिया था। कुछेक पाश्चात्य विद्वान् तो वेदों को 'गडरियों के गीत' भी कहने लगे थे। उनकी दृष्टि में भारत की प्राचीन परम्परा, वैदिक संस्कृति और वेद-प्रतिपादित धर्म कपोल कल्पना-प्रधान रह गये थे।

दयानन्द की देन

वेद विषयक इस प्रकार के भ्रामक प्रचार और अज्ञान को देखकर महर्षि दयानन्द का मन उद्वेलित हो उठा। "कि करोमि क्व गच्छामि को वेदानुद्दरिष्यति" की इसी पृष्ठ-भूमि में उन्होंने संकल्प किया कि वेदों का वास्तविक रूप सर्वसाधारण के समक्ष रखूँगा और सर्वत्र व्यापक अविद्यान्धकार को दूर करूँगा। इसीलिए उन्होंने वेदमन्त्रों का सत्यार्थ करने के लिए 'निरुक्त' को आधार बनाया और सिद्ध किया कि वेदमन्त्रों में जिन शब्दों का प्रयोग किया गया है उनका अर्थ सामान्यतः प्रयुक्त लौकिक संस्कृत शब्दों के अर्थों से भिन्न है। मन्त्र के ऋषि, देवता आदि को ध्यान में रखकर सन्दर्भ के अनुसार ही मन्त्रों की व्याख्या करना—यही प्राचीन ऋषि-प्रणाली है और उसी के द्वारा सत्यार्थ प्रस्तुत किया जा सकता है।

विद्याओं का भंडार

महर्षि ने वेदों को "सब सत्य विद्याओं का पुस्तक" घोषित किया और उन्होंने वेदमन्त्रों में गुह्यत्वाकर्षण, गणित, ज्योतिष, आयुर्वेद, द्वूरसंचार, वैमानिकी आदि विद्याओं की विद्यमानता को सिद्ध किया। महर्षि द्वारा रचित 'ऋग्वेदादि भाष्य भूमिका' में ये सभी सिद्धान्त विशद रूप से वर्णित हैं। उन्होंने स्वरचित 'सत्यार्थ प्रकाश' के षष्ठ समूलास में यह सिद्ध किया कि वेद और स्मृतियों में राज्यवासन, सैन्य संचालन आदि का भी वर्णन है। उन्होंने वेद को 'अखिल ज्ञान भंडार' के रूप में प्रस्तुत कर उसे सर्वोपरि और अपीरुषेय सिद्ध किया। उपनिषद, ब्राह्मण, आरण्यक, स्मृति आदि ग्रंथ वेदोत्तरकालीन हैं और वेदाध्ययन में सहायक होने पर भी परतः प्रमाण है, स्वतः प्रमाण नहीं। इस प्रकार महर्षि दयानन्द तत्कालीन समाज में क्रान्तिकारी विचारक एवं वेदोद्धारक के रूप में सामने आये।

अरविन्द की साक्षी

पंडित सातवलेकर के समकालीन योगिराज तपस्वी अरविन्द ने भी इस तथ्य को स्वीकार किया है कि महर्षि दयानन्द ने वेदों का स्वतन्त्र रूप से चिन्तन किया और वेदमन्त्रों का अर्थ करने में निरुक्त का आशय लिया। अपनी पुस्तक "आौत दि वेद" में अरविन्द घोष लिखते हैं कि लोकमान्य तिलक की पुस्तक "आर्कटिक होम इन दि वेदाज़" में वर्णित विषय यूरोपियन विद्वानों की विचारधारा से प्रभावित है; और टी० परमशिव ऐयर ऋग्वेद को भौगोलिक वर्णन का ग्रन्थ मानते हैं। परन्तु महर्षि दयानन्द के सम्बन्ध में उनके निम्नलिखित शब्द महत्त्वपूर्ण हैं—

"It is remarkable attempt by Swami Dayananda, the founder of the Arya Samaj, to re-establish the Veda as living religious scripture. Dayananda took as his basis a free use of the old Indian philology which he found in Nirukta.....Dayanada's interpretation of the hymns is governed by the idea that the Vedas are a plenary revelation of religious, ethical, and scientific truth. Its religious teaching is monotheistic and the vedic gods are different descriptive names of Deity; they are at the same time indications of His Powers as we see them working in Nature and by a true understanding of the sense of the Vedas we could arrive at all scientific truths which have been discovered by modern research."

यद्यपि योगिरांज अरविन्द स्वामी जी की इस बात से पूर्णतः सहमत नहीं हो पाये कि वेदों में वर्तमान विज्ञान की सभी बातें उपलब्ध हैं, परन्तु उनके उपरोक्त उद्धरण से यह स्पष्ट है कि वर्तमान युग में वेदों के सम्बन्ध में नई दिशा देने और वेद मन्त्रों का अर्थ स्वतन्त्र रूप से करने में वे भी महर्षि दयानन्द को ही प्रथम अग्रदृत मानते हैं।

पंडित सातवलेकर का जीवन चरित्र पढ़ने के बाद यह सन्देह नहीं रह जाता कि महर्षि दयानन्द ही उनके प्रेरणा-स्रोत हैं। उनके प्रारम्भिक जीवन का काफी भाग आर्य समाज और उसकी संस्थाओं के निकट समर्पक में व्यतीत हुआ है। वहीं से उन्हें यह गुरुमन्त्र—"वेद सब सत्य विद्याओं की पुस्तक है" प्राप्त हुआ है। वेद मन्त्रों के अर्थ प्रतिपादन में प्रचलित परम्परा को न अपना कर महर्षि ने स्वतन्त्र मार्ग अपनाया था। पंडित सातवलेकर ने भी उसी विचार-दिशा को आधार बनाकर अपनी वैदिक लेखमाला में न केवल वैज्ञानिक विषयों का विवेचन किया है, अपितु शासन-व्यवस्था, सैन्य-व्यवस्था, अर्थ-व्यवस्था आदि के सम्बन्ध में भी वैदिक दृष्टिकोण पर विशद प्रकाश डाला है। महर्षि दयानन्द ने जिस वेद यज्ञ का उद्यापन किया था, पंडित सातवलेकर अपनी ज्ञानाग्नि से उसी को सतत जागरूक रखे हुए हैं।

● ● ●

सातवलेकर का जीवन-दर्शन (श्री राठ टिकेकर, बम्बई)

जिस समय पंडित सातवलेकर ने योवन में पदार्पण किया उस समय राष्ट्रीय आनंदोलन शैशवांस स्था में था। युवकों के लिए आनंदोलन का आकर्षण प्रत्यक्ष था। लोकमान्य तिलक और पंजाबकेसरी लाला लाजपतराय जैसे महायुरुष लोगों में पूजे जाते थे, भले ही उनके बारे में सरकार की केसी भी राय क्यों न रही हो। कांतिकारी आनंदोलन युवकों के हृदय को अधिक आकर्षित करता था। समूह बनाकर कांति के उन्नायकों के बारे में बात करना, उनके अभियानों के बारे में पढ़ना और छुप-चाप उनकी पूजा करना, यह कइयों की गुप्त दिनचर्या में शामिल था। ऐसी स्थिति में सातवलेकर से यह आशा करना कि वह इन गुप्त प्रभावों से अद्वृता रह जाएगा, यथार्थ से आखें मूद लेने के बराबर था। जहाँ एक ओर वे लोग जो सरकार को खुश करने में लगे थे, जनता की भर्तसना का शिकार होते थे, वहाँ दूसरी ओर वे लोग जो सरकार की नाराजगी बढ़ाने वाले कार्य करते थे, जनता के श्रद्धा-भाजन हो जाते थे। सातवलेकर के वेदों और अन्य संस्कृत ग्रंथों के अध्ययन के तरीके का दुहरा लाभ हुआ। उनके अध्ययन के ब्रिटिश-विरोधी परिणाम निकलने से जहाँ एक ओर जनता में उनका आदर बढ़ा और उनके व्यक्तित्व को वीरोचित परिवेश प्राप्त हुआ, वहाँ साथ ही साथ इससे ज्ञान के अपने रिक्ष के प्रति उचित अभिमान भी पैदा हुआ।

ईसाई मिशनरियों के कारनामों का भी उनके हृदय पर कम प्रभाव नहीं पड़ा। उन दिनों के ज्वलंत प्रश्न थे : पंडिता रमबाई का शारदा-सदन, एन० वी० तिलक (१८६२-१९११), गोरे शास्त्री और अन्य कड़यों का धर्मपरिवर्तन। हिंदुत्व का मजाक उड़ाने वाले मिशनरियों के प्रयासों के विरोध में बम्बई की गलियों और नुकङ्डों पर ईसाई धर्म पर प्रत्याक्रमण करने वाले विष्णु बुवा ब्रह्मचारी (१८२५-१८७१) के भाषणों को लोग अभी भूले नहीं थे। इसी का परिणाम यह हुआ कि सातवलेकर की वैदिक धर्म में निष्ठा बढ़ गई और वेदों के लिए मन में उत्कट अनुराग उत्पन्न हो गया।

जीवन जीने के लिए है

जहाँ तक मनुष्य-जीवन का और प्रत्येक व्यक्ति को अपने जीवन-काल में पूरा करने के लिए दिए गए कार्य का सम्बन्ध है, सातवलेकर जी का इड विश्वास है कि जीवन जीने के लिए है। उन्होंने अपने कई व्याख्यानों और वार्ताओं में मानव-शरीर को पवित्र माना है और उसे दुर्ग-रक्षित देवपुरी की संज्ञा दी है।

सातवलेकर इस पवित्र शरीर-बोध के उप-सिद्धांत के रूप में इसे नीरोग और सुहृद बनाने पर जो जोर देते हैं, उसका व्यावहारिक महत्व है। वे युवक और वृद्ध दोनों को समान रूप से क्रम-पूर्वक योगासन और दीर्घ प्राणायाम वाली क्रियायें करने के लिए उत्साहित करते हैं। अपते जीवन में उन्होंने इनका स्वयं प्रयोग किया है। जब भी कोई युवक मिलता है, तो इस धृद्ध पुरुष का पहला

प्रश्न अनिवार्य रूप से यही होता है कि तुम नियमित रूप से व्यायाम करते हो या नहीं। इस प्रश्न का पूर्वानुमान कर बहुत से आधुनिक युवा सातवलेकर जी की दहलीज पर फटकते ही नहीं।

यज्ञमय जीवन

वर्तमान पीढ़ी के लिए सातवलेकर जी की दूसरी अत्यंत व्यावहारिक शिक्षा समय के 'उपयोग' के संबंध में है। गाड़ी पकड़नी ही अथवा नियमित समय पर किसी को मिलने जाना हो, वे समय से आध घंटा या कुछ अधिक पहले पहुंच जाएंगे। वे खाली समय में सदा कुछ न कुछ गुनगुनाते मिलेंगे। वह संस्कृत का कोई श्लोक होगा अथवा गायत्री का जाप। इससे कोई सीधा अथवा प्रत्यक्ष लाभ होता है या नहीं, यह यद्यपि 'प्रमाणित' नहीं किया जा सकता, तो भी सातवलेकर को इससे बहुत लाभ हुआ है। उन्होंने कभी यह महसूस नहीं किया कि उनका समय नहीं कट रहा।

उनके सादे पर नपे-तुले आहार में गाय के दूध की प्रधानता है, जो वे दिन में तीन या चार बार लेते हैं। उनकी आदतें नियमित हैं, उनकी रुचि सादी है, वे रात में कभी देर तक नहीं जागते, वे मुबह जल्दी उठ जाते हैं और वैदिक युग के प्राचीन ऋषियों की तरह उषः काल के सौन्दर्य का पान करते हैं।

उनकी आयु को देखते हुए उनकी आंखों और कानों की शक्ति आश्चर्यजनक रूप से अच्छी है। यद्यपि यह सच है कि वे मोतियाबिद का आपरेशन करवा चुके हैं। आज भी वे नियमित रूप से अपनी व्यक्तिगत चिट्ठियाँ स्वयं पढ़ते हैं और उसी दिन सभी चिट्ठियों का जबाब भेजने पर जोर देते हैं। 'पद्म-भूषण' की उपाधि से सम्मानित होने पर, वे हरेक का धन्यवाद करने की बात सोच रहे थे और चाह रहे थे कि सब चिट्ठियाँ अपने हाथ से लिखें। अंत में उन्हें अपने स्नेही पुत्रों के अनुरोध से विवश होकर समझौता करना पड़ा।

वेदों के सतत अनुशीलन, ऋषियों और देवताओं के क्रम से पाठ का निर्धारण और पुनर्निर्धारण करने से सातवलेकर जी को उनके गूढ़ अर्थ और प्रयोजन को उद्घाटित करने वाली अद्वितीय अन्तर्दृष्टि प्राप्त हुई है। साहित्यिक चर्चाओं में यह कहने की प्रथा सी पढ़ गई है कि वेदों का अर्थ दुरुह है, कुछ हजार वर्षों के लम्बे व्यवधान के दौरान उस समय प्रचलित पुराने शब्दों के अर्थ में काफी परिवर्तन आ गया है और अर्थ-परिवर्तन के बीच की कड़ियाँ लुप्त हो चुकी हैं। फलतः हम वेदों के अर्थ की संगति, शब्दों के जो अर्थ हम आज जानते हैं, उनसे लगाने का प्रयत्न करते हैं। सातवलेकर इसे बहुत बड़ी भूल मानते हैं। वे अपनी बात का समर्थन प्रबल युक्तियों से करते हैं। अश्वमेघ यज्ञ का जो अर्थ जन-साधारण आज लेता है उसका वह अर्थ नहीं है। अश्वमेघ सर्वोत्तम धोड़े को मारकर होम करने का नाम नहीं है, बल्कि उस उत्तम प्राणी का सम्मान करने का नाम है जो अपने स्वामी राजा की प्रभु-सत्ता के विस्तार के लिए सारे विश्व का चक्कर लगा आया है।

इसी प्रकार, उनके अनुसार, पवित्र वेद-वाणी में किसी भी भेद में पशुओं की हत्या करने का कोई विधान नहीं है। उन्होंने अनेक बार शास्त्रज्ञ पंडितों की सभा के सामने अपने पक्ष को भली भांति प्रमाणित किया है।

पुराने विचारों के धर्म-परायण लोग उनसे खुश नहीं हैं। उनकी दृष्टि में सातवलेकर ने दो गुरुतर अपराध किए हैं: (i) एक तो उन्होंने वेदों को, जो मौखिक परम्परा से रक्षणीय थे, मुद्रित किया

है; और (ii) दूसरे उन्हें इस प्रकार छपवाकर भीषण पाप किया है; क्योंकि अब पवित्र वेदों को हर कोई हाथ में ले सकता है, खरीद सकता है और पढ़ सकता है। इसे वे वेद-वाणी का धोर अपमान समझते हैं।

एक दूसरा वर्ग है, जो सातवलेकर जी से उनके आधुनिक ट्रिप्टिकोथ के कारण अप्रसन्न है। उन्होंने पारदी स्थित अपने वेद-मंदिर में पवित्र वेद-ग्रंथों के साथ-साथ कुरान, बाइबिल और जंद अवेस्ता रख रखे हैं। उनका कहना है कि इस ट्रिप्टिकोण का वेदों के प्रति परम्परागत आदर और श्रद्धा वाले ट्रिप्टिकोण से कोई मेल नहीं है। लेकिन सातवलेकर इसे कुछ भिन्न रूप में लेते हैं और अपने पक्ष का समर्थन अकाट्य युक्तियों से करते हैं। उनका दावा है कि वेद उस काल के हैं, जब विभिन्न धर्म-प्रवर्तनों को अपने-अपने धर्म का ज्ञान नहीं हुआ था। वे वेदों को मनुष्य का प्राचीनतम अभिलेख मानते हैं। इसके अतिरिक्त प्राचीनतम धर्म-ग्रंथ होने के कारण वेदों में किसी धर्म का खंडन नहीं है। अन्य धर्म-ग्रंथों को साथ रखने से वेदों की पवित्रता नष्ट नहीं हो सकती। पुण्यतोया गंगा की तरह, जिसके प्रवाह में मिल कर सब जल-धाराएं उसके प्रवाह की तरह ही पवित्र हो जाती हैं, वेद भी अन्य धर्म-ग्रंथों के सम्पर्क से दूषित न हो कर अपनी पवित्रता उनमें संक्रमित करेंगे।

सातवलेकर मनुष्य-मनुष्य के बीच मानव-र्निभित कोई अंतर स्वीकार नहीं करते; वे सब मनुष्यों का समान आदर करते हैं; वे किसी को धृणा की ट्रिप्ट से नहीं देखते। सच पूछिये तो यह अपने आप में ऊंची सिद्धि है।

संस्कृत प्रचार

संस्कृत के प्रसार के लिए सातवलेकर जी ने कई दायित्व अपने ऊपर ले रखे हैं। जब लोगों ने यह शिकायत की कि संस्कृत मृत-भाषा है और इसका अध्ययन करने की अब कोई आवश्यकता नहीं, तो उन्होंने सप्रमाण यह सिद्ध किया कि संस्कृत पाण्डुलिपियों में, जो कि अभी तक मुद्रित नहीं हो पाई है, डटना विशाल ज्ञान भरा हुआ है कि आज तक वह अद्यूता और अज्ञात है। अप्रकाशित और कभी-कभी तो सूचीबद्ध तक न की गई इन पाण्डुलिपियों को अनावश्यक और अवांछनीय कह कर एकदम अस्वीकार कैसे किया जा सकता है?

उन्हें जैसे ही वैदिक साहित्य में और रामायण-महाभारत में कोई नई चीज या कोई मौलिक विचार मिलता है, वे मुद्रणकारों के माध्यम से उसे जन-सामान्य तक तुरन्त पहुंचाने में कोई कसर नहीं उठा रखते।

गीता की टीका

रामायण और उपनिषदों से संबंधित उनकी लंबी भूमिकाओं से उनके मौलिक ट्रिप्टिकोण का पता चलता है। लेकिन उनके मौलिक चिंतन का सर्वोत्कृष्ट रूप भगवद्गीता पर उनकी पुरुषार्थ-बोधिनी टीका में मिलता है। आलोचकों ने इसे अपने ढंग की सबसे लंबी कृति माना है और अब तक इसका चार या पांच भाषाओं में अनुवाद किया जा चुका है। सम्भवतः यहीं पहले पहल व्यक्ति-वाचक नामों की व्याख्या करने का सफल प्रयास किया गया है। यहां भी आशावाद का स्वर मुख्य है।

'पुरुषार्थ-बोधिनी' में अपनी बात को स्पष्ट करने के लिए उन्होंने कई चारों का उपयोग किया है; गूढ़ बातों को समझाने में उनका यह मौलिक योग-दान है। अपने तर्क के समर्थन में उन्होंने

वेदों, महाकाव्यों अथवा अन्य ग्रंथों में अथवा उपनिषदों में अभिव्यक्त मिलते जुलते विचारों को उद्धृत किया है। एक ही निष्कर्ष की ओर ले जाने वाले उद्धरण इतने अधिक दिए गए हैं कि सातवलेकर का तर्क भटपट स्वीकार करना पड़ता है। आसानी से इसका प्रत्याख्यान नहीं किया जा सकता। सहस्रशीर्ष पुरुष (ऋग्वेद का पुरुष-सूक्त) और विश्व-रूप-दर्शन (भगवदगीता से) की कल्पना को वेदों और महाकाव्यों में आए समान वर्णनों की सहायता से समझाया गया है। निस्सदेह यह आश्चर्य की बात है कि विश्वरूप के संबंध में उन्होंने यजुर्वेद, अर्थवेद और दश उपनिषदों से उद्धरण दिए हैं। ग्रंथों के उनके अद्भुत ज्ञान के अनुरूप ही तर्कों को पांडित्यपूर्ण ढंग से प्रस्तुत किया गया है।

सन्यास अनावश्यक

सातवलेकर ब्रह्म-प्राप्ति के लिए सन्यास मार्ग के अवलंबन को अनार्थ विचार मानते हैं; उनकी यह मान्यता है कि बौद्ध धर्म वैराग्य-प्रधान था; उसी के प्रभाव के कारण ब्राह्मणों की 'आश्रम' व्यवस्था में चतुर्थ आश्रम के रूप में सन्यास का समावेश हुआ। यही कारण है कि उन्होंने १२० वसंत की आयु नियत कर, अंत तक कर्मयोग का पूलन करने पर बल दिया है। वास्तव में उनके कहने का आशय यह है कि कर्मयोग से कभी छुटकारा नहीं होता।

जो लोग किसी विशेष उद्देश्य के लिए अपना सारा जीवन अप्सित कर देते हैं, उनमें जीवन के व्यापक और बहुमुखी रूप की दृष्टि दुर्लभ हो जाती है। यद्यपि यह सच है कि सातवलेकर का जीवन वेदों के अध्ययन के लिए पूर्णतः अप्सित है, लेकिन यह भी उतना ही सच है कि जीवन के प्रति उनका दृष्टिकोण अधिक पूर्ण एवं अधिक व्यापक है और वे ज्ञान-विज्ञान के अन्य क्षेत्रों में हो रही उन्नति के प्रति सचेत हैं, उससे उदासीन और वेष्वर नहीं।

सातवलेकर जी अपने अनुभव के आधार पर इस निष्कर्ष पर पहुंचे हैं वि वेदों में अनेक रहस्य निहित हैं, किन्तु उनका ज्ञान तभी होता है जब वेदों का स्वाध्याय किया जाए।



बृहस्पति-सम व्यक्तित्व

(डा. सुधीरकुमार गुप्त, जयपुर)

पण्डित सातवलेकर की प्रतिभा प्रखर, सर्वतोमुखी और बृहस्पतिसम है। आपकी मेधा और स्मृति उत्तम है। आप की सी शांत मुद्रा अन्यत्र विरली ही भिलती है।

आपके लेखों और ग्रन्थों को पढ़ने से यह अनायास ही सुव्यक्त हो जाता है कि आप पर दयानन्दभाष्य की वेदार्थ पद्धति और उसकी विचारधारा का गहरा प्रभाव है। इसी कारण आप की वैदिकदेवताओं की कल्पना ब्राह्मणादि द्वारा अनुप्राणित दयानन्दीय सरणि पर है। अग्निदेवता के स्वरूप का विचार करने में कविक्रतु, सत्य और पुरोहित आदि पदों से यह निष्कर्ष निकाला है कि अग्नि केवल सामान्य आग का वाचक नहीं माना जा सकता। वह चेतनशक्ति का वाचक भी है। अंगिरस् अग्नि हमारे शरीर में कार्य करने वाला जीवनरूप अंगरस ही है।

पण्डित सातवलेकर के अध्ययन में, यज्ञ सृष्टिप्रक्रिया के रूप में उपस्थित होता है। उनकी दृष्टि में गोमेध गौओं के वध का द्योतक नहीं है। जिस प्रकार हठयोग में गोमांस विशेष परिभाषा है, तथा जिह्वा के तालु में प्रवेश का प्रकाशक है, उसी प्रकार गोमेध भी विशिष्ट परिभाषा है, जिसका प्रकरणानुसार अर्थ करना आवश्यक है। वैदिकयुग में मांसभक्षण की प्रथा का भी प्रचलन नहीं था, गोमांस के भक्षण का तो प्रश्न ही क्या है? यज्ञों में केवल धान्य-हवन ही होता था। पारसियों का गोमेध भी हिंसारहित है। गृहमेध और पितृमेध आदि में भी मेध का हिसा अर्थ नहीं है। वस्तुतः यज्ञ अध्वर-अहिंसापूर्ण है। गाय अधन्या है। उसके दुष्ठ से बनी वस्तुओं को ही भक्ष्य बताया गया है।

यूरोप के पण्डितों का कार्य बहुत खोजपूर्ण और परिश्रमजन्य होने पर भी पूर्वाग्रह से दूषित होता है। अपने देश में भी वेदाध्ययन में अंघविश्वास, दुराग्रह, हठ आदि से रहित केवल सत्यान्वेषण बुद्धि का अभाव है। यहां मतों की अधीनता ही प्रमुख है। पुराणों और आगमों का खण्डन भी इसी प्रवृत्ति से दूषित है। इस खण्डन में वेदज्ञान सम्भव नहीं।

पौराणिक कथायें अलग नहीं हैं, उनका सम्बन्ध संसार की सब जातियों की गाथाओं से है। सार्वदेशिक गाथाओं को अलग कर विशेष रीति से उनका अन्यास किया जाए। पहले भारत में प्रचलित पुराण, उपपुराण, तत्त्व तथा आगम की और अन्य गाथायें संकलित कर उनका विश्लेषण और तुलनात्मक अध्ययन किया जाए। सब जातियों में एक रूप में उपलब्ध गाथा का मूल वेद में अवश्य मिलेगा। ऐसी कथायें पौराणिकों की कपोल-कल्पना नहीं मानी जा सकतीं।

वेद का वैदिक धर्म समस्त भूमण्डल में प्रचलित था। इसके संस्कार सभी जातियों में अवशिष्ट हैं। उसकी जागृति नष्ट हो जूकी है। अतः सार्वत्रिक कथाओं के अध्ययन से वैदिक गाथाओं का गुह्य अर्थ जाना जा सकता है।

आपका विचार है कि वैदिक पदों का अर्थ मुख्य और गौण दृष्टियों से आंका जाता है। मुख्य दृष्टि से मन्त्रार्थ में मन्त्रस्थ प्रत्येक पद का अर्थ संगत होता है। गौण दृष्टि में लक्षणा द्वारा अर्थसंकोच करके केवल भाव ही देखा जाता है। इस द्विविध प्रक्रिया को ही निश्चकार आदि ने आध्यात्मिक, आधिभौतिक और आधिदैविक के रूप में प्रस्तुत किया है।

पं. सातवलेकरजी की वेदविषयक इस विचारधारा का और भी विस्तार किया जा सकता है, परन्तु इतने से ही उनका पर्याप्त परिचय मिल जाता है। एक स्थान पर आपने विल्सन को गुरु-बर्यं कहा है। इससे इतना अवश्य समझा जा सकता है कि वे पाश्चात्यों की विचारधारा से भी पूर्णतया परिचित हैं और उनके वैद्युष्य को स्वीकार करते हैं। नैश्च कौर पौराणिक विचारों की ओप तो सर्वत्र ही सुव्यक्त है। वेद का प्रचार करने के लिए आपने जो 'वेद-परिचय' तीन भागों में लिखा है, वह बहुत उपयोगी और राष्ट्रीय भावना भरने वाला है। इससे समस्त राष्ट्र में वेद का प्रचार हो सकता है। संस्कृत प्रचार के लिए भी सरल मुबोध उपायों का अवलम्बन किया है। धन की यथावश्यक सहायता न होने पर भी आप अपने कार्यक्रमों में अदम्य उत्साह से इस अवस्था में भी प्रवृत्त हैं।

पण्डित सातवलेकरजी के विषय में लिखने से लेखनी न ऊँकती है, न विरत होती है। वह निरन्तर चलना चाहती है। परंतु इतना ही कहकर सन्तोष करना पड़ता है कि ऋषि दयानन्द ने वेद की जिस ज्योति को जगाकर सुरक्षित रखने के लिए अपने जीवन की आहुति दी थी, पं. श्रीपाद दामोदर सातवलेकरजी ने उसे न केवल सुरक्षित रखा है, प्रत्युत उसे और आगे बढ़ाया है। आपने अपने ऋषि-ऋण को भली भांति चुकाया है। वास्तव में आप में अग्नि का तेज और गति, इन्द्र का ऐश्वर्य, शक्ति, उत्साह, कार्यदक्षता और विज्ञों की वश में करने की प्रतिभा, सविता के समान सृजकत्व और नवीन कल्पनायें, वरुण के समान व्रतधारण और क्षत्रश्रयत्व, रुद्र के समान अज्ञान व असंस्कृत के लिए प्रलयंकारित्व, मित्र के सदृश प्राणतत्त्व, उपस् के समान प्रकाशकत्व और सोम के समान शांति और सौम्यत्व कूट-कूट कर भरे हुए हैं।

● ● ●

सातवलेकर जी की वैदिक विचारधारा

(श्री श्रुतिशोल शर्मा, स्वाध्याय मण्डल, पारडी)

अर्वाचीन युग के वैदिक विचारकों को पांच वर्गों में बांटा जा सकता है—

(१) जो वेदों का पाठ मात्र करते हैं या उन्हें कण्ठस्थ करते हैं, पर इनके अर्थ पर विचार नहीं करते ;

(२) जो सायणाचार्य आदि भाष्यकारों के अर्थ को शब्दशः स्वीकार करते हैं। वेदों के राष्ट्रीय एवं सामाजिक पक्ष पर वे विचार ही नहीं करते। उनके मन में यह प्रश्न ही कभी उपस्थित नहीं होता कि यदि वेदों में उल्कृष्ट और उदात्त विचार हैं तो फिर वेदों में श्रद्धा रखने वाले हिन्दू समाज का यह अधःपतन क्यों हुआ ?

(३) जो किसी विशिष्ट सम्प्रदाय के अनुयायी होते हैं। उनके लिए अपने आचार्य द्वारा किए गए अर्थ ही सर्वोपरि होते हैं। इनकी श्रद्धा इतनी अविचल होती है कि यदि कोई इनके आचार्य द्वारा किए गए अर्थ के विपरीत कुछ बोले तो वह विद्वान् होते हुए भी इनकी नजरों से गिर जाता है। इस वर्ग के उदाहरण हैं आर्य समाजी विद्वान् ;

(४) आधुनिक विद्वान्। इनमें न किसी सम्प्रदाय का अभिमान होता है और न किसी सिद्धान्त का। जिस प्रकार चिकित्साशास्त्र का कोई विद्यार्थी शव की चीर फाढ़ ही किया करता है, उसी प्रकार इस वर्ग के आधुनिक विद्वान् वेद की शल्य किया किया करते हैं। केवल उपाधि प्राप्ति के लिए ये वेदाध्ययन किया करते हैं। जैसे चीर फाढ़ करने वाले के हृदय में शव के प्रति कोई ममता नहीं होती और अपने कायं के बाद वह कंकाल को उठाकर फेंक देता है, उसी प्रकार इन आधुनिक विद्वानों के हृदयों में भी वेदों के प्रति कोई ममता नहीं होती, वे अपनी उपाधि के लिए यथावश्यक चीर फाढ़ करने के बाद वेदों को उठाकर फेंक देते हैं। १९वीं शताब्दी के यूरोपीय विद्वानों के सम्पर्क में आने के कारण ही यह चौथा वर्ग अस्तित्व में आया है ;

(५) जो सभी भाष्यकारों के ग्रन्थों का अध्ययन तो करते हैं, पर किसी का अंधानुकरण नहीं करते, अपितु सब पर मनन करते हैं और उस मनन से उत्पन्न नवनीत लोगों के समक्ष प्रस्तुत करते हैं। ऐसे विद्वानों के वेदभाष्यों एवं अन्य ग्रन्थों में उनका व्यक्तिगत मनन अधिक होता है और अन्य भाष्य ग्रन्थों का अनुकरण कम।

वेदमूर्ति पंडित श्रीपाद दामोदर सातवलेकर की गणना हम इसी पांचवे वर्ग के विद्वानों में कर सकते हैं।

स्वतन्त्र चिन्तन

पंडित जी की वेद-विषयक धारणा औरों से भिन्न हैं। उन्हें वेदाध्ययन और वेद प्रचार की प्रेरणा महर्षि दयानन्द से ही प्राप्त हुई, पर वे महर्षि के अन्धानुयायी नहीं बन पाये। सायणाचार्य

के भी वे ऋणी हैं, पर उनके वेदभाष्य का आधार सायण भी नहीं है। पंडित जी आर्यसमाज के आधार-स्तम्भों में से एक रहे, पर उन्होंने महर्षि के भाष्य की कुछ विसंगतियां दिखाई जिससे वे आर्य समाजी पंडितों के रोष-भाजन भी बने। इसी प्रकार पंडित जी ने सायण को भी श्रद्धा की दृष्टि से देखा, पर उसके द्वारा पशुबलि के विधान का डटकर विरोध किया और इस प्रकार वे पौराणिक पंडितों के भी रोष-पात्र बने। तात्पर्य यह कि पंडित जी ने किसी एक भाष्यकार के साथ अपनी गांठ नहीं बांधी। जहां से रत्न मिला वहीं से उन्होंने छुन लिया।

व और अपौरुषेयत्व के विषय में पंडित जी की मान्यता मध्यगत है। उनका कहना है कि वेदों में ज्ञान परमात्मा का है, पर उस अमूर्त ज्ञान को मूर्त रूप प्रदान करने वाली शब्द योजना ऋषियों की है। परमात्मा ही उन ऋषियों के मुख से बोलता रहा है। “काय म्यां पामरे बोलावीं उत्तरे, परीं त्यां विश्वम्भरे बोलाविलें” (मैं अज्ञानी क्या बोल सकता हूँ, वह विश्वम्भर परमात्मा ही मुझ से बुलवाता है) सन्त तुकाराम की इस उक्ति की सत्यता वेदों के विषय में भी अक्षुण्ण है।

इसके बावजूद, पंडित जी की वेदों पर उतनी ही गहरी श्रद्धा है, जितनी अपौरुषेयवादियों की। उनकी मान्यता के अनुसार वेदों को केवल अध्यात्म शास्त्र का ग्रंथ मानना उनके महत्त्व को कम करना है। उनकी दृष्टि में वेद निराश-हताश, पराभूत, समाज में आत्मविश्वास, विजिगीषा, महत्त्वकांक्षा, सामर्थ्य और पराक्रम भरकर वैभव-सम्पन्न सात्त्विक जीवन निर्माण करने वाले असाधारण ग्रंथ हैं। यदि वेद के सिद्धान्तों पर आचरण किया जाए तो इसी मर्त्यलोक में स्वर्ग की स्थापना हो सकती है।

ग्रन्थों का वर्गीकरण

पंडित जी ने अब तक जितने ग्रंथ एवं लेख लिखे हैं, उनका वर्गीकरण इस प्रकार किया जा सकता है—

- (१) राष्ट्रीय और राजनैतिक विचार।
- (२) वैयक्तिक जीवन सम्बन्धी विचार।
- (३) तत्त्वज्ञान विषयक विचार, इसी को हम अध्यात्म विषयक विचार भी कह सकते हैं।
- (४) सामाजिक विचार।

पंडित जी की मान्यता है कि समस्त शास्त्रों का पर्यावरण मनुष्य की सर्वांगीण उन्नति में ही है। कोई भी ऐसा शास्त्र, जो केवल अध्यात्म ज्ञान ही मनुष्य को प्रदान करता हो, या अध्यात्म की तरफ प्रेरित कर ऐहिक जीवन विकृत कर देता हो, सर्वथा निरर्थक है। मनुष्य के लिए निःश्रेयस से पहले अभ्युदय कहीं अधिक आवश्यक है। जो राष्ट्र अशान्ति, अव्यवस्था, अराजकता और अत्याचार से ग्रस्त हो, उस राष्ट्र में अध्यात्म की चर्चा व्यर्थ है। शास्त्र से रक्षित राष्ट्र में ही शास्त्र की चर्चा हो सकती है।

राष्ट्रीय एवं राजनैतिक विचार —

वेदों ने सर्वप्रथम राष्ट्र की उन्नति का उपदेश मनुष्यों को दिया। अत्रि, गोतम, वसिष्ठ, कश्यप आदि जितने ऋषि थे, वे सभी राष्ट्रवादी लोगों की उन्नति करने वाले, अच्छे नेता एवं कुशल

कार्यकर्ता थे । ये सभी ऋषि राजाओं के पुरोहित थे । पर इन ऋषियों का पौरोहित्य धनांजन के लिए नहीं, राष्ट्र को और राजा को उन्नत करने के लिए होता था ।

वैदिक काल में पुरोहित सैनिक-शिक्षा, शस्त्रास्त्रों की व्यवस्था, किले तथा नगर की रक्षा, राष्ट्र की शासन व्यवस्था तथा नागरिक व्यवस्था आदि सभी तरह के कामों में कुशल होता था । इसी दृष्टि से पण्डित जी ने अत्रि-वसिष्ठ आदि ऋषियों का विवेचन किया । ('अत्रि ऋषि का दर्शन' नामक व्याख्यान पढ़िए)

श्री सातवलेकर ने ऋषियों को सर्वसामान्य के लिए आदर्श के रूप में चिह्नित किया है । निश्क्रियकार के "यथा कथं चिदपि निर्वक्तव्य एव" के अनुसार सभी नामों की यौगिक व्याख्या कर देने के पक्षपाती वे नहीं हैं । उनका कहना है कि ये ऋषि मानव के रूप में ही हमारे लिए आदर्श हो सकते हैं, मानवातीत तत्त्व के रूप में नहीं । वे ऋषियों को वास्तविक मानते हैं । इससे वेदों में इतिहास का आक्षेप आता है, पर इस आक्षेप से भयभीत होकर वे इन्हें सर्वथा यौगिक मानने को तैयार नहीं ।

विधान सभाओं के सदस्यों की योग्यता का वर्णन ऋग्वेद का निम्न मन्त्र करता है—

आ यद् वामोय चक्षसा मित्र वयं च सूर्यः ।

व्यचिठे बहु पाद्ये यतेभृहि स्वराज्ये ॥ऋ. ५।६।६।

"हे व्यापक दृष्टि वालो ! हे मित्रो ! हम सभी विद्वान् मिलकर ऐसे विस्तृत स्वराज्य के लिए प्रयत्न करें, जिसमें राष्ट्र का शासन बहुसंख्यकों के द्वारा होता हो ।"

इस मन्त्र में "बहुपाद्य स्वराज्य" की कल्पना बहुत उत्तम रीति से वर्णित है । इस "बहुपाद्य स्वराज्य" की सभा के सदस्य—(१) ईयचक्षा:—संकुचित दृष्टि वाले न हों । दूरदर्शी हों । राष्ट्र की आगे आने वाली स्थिति की पूरी-पूरी कल्पना उनकी आंखों के सामने हो । (२) मित्र—ये सभी सदस्य परस्पर हाथापाई करने वाले न हों, प्रत्युत परस्पर मित्रतापूर्वक व्यवहार करने वाले हों । (३) सूरि:—सभी विद्वान् हों, शास्त्रज्ञ हों, अंगूठा-बहादुर न हों ।

स्वराज्य की इससे बढ़कर उदात्त और उत्कृष्ट कल्पना और कौन-सी हो सकती है ? पण्डित जी उन लोगों से सहमत नहीं जो कहते हैं कि प्रजातन्त्र की कल्पना के लिए भारत पाश्चात्य देशों का अणी है ।

वैश्वकिक जीवन, तत्त्वज्ञान विषयक और समाज सम्बन्धी पण्डित जी की मान्यताओं पर भी इसी प्रकार विचार किया जा सकता है । वे सभी जीवन को उत्कर्ष की ओर ले जाने वाली हैं ।

ब्रह्मसत्रस्याहर्तारः श्रीसातवलेकरमहोदयाः (श्री युधिष्ठिरो मीमांसकः, भारतीयप्राच्यविद्याप्रतिष्ठानम्, अजमेर)

सत्रशब्दोऽयं वैदिकवाङ्मये विशेषतो याज्ञिकसम्प्रदाये तेष्वेव क्रतुविशेषेषु परिभाष्यते येषु सप्तदश ब्राह्मणकुलानि मिलित्वा क्रतून् समारभन्ते । तत्र य एव यजमानास्त एवर्तिंजो भवन्ति । तादृशि च सत्राणि द्वादशाहप्रभृतिसहस्रसंवत्सरसाध्यानि शास्त्रेषु विधीयन्ते । तादथु दीर्घसत्रेषु वर्तमानां नैरन्तर्यवृत्तिमवलम्ब्य सत्रशब्दोऽयमन्यत्रापि प्रवर्तते । तदथा—

दीर्घसत्रं ह वा एत उपयन्ति येऽग्निहोत्रं जुह्वति । एतद्वै जरामर्य सत्रं यदग्निहोत्रम् जरया ह वा एतस्मान्मुच्यते मृत्युना वा (शत० १२।४।११) इति ।

पञ्चवं भ्रात्यज्ञाः, तान्वैय महासत्राणि भूतयज्ञो मनुष्ययज्ञः पितृयज्ञो देवयज्ञो ब्रह्मयज्ञश्च (शत० ११।५।६।१) इति ।

उत्तरवाक्ये स्मृतो ब्रह्मयज्ञः स्वाध्याययज्ञ एव । तदुक्तम्—स्वाध्यायो वै ब्रह्मयज्ञः (शत० ११।५।६।३) । अयमेव ब्रह्मयज्ञः—य एवं विद्वान् अहरहः स्वाध्यायमधीते (शत० ११।५।६) इति नैरन्तर्येण विधानात् ब्रह्मसत्रम् इत्युच्यते । अत एव मनुनाप्यस्मिन् ब्रह्मसत्रे साक्षाद् अनध्यायप्रतिषेध-उक्तः । तथाहि—

वेदोपकरणे चैव स्वाध्याये चैव नैतिके ।

नैतिके नास्त्यनध्यायो ब्रह्मसत्रं हि तत्रस्मृतम् ॥ (२।१०५, १०६) इति ।

स्वाध्यायान्न प्रमदितव्यम्, स्वाध्यायप्रवचनाभ्यां न प्रमदितव्यम् (तै० उप०) इत्यादिषु श्रुतिषु श्रूयमाणः स्वाध्यायशब्दो वेदाध्ययनमेव ब्रवीतीति मीमांसकाः संगिरन्ते । अतएव मीमांसादर्शनस्य प्रथमे धर्मजिज्ञासानाम्न्यधिकरणे ‘स्वाध्यायोऽप्येतत्वम्’ इति विधिवाक्यमुपन्यस्य वेदाध्ययन-मेवानेन विधीयते । इति तत्र व्याख्यातार आहुः ।

यत् खल्वप्यग्निहोत्ररूपं सत्रम्, तस्य तु जरयाप्यवसानं विधीयते श्रुत्या । अतएव तद् दीर्घ-सत्रनाम्ना स्मर्यते । स्वाध्याययज्ञाख्यस्य ब्रह्मसत्रस्य तु मृत्युमन्तरेण नान्यकारणेनोपरमते । अतएव यान्यनारोग्याऽशौकादीन्यन्ययज्ञोपरमकारणाति विहिताति तैरप्यस्योपरतिर्न भवतीति ब्रह्मविदो वदन्ति । तस्मात् सर्वास्ववस्थास्वयं यज्ञः करणीय एवेत्यर्थाद् आयाति । श्रुतिरप्याह—तस्माद्वचं वा यजुर्वा साम वा गायां वा कुम्भां वाऽभिष्ठाहरेद् ब्रतस्याविच्छेदाय (शत० ११।५।७।१०) इति ।

उक्तश्रुतिस्मृतिविहितं ब्रह्मसत्रं मनसि विधायोऽर्यसमाजस्य प्रवर्तकेन तत्र भगवता दयानन्द-सरस्वतीस्वामिनाऽपि तृतीयनियमे ‘वेद का पढ़ना-पढ़ाना और सुनना-सुनाना सब आर्यों का परम धर्म है’ इत्येवं वेदाध्ययनमेवाऽर्याणां परमो धर्म इत्युक्तम् ।

अस्माकं मान्या ज्ञानवयोवृद्धास्तत्रभवन्तः श्रीपादामोदरसातवलेकरमहोदयाः श्रुतिस्मृत्युदितं यद् स्वाध्यायाख्यं ब्रह्मसत्रम् आजहू स्तदस्मिन् परमायुष्यपि परमश्रद्धया युवजनोचितोत्साहेन च

प्रत्यहमातन्यते । क्रष्णो दीर्घसन्ध्यत्वाद् दीर्घमायुरवाप्नुवत् (मनु०) इति स्मृत्यनुसारं सन्ध्याश्वयस्य ब्रह्मयज्ञस्य नैरन्तर्येणानुष्ठानादेव तत्र भवन्तो दीर्घयुष्ट्वम् अलभन्तेति निःसंशयं बवतुं शब्दयते । तत्र भवन्तः सातवलेकरमहोदया अपि स्वस्थ दीर्घयुष्यप्राप्ताविदं प्रधानं कारणमुररीकुर्वन्ति ।

अस्य ब्रह्मसत्यानुष्ठानमेतम्हाभार्गेन केवलं स्वात्मतृप्तय एवानुष्ठीयतेऽपि तु 'स्वाध्यायप्रवचनाभ्यां न प्रमदितव्यम्' इति श्रुत्यनुसारं समाजोपकृतयेऽपि प्रवचनरूपवेदव्याख्यानसंग्रथनेनापि सततं संतायते । वेदमधिकृत्य ये परःशतं ग्रन्थास्तत्र भवद्भिः प्रकाशितास्तैरयमार्यसमाजो वैदिक धर्मश्चात्यन्तमनुग्रहीतः । यद्यपि तत्रभवद्भिः प्रकाशितेषु ग्रन्थेषु यत्र तत्र विवदन्ते विद्वांसस्यथापि नैव विमतिमात्रेण महतोऽस्य कार्यस्य महत्वं किञ्चिद्दुह्सते । यतो हि विदुषां वैमत्यं तु खलु सर्वदाऽस्थाव, तिष्ठति, स्थास्थति च । मात्सर्य-परित्यागे इदमेव वैमत्यं 'वावे वावे जायते तत्त्वबोधः' इति सुभाषितवचनानुसारं तत्त्वबोधाय सहकारि सम्पद्यते । वस्तुतस्तु महाकविभवभूतिवचनानुसारम्—

ये नाम केचिदिह नः प्रथयन्त्यवज्ञां जानन्ति ते किमपि तात् प्रति नैष यत्नः ।

उत्पत्स्यतेऽस्ति मम कोऽपि समानधर्मा कालो ह्यां निरवधिविपुला च पृष्ठो ॥

इति भविष्यति कार्यस्यास्य महत्वमधिगमिष्यन्ति विद्वांसः ।

वेदाध्ययनरूपेण स्वाध्यायाख्येन महासत्रेण न केवलं तत्रभवद्भिः सातवलेकरमहोदयैर्दीर्घा-युष्ट्वमारोग्यं यशश्चैवाधिगतम्, अपितु

अथातः स्वाध्यायप्रशंसा । प्रिये स्वाध्याय प्रवचने भवतो युक्तमना भवत्यपराधीनोऽहरहरर्था-न्त्साध्यते सुखं स्वपिति परमचिकित्सक आत्मनो भवतीन्द्रियसंयमशब्दैकाकारामता च प्रज्ञावृद्धियंशो लोकपत्तिः प्रज्ञा वधंमाना चतुरो धर्मान् ब्राह्मणमभिनिष्पादयति ब्राह्मणं प्रतिरूपचर्या यशो लोकपत्तिः लोकः पच्यमानश्चतुर्भिर्भास्त्राह्मणं भुनक्त्यर्चया च वानेन चाज्येयतया चावध्यतया च (११।५।७।१)

इत्यस्यां शातपथश्रुतौ स्वाध्यायस्य यानि यानि फलान्युक्तानि तानि प्रायेण सर्वाण्येव फलान्यवाप्याऽस्याः श्रुत्या याथार्थ्यमपि प्रख्यापितम् ।

आशासे तत्र भवतां महाभागानां दिव्यजीवनसम्पादकं ब्रह्मसत्यमन्येऽपि वैदिका विद्वांसोऽनु-कृत्य स्वजीवनं सफलयिष्यन्ति ।

● ● ●

विभूति-पुरुष

पंडित सातवलेकर जी जैसे वेदज्ञ, प्रिय और सम्मान्य विभूति-पुरुष के सम्बन्ध में आप अभिनन्दन-ग्रन्थ प्रकाशित करने की योजना कार्यान्वित कर रहे हैं, आपके इस शुभसङ्कल्प को जानकर अत्यन्त आनन्द हुआ। व्रह्मणि, वेदमूर्ति, पंडित सातवलेकर से मेरा अनेक वर्षों तक घनिष्ठ सम्बन्ध रहा है, उसी के आधार पर कह सकता हूँ कि उनके कृतित्व का वर्णन कर सकने की पात्रता मुझमें नहीं है। आपका यह पवित्र संकल्प सफल हो, प्रभु के चरणों में यही प्रार्थना है।

नागपुर,

—माधव सदाशिव गोलवलकर

अवाचीन ऋषि

पंडित सातवलेकर जी वेद के प्रति निष्ठा, गहन अध्ययन एवं संशोधनपूर्ण वेद-व्याख्याओं के कारण अवाचीन ऋषियों की कोटि में आते हैं।

वेदाभ्यास एवं वेदादि के संशोधन के क्षेत्र में भारतीय विद्याभवन द्वारा जो कार्य हो रहा है उसके प्रति पंडितजी का अमित स्नेह एवं ममत्व है। समय-समय पर उनका औदार्यपूर्ण सहयोग भी भवन को प्राप्त होता रहा है। उनके सदाशयपूर्ण सहयोग एवं स्नेह से प्रेरित होकर भारतीय विद्याभवन ने दिसम्बर १९६६ में पंडितजी को 'वेदवाच-स्पति' की उपाधि से अलंकृत कर अपनी भावनाओं को प्रकट किया था।

पंडितजी गत वर्ष ही 'जीवेम शरदः शतं' के अनुसार जीवन के सी वर्ष पूर्ण कर चुके हैं। परमपिता परमात्मा से प्रार्थना है कि पंडितजी अनन्तकाल तक हमारे मध्य रहते हुए अचिल विश्व में प्राचीनतम वैदिक-साहित्य एवं वाङ्मय की सेवा कर यश अर्जित करते रहें।

भारतीय विद्याभवन,
बम्बई

—कन्हैयालाल माणिकलाल मुन्दी

दिव्य-ज्योति

(श्री सत्यपाल शर्मा, एम. ए., वेद शिरोमणि, दिल्ली)

दिव्य-ज्योति,
अध्यात्मवाद की
मानवता की;
शून्य में शान्त समुज्ज्वल
दीप-शिखा-सी निश्चल !
जीवन के कितने ही तूफानों में
निप्रनित्, सजग, सचेतन, पलपल ।

शून्य, सुविस्तृत
शरद् गगन-सा !
भंभा वर्षा से धुला धुला
स्वच्छ नीलिमा में धुला धुला
'भूमा ही सुख है अविनश्वर,
सीमितता छल है, औ' नश्वर'
सोच यही, खुद शून्य रहा
पर, जगती की
नक्षत्रों का
ऐश्वर्य लुटाता सदा रहा ।

मोहन की सुमधुर वंशी-सा
जिसमें लय है,
गति है, यति है,
तपः-साधना
योग-मूर्च्छना
ओत-प्रोत जिसके मन में;
गूंज रहे हैं अग जग कण भर
राम, कृष्ण, गीता वेदों के
मृदृ, मन्त्र, मधुर, कोमल
सप्त स्वर !!!

वह हिन्द महासागर-सा
विजयी
ऊंची से ऊंची जीवन की
लहरों में भी गम्भीर रहा
रह जागरूक, निश्छल, प्रहरी !
हँसते-हँसते सब दुःख सहा ।
कान्तिमान्, उज्ज्वल, सुन्दर मुख
जिस पर की अगणित रेखाएं
देख त्रुकीं अगणित मुख दुःख ।

प्रोन्नत ललाट
जिसके वर्चस् से
अपराजेय परास्त हुए ।
जिसकी ओजस्वी वाणी में
राष्ट्रभक्ति, बलिदान-भावना
छलक-छलक बिखरा करती है;
जिसके तेजस्वी लेखों से
गुरु, गम्भीर गगन में चित्रित
तारों से
जगमग फूल भड़ा करते हैं ।
संस्कृत, संस्कृति के अमर दूत !
भारत के पावन अमर पूत !!
युगपुरुष, सुयश, विद्वल्लाम् !!!
स्वीकार करो,
शतशत प्रणाम ।

सदा पात्रं तु वेदविद्

(श्री सौ. आर. स्वामिनाथन्)

आम्नायजातमखिलं यमुपेत्य कृष्णद्वैपापनं गतयुगे गतभीर्भूव ।

प्राप्ते कलौ खलजनप्रचुरे च लोके दामोदरादितरमादरवं न वेति ॥१॥

परं वृद्धभावोऽप्यनल्पप्रथत्नः सदा सप्रथत्नोऽपि निस्त्वार्थशीलः ।

सदा मोदरोष-प्रहीणोऽनुशेते स दामोदरः षट्पदो वेदपपदमे ॥२॥

येषां चित्ते भरतधरणीसंस्कृतिजागरूका नैजी गोत्रप्रवरसरणिः स्मारयत्याक्षतां स्वाम् ।

येषां वेदध्वनिमुखरितं भाति चार्योऽन्तरात्मा श्रीपादाये द्विजकुलमणी तेऽधर्मणा हि सर्वे ॥३॥

यन्निश्वासमया गिरोऽतिगुरुवो नैजप्रमाणायिताः धर्माधर्मविवेचनैकनिकषाः कालन्रयेष्यक्षराः ।

सोऽयं सर्वगतः पुराणपुरुषः स्वाम्नात्मारक्षितुं श्रीपादाङ्गिकतदामपूर्वमुदरं पायात् सहस्रं समाः ॥४॥

जो सम्पूर्ण वैदिक साहित्य श्रीकृष्णद्वैपायन व्यासको प्राप्त कर पूर्वं युग (द्वापर) में भय से रहित हो गया था, वह वेद-साहित्य इस कलियुग के प्राप्त होने पर तथा दुष्टजनों से भरे हुए इस संसार में (श्रीपाद) दामोदर के अलावा अन्य को आदर प्रदान करने वाले के रूप में नहीं जानता अर्थात् सम्प्रति वेदों का आदर करने वाला श्रीपाद दामोदर के सिवाय और कोई नहीं है ॥१॥

वे वृद्ध होते हुए भी अनल्प अर्थात् अत्यधिक प्रयत्नशील हैं, तथा हमेशा उत्तम रीति से प्रयत्नशील होते हुए भी निस्त्वार्थशील हैं, वे सदा मोद और रोष अर्थात् क्रोध से रहित हैं, ऐसे ये (श्रीपाद) दामोदर वेदरूपी कमल के पट्टपद अर्थात् भ्रमर हैं ॥२॥

जिनके हृदय में भरतभूमि की संस्कृति जागरूक है, जो अपने गोत्र और प्रवरों की सरणि की श्रेष्ठता का स्मरण दिलाती है, जिनकी कृष्णतुल्य अन्तरात्मा वेद-ध्वनि से मुखरित होकर तेजोयुक्त हो रही है, ऐसे सब विद्वान् द्विजकुल के मणि-श्रेष्ठ श्रीपाद के कृणी हैं ॥३॥

अति श्रेष्ठ, स्वतः प्रमाण, धर्म-अधर्म विवेचन की एक मात्र कसौटी, त्रिकाल-अविनाशी, वेदवाणी जिसके निश्वास के समान हैं, ऐसे सर्वव्यापी तथा पुराणपुरुष प्रभु वेदों की रक्षा के लिए श्रीपाद से अंकित दामपूर्वं उदर अर्थात् दामोदर (श्रीपाद दामोदर) की हजार वर्षों तक रक्षा करें ॥४॥

श्रीमतां, भरतवसुधामण्डनायमानानां,
 निरवद्य - विद्या - विद्योतिताशेषदिग्न्तराणां,
 महर्षि-वरेण्य-श्रीपाद-दामोदर-सातवलेकरमहाभागानाम्
 करपल्लवयोः
 श्रद्धाप्रसूनोच्चयः

१

या कण्ठपीठे चतुराननस्य
 नृथोत्सवं कौतुकिनी तनोति ।
 सा सर्वविद्याङ्कुरमूलभूमि-
 वाङ्गदेवता दीक्ष्यतु वेदरूपा ॥

२

आबाल्यादखिलात्मना भरतभूसौभाग्यसंवर्धनो
 विद्याकल्पलतावनान्तिकचरो विद्वन्मयूरोत्तमः ।
 राजत्सातवलेकराङ्नवयपयोरशोनिशानायको
 वन्द्योऽयं जगतीतले विजयतां श्रीपाददामोदरः ॥

३

या श्रेयांसि विवर्धयत्यविरतं, सूते विवेकात्मकं
 ज्योतिः किञ्चिदचञ्चलं, बलसमुल्लासं विधत्तेतराम् ।
 सा विद्वन् ! उपसेविता त्रिभुवनालङ्घनरभूता त्वया
 विद्या कामगवी निजामृतरसः पुष्णातु सर्वानिपि ॥

४

योगाभ्यासतपोमयेन महसा जित्वा जरां दुर्जयां
 व्याख्याभिर्विशदाशयाभिरभितः प्रोल्लास्य वेदप्रभाम् ।
 कल्याणाय जनस्य सन्ततमभिध्यायन्तमन्तः प्रभुं
 त्वां दिव्यं मुनिशेषवरं सुरगिरां पुष्टैः समभ्यमर्चये ॥

५

श्राम्यस्येव दिवानिशं परिमलौकम्पृणैर्नदय-
 स्थाल्हादं विपुलीकरोषि सुमनः सङ्गेन लीलायसे ।
 नौमि त्वां पवनोपमं सतिमतामुद्दोधनायाऽऽगतं
 श्रीपादार्पणं कारणावतरणं सन्तोषहेतुं भूवः ॥

उप-राज्यपाल इति सविनयमुपहरति
 राजनिवास, आदित्यनाथः
 दिल्ली



दिल्ली के फुटवाल स्टेडियम में सार्व-
जनिक अभिनन्दन समारोह में
श्री सातवलेकर जी

नई दिल्ली स्टेशन पर
पण्डित जी श्री कृष्णकुमार
चारला, श्री मनोहर विद्या-
लंकार और श्री क्षितीश
वेदालंकार के साथ





पारडी से नई दिल्ली स्टेशन पहुंचने पर पण्डित जी का स्वागत। चित्र में (बाईं ओर से) — श्री रत्नसिंह शापिंडल्य, श्री वसन्त सातवलेकर (पण्डित जी के सुपुत्र), पण्डित जी, नगर-पार्षद श्री विद्यारत्न, श्री देवेन्द्र कपूर और श्री वसन्तराव ओक



फुटबाल स्टेडियम में नागरिक अभिनन्दन समारोह के समय मंच पर (बाईं ओर से) — श्री माधवसदाशिव गोलवलकर (श्री गुह जी), दिल्ली के उपराज्यपाल श्री आदित्यनाथ भा, पण्डित जी, महापीर श्री हंसराज गुप्त और अभिनन्दन समिति के संयोजक श्री वसन्तराव ओक

दिल्ली के उपराज्यपाल
श्री आदित्यनाथ भा द्वारा
पण्डित जी को अभिनन्दन-
ग्रन्थ का समर्पण



महापौर श्री हंसराज गुप्त द्वारा
पण्डित जी को थैली भेट





राष्ट्रपति श्री जाकिर हुसैन द्वारा पण्डित जी का
‘पद्मभूषण’ की उपाधि-प्रदान द्वारा सम्मान



राष्ट्रपति भवन में ‘पद्मभूषण’ उपाधि प्रदान के पश्चात् पण्डित जी भारत के गृह मंत्री
श्री यशवन्तराव चव्हान के साथ। दाईं ओर पण्डित जी की पुत्रवधु सौ० लतिका बाई
और पौत्री सुश्री उषा सातवलेकर

आभन्नदन-समारोह

१४ अप्रैल, १९६८। वैशाखी और अष्टंकुम्भ के पुण्य पवं से ठीक अगला दिन। दिल्ली की ऐतिहासिक नगरी के दिल्ली गेट के बाहर फुटबाल स्टैडियम। चहार-दिवारी से घिरा, मख्मली हरी धास से ढका, प्रशस्त विशाल मैदान।

गेंद के पीले फूलों की बन्दनवारों और चारों कोनों पर पुष्पावैष्टित स्तम्भों से सजा, दुरध-धबल श्वेत आस्तरण से आच्छादित, मंच। मंच के पीछे श्वेत वस्त्र की पृष्ठभूमि पर रंगीन फूलों की कलियों से बना बृहदाकार छँ (ओंकार)।

मंच के नीचे अष्टवृत्ताकार रूप से रखी हजारों कुर्सियां और सबसे आगे की पंक्तियों में विशिष्ट अभ्यागतों के लिए रखे लाल रंग के सोफे। मंच की अगल-बगल बिछी स्वच्छ दरियां और शेष स्थान पर आस्तीर्ण हरित-मणि-सन्निभ शाहूल।

रंगों के इस जमघट पर चामीकर-चूर्ण सा छिड़कती अस्ताचलगामी भगवान् भुवन-भास्कर की स्वर्णिम आभा।

सायंकाल के पांच बजते-न-बजते जनता-जनादेन का पहले व्यक्तिशः और फिर समूहशः आना प्रारम्भ। किसलिए दिल्ली की यह जनता सहस्रों की संख्या में इस मैदान में उमड़ती आ रही है?

'पतन-अभ्युदय बन्धुरपन्था युग-युग धावित यात्री' से विश्वकवि रवीन्द्र ने जिस देश की उपमा दी है, उसी भारतवर्ष के हृदय की प्रतीक, राजधानी, यह दिल्ली नगरी भी इतिहास के काल-ऋग्म में उत्थान-पतन के प्रकीर्ण पन्थ की यात्रा करती हुई, इच्छा से या अनिच्छा से, अब तक न जाने कितने सेनाध्यक्षों, सत्ताधीशों और वैभव-पतियों का स्वागत कर चुकी है? परन्तु आज जिस महिमाशाली व्यक्तित्व के स्वागत के लिए जनता उमड़ी पड़ रही है उसके पास न सैन्य-बल है, न राज्य-बल है, न धन-बल है। धन-बल तो क्या, साधन-बल भी नहीं। पर हां साधना-बल अवश्य है।

साधना-बल का धनी वह व्यक्ति है—श्रीपाद दामोदर सातबलेकर। शास्त्रकार कहते हैं—“यो यच्छुदः स एव सः”—जो जिस पर श्रद्धा रखता है, वह वही बन जाता है। इस व्यक्ति ने भी वेद पर श्रद्धा रखकर उसका स्वाध्याय किया है। यही इसकी साधना है। इसीलिए वह साक्षात् वेदमय और वेदमूर्ति बन गया है।

आज की सम्यता ने सिखाया है कि हृदय की बात जबान पर न आवे और जबान की बात आचरण में कहीं दिखाई न दे। अर्थात् जो मन में हो, वह वचन में न हो, जो वचन में हो वह कर्म में न हो। और मन में क्या हो?—जो अवैदिक विचारधारा की चतुरस्र प्रस्तुत सौंकड़ों-हजारों पुस्तकों ने मन में भर दिया हो। वह तो गोपनीय होगा ही, उसे मुंह पर कैसे आने दिया जाए!

परन्तु यह व्यक्ति इस तथाकथित सम्यता से सर्वथा विपरीत है। जो इसके मन में है, वही इसके वचन में है, जो वचन में है वही इसके कर्म में है। और मन में इसके बया है? जो कुछ वेद में

लिखा है—वही इसके मन में बसा है। जो वेद में नहीं, वह इसके मन में भी नहीं। ऐसा है यह वेद का श्रद्धावान्। “श्रद्धावाल्लभते ज्ञानम्।” इसी श्रद्धा से यह ज्ञानी बना है। “मनस्येकं वचस्येकं कर्मप्येकम्”—मन-वचन-कर्म की एकता का साधक ऐसा अन्य व्यक्ति इष्ट के विस्तार तक कहीं न पथनगोचर नहीं होता। उसी व्यक्ति का दर्शन करने, उसकी वाणी सुनने, अमृत से लबालब भरे इसके जीवन-चयक से कुछ अमृत की बूँदें ग्रहण करके अपना जीवन धन्य करने, उसका स्वागत करने और उसके चरणों में अपनी श्रद्धांजलि व्यक्त करने के लिए उपस्थित हुआ है यह सुजन-समुदाय।

ठीक ६ बजे, और श्री सातवलेकर मंच पर चढ़ते दिखाई दिए। पश्चिमी समुद्र में डुबकी लगाने से पहले सूर्य भी एक बार आसमान से उक्कक कर देखने लगा कि मेरे सौर-जगत् के लघु अंग इस पृथ्वी नामक ग्रह पर यह कौन पुरुष-सूर्य विराजमान है! सातवलेकर को पहचान कर और आश्वस्त होकर सूर्य अपने नित्यकर्म में लीन हो गया। उसकी स्वर्णिम आभा गौरिक दीप्ति में बदल गई और मंच पर काशी के पण्डितों ने मंत्रपाठ प्रारम्भ कर दिया।

महापौर द्वारा

इसके बाद दिल्ली के महापौर श्री हंसराज गुप्त ने श्री सातवलेकर के जीवन तथा कार्य के महत्व पर संक्षिप्त प्रकाश डाला और समारोह के अध्यक्ष, दिल्ली के उप-राज्यपाल, श्री आदित्यनाथ भा का तथा पण्डितजी का पाटल-पुष्पों की माला से स्वागत किया।

उपराज्यपाल द्वारा

गीर्वाणवाणी के विष्ट विद्वान् श्री आदित्यनाथ भा ने पण्डितजी के स्वागत में, इसी अवसर के लिए विशेष रूप से लिखित स्व-रचित इलोक पढ़े (देखिए पृष्ठ २५०) जिन्हें सुनकर संस्कृतज्ञ जनता मुख्य हो गयी। उसके बाद अध्यक्ष महोदय ने अपने कर-कम्लों से पण्डित जी को प्रस्तुत अभिनन्दनग्रन्थ सादर समर्पित किया। ग्रन्थ-समर्पण के क्षण को कैमरे में बन्द करने के लिए कैमरामैनों की भीड़ मंच पर उमड़ पड़ी।

विभिन्न संस्थाओं द्वारा

उसके बाद जिन संस्थाओं की ओर से माल्यार्पण किया गया उनमें से कुछ प्रमुख नाम ये हैं: राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ, सावंदेशिक आर्यप्रतिनिधि सभा, आर्य केन्द्रीय सभा, प्रादेशिक रामायण सत्संग मंडल, प्रादेशिक हिन्दी साहित्य सम्मेलन, भारतीय साहित्य परिषद्, भारत विकास परिषद् और अ० भा० संस्कृत साहित्य सम्मेलन आदि।

सनातन धर्म के प्रतिनिधि द्वारा

उसके बाद अ० भा० हिन्दी साहित्य सम्मेलन के सूत्रधार श्री मौलिनन्द शर्मा ने हिन्दू-समाज और सनातन धर्म का प्रतिनिधित्व करते हुए कहा: “अब से २५ वर्ष पहले जब बम्बई में पण्डित जी को हिन्दी साहित्य सम्मेलन की ओर से ‘साहित्य वाचस्पति’ की उपाधि देने का भव्य समारोह हुआ था तब हम सब शंकित थे कि ७५ वर्ष की आयु में पण्डित जी को बम्बई में बुलाकर हमने

कष्ट दिया है, किन्तु अब उसके २५ वर्ष बाद भी उन्हें तरणोचित उत्साह से सम्मन्न और कार्यरत देखकर मुझे विश्वास हो गया है कि जैसे वेद और वैदिक संस्कृति कभी जीर्ण नहीं होते, वैसे ही वैदिक संस्कृति को आत्मसात करने वाला व्यक्ति भी कभी जीर्ण नहीं होता।”

आर्यसमाज के प्रतिनिधि द्वारा

आर्यसमाज के प्रतिनिधि के रूप में श्री ओमप्रकाश त्यागी (संसद् सदस्य) ने कहा : “वैदिक संस्कृति जड़ की नहीं, चेतन की उपासक है। सातार को सच्ची ज्ञान्ति यही चेतन्य की उपासना करने वाली वैदिक संस्कृति दे सकती है। परन्तु उसका असली स्वरूप समझना होगा। सातवलेकर जी ने वैदिक ऋषियों के आदर्श को ही अपने जीवन में चरितार्थ किया है।” उन्होंने सातवलेकर जी की ओर उन्मुख होकर भावुकतापूर्ण शब्दों में कहा : “हे ऋषि, भारत की इस जनता को ऐसा आशीर्वाद दो कि यह तब तक चैन से न बैठे जब तक जन-जन तक वैदिक धर्म का सन्देश न पहुंचा दे।”

साहित्यकारों के प्रतिनिधि द्वारा

इसके बाद दिल्ली के साहित्यकारों और बुद्धिजीवियों का प्रतिनिधित्व करते हुए प्रसिद्ध साहित्यकार श्री जैनेन्द्रकुमार ने कहा : “मैंने आजं अपनी आँखों से प्रत्यक्ष देखा है कि जीवन के वैदिक आदर्श को कैसे जीया जा सकता है। अवाचीन के वरण के लिए प्राचीनता को भुलाना नहीं है, प्रत्युत सत्य यह है कि प्राचीन निष्ठा के आधार पर ही जीवन का निर्माण सम्भव है। प्राचीन यदि ज्वलन्त और जीवन्त बनेगा तो हमारा भविष्य भी उज्ज्वल बनेगा।”

गुरु जी द्वारा

तदनन्तर सर संघ चालक श्री माधव सदाशिव गोलवलकर (पूजनीय गुरुजी) ने, जो इस समारोह के लिए ही विशेष रूप से विमान द्वारा उसी दिन दिल्ली पहुंचे थे, कहा : “अपने अत्यन्त व्यस्त जीवन में से मैं यथाकथंचित् सातवलेकर जी के अभिनन्दन-समारोह में सम्मिलित होने का अवसर निकाल सका, इसकी मुझे प्रसन्नता है। सातवलेकर जी का चिरकाल तक राष्ट्रीय स्वयं सेवक संघ के साथ सम्बन्ध रहा है। प्रान्त संघचालक के रूप में स्वयंसेवकों का जैसा अच्छा संगठन उन्होंने किया, वह उनके कर्तृत्व का प्रतीक है। ग्रांथ रियासत में राजतंत्र रहते हुए भी स्वराज्य की स्थापना का जो स्वप्न श्री सातवलेकर ने पूरा किया, उसमें उनके ग्रामरक्षक दल की बहुत बड़ी भूमिका थी। यह ग्रामरक्षक दल और कुछ नहीं, राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ का ही प्रतिरूप था।

“श्री सातवलेकर ने ऋषि दयानन्द द्वारा प्रदर्शित शैली पर वेदभाष्य करके वेदों में से अमूल्य रत्न निकाल कर जनता के सामने रखे। उनके द्वारा किए गए इस कार्य की सधनता और विपुलता को जब हम देखते हैं तो सहसा स्तब्ध रह जाना पड़ता है। उन्होंने केवल वेदों का स्वाध्याय और प्रचार-प्रसार ही नहीं किया है, प्रत्युत अपना जीवन वेद-प्रतिपादित आदर्शों के अनु-सार व्यतीत किया है। यही कारण है कि १०१ वर्ष की आयु में भी इनका उत्साह तरणों को मात करने वाला है। उनके इस तारण का एक प्रसंग मुझे याद आता है। एक बार संघ की रैली

हो रही थी। किशोरों, युवकों और बृद्धों की अलग-अलग टोलियां बनी हुई थीं। हम पण्डित जी को तलाश करने के लिए बृद्धों की टोली में पड़ुंचे। परन्तु पण्डित जी वहां दिखायी नहीं दिए। हमें आशचर्य हुआ कि पण्डित जी कहां गए। उसके बाद हम तरुणों की टोली की ओर मुड़े। उस टोली पर आंख घुमाते ही पण्डित जी दिख गए। हमने पूछा—“पण्डित जी, आप इस टोली में क्यों, आपको तो बृद्धों की टोली में होना चाहिए। यदि आप ही इस तरह अनुशासन की अवहेलना करेंगे, तो कैसे काम चलेगा?” पण्डित जी ने कहा : ‘‘मेरी आयु अस्सी वर्ष है, तो क्या हुआ, हूं तो मैं तरुण ही। चाहें तो तरुणों के किसी भी काम से मेरी तुलना कर लीजिए।’’ हम लोग इस उत्तर से हतप्रभ होकर रह गए।

‘‘पण्डित जी का जीवन क्या है, आशा और उत्साह का अक्षय उत्स है। इस अधिकाल्प व्यक्ति के पास वैठने और बातचीत करने से भी जीवन में आशा और उत्साह का संचार होता है। आशा सदा, निराशा कभी नहीं,—यही पण्डित जी का जीवन मंत्र है। हम सब भी इस मन्त्र की दीक्षा लें, तो हमारा कल्याण हो।’’

थैली भेट

इसके बाद महापौर श्री हंसराज गुप्त ने पण्डित जी को सादर थैली भेट की। तदनन्तर श्री सातवलेकर जी ने अपने स्वागत के लिए धन्यवाद अर्पित करते हुए संक्षिप्त भाषण दिया। (इसी पृष्ठ पर नीचे देखिए)।

अन्त में अभिनन्दन-समिति के संयोजक श्री वसन्तराव ओक द्वारा समागत सज्जनों का आभार व्यक्त किया गया और ‘वन्दे मातरम्’ के राष्ट्रगान के साथ समारोह समाप्त हुआ।

सूर्य भगवान् भी इस भव्य किन्तु सात्विक, और सौम्य किन्तु उत्साहवर्धक, समारोह की भावभरी स्मृतियां मन में लिए विश्राम के लिए चले गए और जगत् के लिए यह सन्देश छोड़ गए—जीवन में निराशा-निशा का अन्धकार क्षणिक है, वह तो कालचक्र की नियति भर है, शांखत तो है दिन का प्रकाश, आशा, जीवन, उल्लास और उत्साह; कल मैं नया प्रकाश लेकर आऊंगा। आशा और उत्साह का यह संदेश सूर्य का था या वातांकरण में व्याप्त सातवलेकर की बारी का?

संदेश तो अग-जग समस्त प्रकृति का यही है—सुनने वाला चाहिए।

सम्मान के प्रत्युत्तर में पण्डितजी का भाषण

माननोय अध्यक्ष महोश्य, सत्कार समिति के सदस्य एवं अन्य अभ्यागत समुदाय।

आप सब मेरा सम्मान करने के लिए इकट्ठे हुए, इसके लिए मैं आप सबका हृदय से आभारी हूं। पर मेरी मान्यता यह है कि आप सब यहां वेदों के प्रति अपना आदर भाव प्रकट करने के लिए ही एकत्रित हैं, क्योंकि वेद ही मेरे प्राण और जीवन हैं, वेदों के साथ मेरा तादात्म्य-सम्बन्ध है।

वैदिक संस्कृति वह अन्तःसलिला सरस्वती है, जो चिरकाल से लोगों को पावन करती चली आई है और अनन्त काल तक पावन करती चली जाएगी। वेदों के उद्गमस्थान से निकली हुई आर्य-संस्कृति की पावनधारा अक्षुण्ण है।

वेद समस्त धर्मों का मूल है। मनुजी ने तो धर्म को जानने की इच्छा करने वाले साधकों के लिए वेदों को ही परम प्रमाण बताया है। जो धारक तत्त्व हैं, वे ही धर्म हैं, मैं इन्हीं शब्दों में धर्म की व्याख्या करता हूँ। धर्म की आज की सारी परिभाषाएं एकांगी हैं। मैं धर्म के अन्तर्गत आध्यात्मिकता, भौतिकता, राष्ट्रीयता, सामाजिकता सभी तत्त्वों का समावेश करता हूँ। इन सभी पहलुओं वाले धर्म का मूल वेद है। इसलिए वेदों को केवल भौतिकशास्त्र या केवल अध्यात्म शास्त्र मानना एक भयंकर भूल है।

महर्षि दयानन्द ने अपने वेदभाष्यों से यह बात स्पष्ट कर दी कि वेद अखिल ज्ञान के भण्डार हैं। मनुजी ने अपनी स्मृति में स्पष्ट लिखा है कि—“एक वेद ज्ञाता सेनापति, राजा, दण्डशास्त्र के सभी काम कर सकता है, यहां तक कि वह सब लोगों का शासक भी बन सकता है।” यदि वेदों में राष्ट्रीय-भावना के तत्त्व न हों, तो मनुजी का यह दावा असत्य होगा।

राष्ट्रीय भावना

वेदों के इसी राष्ट्रीयता के पक्ष ने मुझे अपनी और आकर्षित किया। “वैदिक राष्ट्रगीत”, “वैदिक प्रार्थनाओं की तेजस्विता” आदि अपने लेखों में मैंने वेदों के इसी पक्ष को जनता के सामने प्रस्तुत किया। मेरे इन लेखों से अंग्रेज सरकार घबरा गई थी। इन लेखों में मैंने यहीं दिखलाने का प्रयास किया था कि वैदिक ऋषि जटा और दाढ़ी बढ़ाकर, जंगलों में जाकर, कन्दमूल पर अपना जीवन निवाहि करके रहने वाले असम्भव या अर्धसम्भव नहीं थे। वे बड़े प्रजावान् और दूरदर्शी थे। उनके सामने अपने राष्ट्र के भविष्य का पूरा नक्शा था। राष्ट्र की उन्नति और विकास का उद्देश्य उनके सामने था। आज से हजारों साल पहले उन्होंने राष्ट्रधारक तत्त्वों का अनुशीलन करके नेताओं की योग्यता निश्चित कर दी थी। राष्ट्र को धारण करने वाले तत्त्वों का वर्णन अथर्ववेद का ऋषि इस प्रकार करता है—

सत्यं बृहदृतमुपरं दीक्षा तपो ब्रह्म यज्ञः पृथिवीं धारयन्ति ।
सा नो भूतस्य भव्यस्य पत्ती उरुं लोकं पृथिवी नः कृणोतु ॥
(अथर्व० १२।१।१)

“सत्य, बृहद्भाव, वीरता, चतुरता, तपस्या, ज्ञान और संगठन मातृभूमि को धारण करते हैं। वह मातृभूमि हमें प्रजाओं के भूत और भविष्य का पालन करने वाली हो, तथा हमारे लिए कार्यक्षेत्र को विस्तृत करे।”

मातृभूमि का सच्चा सेवक मातृभूमि की सेवा के लिए ही जीता और मरता है। उसकी भूत और भविष्य की सभी योजनायें मातृभूमि की उन्नति के लिए ही होती हैं। वह अपने ज्ञान का प्रयोग मातृभूमि के विकास के लिए ही करता है। आज की स्थिति विपरीत है। आज भारत मां के सपूत इंगलैंड, अमेरिका आदि देशों में जाकर ज्ञान प्राप्त करते हैं, पर ज्ञान प्राप्त करके वे वहीं के नागरिक होकर वहीं रह जाते हैं। इस प्रकार उनके ज्ञान का लाभ उन देशों को ही होता है और भारत माता तरसती रह जाती है। यह शासकों का काम है कि वे ऐसे निष्णात विद्वानों को बुलाकर उन्हें उनकी योग्यता के अनुसार कार्यक्षेत्र देकर मातृभूमि की सेवा का अवसर प्रदान करें।

विविधता में एकता

वैदिक काल में भी भारत में अनेक भाषा-भाषी और नाना धर्म वाले लोगे थे । पर श्रावजी की तरह भाषावार प्रान्त के रूप में भारत दुकड़ों में बंटा हुआ नहीं था और न ही भाषावाद के ज्ञागड़े थे । सारा भारत अखण्ड था और सभी जन नानाभाषा-भाषी होने पर उनमें ही प्रेम से रहते थे, जिस प्रकार एक परिवार के लोग रहते हैं—

जनं विभित्ती व्युधा विवादसं नानाधर्माणं पृथिवी यथोक्तसम् ।

सहस्रं धारा प्रविष्टये मे दुर्हा भ्रुवेष्व वैवरनपस्तुरम्ती ॥ (अथवै० १२।१।४५)

"यह हमारी मातृभूमि नाना भाषा-भाषी तथा नाना कर्तव्य करने वाले मनुष्यों को एक घर के समान धारण करती है, वह लात न मारने वाली गाय के समान प्रशंन होकर मेरे लिए धन की हजारों धाराओं को दुर्हा ।" एक राष्ट्र में विविधता स्वाभाविक है, पर उनमें विवरण न होकर संघटन हीता चाहिए । संघटन ही राष्ट्र की शक्ति है । ऋग्वेद के "संगठन सूक्त" में वेदों का सन्देश है—

सं गच्छत्वं सं वद्धत्वं सं वो मनासि जानताम् । वेदा भागं यथा प्रूपे तंजानाना उपासते ॥

समानी व आकृतिः समाना हृदयानि वः । समानमस्तु वो मनो यथां वः सुमहासति ॥

(ऋ० १०।१६।१। और ४)

"हे राष्ट्र की प्रजाओ ! तुम सब एक साथ मिलकर प्रेम से चलो, प्रेम से बोलो, तुम्हारे मन उत्तम हों, जिस प्रकार पहले विद्वान्माण ज्ञानपूर्वक राष्ट्र की उपासना करते चले आए, उसी प्रकार तुम भी करो । तुम्हारे संकल्प, तुम्हारे हृदय और तुम्हारे मन एक समान हों ।"

वेदों में अनेक विद्याएं

राष्ट्र की सुरक्षा का प्रश्न उस काल में भी बहुत महत्वपूर्ण समझा जाता था । राष्ट्र की सुरक्षा के लिए ही सैनिकों की व्यवस्था की जाती थी । वैदिककालीन सैन्य व्यवस्था देखकर मुझे बड़ा आश्चर्य होता है । सैन्य व्यवस्था का वर्णन महतों के मंत्रों में मिलता है । सात-सात सैनिकों की सात पंक्तियां होती थीं, उनकी भी रक्षा के लिए पार्श्वरक्षक नियुक्त किए जाते थे, इस प्रकार ६३ सैनिकों की एक दुकड़ी होती थी । यह सेना बड़ी ही अनुशासित और अपनी सेना को विश्व विजयी बनाया । दूसरी तरफ वेदों के जन्मदाता भारत में सेना अवैवस्थित और अनुशासन-हीन थी, उसका परिणाम यह हुआ कि यह देश कई बार विदेशियों द्वारा पद्धतित हुआ । पैशावाओं के शासनकाल में वेदपाठियों को ३ लाख ८० वार्षिक दक्षिणा दी जाती थी, पर वे वेदपाठी केवल मंत्रपाठ ही करते थे, अयंज्ञान की तरफ उनकी कभी प्रवृत्ति नहीं हुई । पैशावाओं की सेना उसी प्रकार अव्यवस्थित रही, इसीलिए वे पराजित हुए । वेदों में सैन्य-व्यवस्था का वर्णन विलुप्त आधुनिक पद्धति की तरह ही है ।

इसके अलावा वेदों में शाल्यक्रिया, कायाकल्प, चिकित्सा शास्त्र, स्वराज्य शास्त्र, प्राकृतिक चिकित्सा, मेस्मरिज्म, हिप्पोटिज्म, भनोविज्ञान, तत्त्वज्ञान, सृष्टिविज्ञान, ऋग्यज्ञान आदि अनेकों विषयों का विस्तृत वर्णन है ।

वेदों की सब प्रार्थनाओं में तेजस्विता भरी पड़ी है। वेदमंत्रों का ज्ञान मनुष्यों को उत्साहित और बलशाली बनाता है। ऋषियों ने देवों के माध्यम से जनता को वीरता और शक्ति का संदेश दिया था।

संस्कृत और संस्कृति

भारत राष्ट्र की उन्नति के लिए वेदों का ज्ञान अत्यन्त आवश्यक है। मेरी अभिलापा यह है कि स्कूलों में प्रारम्भ से ही धर्म शिक्षा का प्रबन्ध किया जाए, इससे विद्यार्थियों के नैतिक चरित्र में सुधार होगा और आगे जाकर वे भारत मां के सच्चे सेवक बन सकेंगे। इसी दृष्टि से मैं संस्कृत भाषा के प्रचार का भी पक्षपाती हूं। संस्कृत भाषा में ही भारतीय संस्कृति प्रतिबिम्बित होती है।

जब तक हम अपनी भाषाओं का आदर करना नहीं सीखेंगे और विदेशी भाषा को ही हृदय से चिपटाये रहेंगे, तब तक हमारी या हमारे राष्ट्र की उन्नति सम्भव नहीं। इसलिए सभी भारतीयों को चाहिए कि वे अपने देश, अपनी भाषा और अपनी संस्कृति से प्रेम करें। भारत के हर विद्यालय में संस्कृत भाषा को अनिवार्य किया जाए। मैं तो यह चाहूंगा कि तीसरी या चौथी कक्षा से ही संस्कृत भाषा के अध्यापन का प्रबन्ध हो। संस्कृत भाषा प्रचार की दृष्टि से स्वाध्याय मण्डल संस्था के माध्यम से हम प्रयत्न कर रहे हैं। इस संस्था के द्वारा संस्कृत में परीक्षाएं चलाई जाती हैं। इन परीक्षाओं के करीब १३०० केन्द्र हैं, जिनमें प्रति वर्ष ४०-४५ हजार विद्यार्थी सम्मिलित होते हैं।

इसी प्रकार स्वाध्याय मण्डल ने आज तक वेदों के विषय में करीब ४०० पुस्तकों प्रकाशित की हैं। सम्प्रति कृज्ञवेद और महाभारत के हिन्दी अनुवाद का काम चल रहा है। अर्थर्ववेद और सामवेद के हिन्दी अनुवाद का काम समाप्त हो चुका है। कृज्ञवेद और यजुर्वेद बाकी हैं। इनके बाद उपनिषद्, ब्राह्मण और आरण्यकों के हिन्दी अनुवाद के प्रकाशन की भी हमारी योजना है, जो बहुत ही व्ययसाध्य है और यह प्रवण्ड काम जनता-जनार्दन के सहस्र हाथों की सहायता के अभाव में होने वाला नहीं है। अतः जनता-जनार्दन से मेरी यही प्रार्थना है कि वह यथाशक्ति हमारी सहायता करे।

अन्त में अध्यक्ष महोदय, सत्कार समिति के सदस्य एवं आप सब अभ्यागतों का इस सत्कार के लिए मैं आभारी हूं। और

देवानां भैद्रा सुमतिकृञ्जूयतां देवानां रातिरभि नो नि वर्तताम् ।

देवानां सत्यमुप सेदिमा वयं देवा न आयुः प्रतिरन्तु जीवसे ॥

“हम सब देवों की उत्तम बुद्धियों को प्राप्त करें। देवों के सारे ऐश्वर्य हमें प्राप्त हों। देवों की मित्रता में हमेशा रहें और देवगण भी उत्तम रीति से जीने के लिए हमारी आयु को दीर्घ करें।”

ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः

(व्यक्ति में शान्ति हो, राष्ट्र में शान्ति हो, विश्व में शान्ति हो।)

पुस्तक-सूची

पण्डितजी अब तक ४१० पुस्तकें लिख चुके हैं। आंध में स्वाध्याय मण्डल के ग्रन्थागार में आग लग जाने के कारण इस समय कुछ पुस्तकें सर्वथा अप्राप्य हो चुकी हैं, इसलिए इस सूची को पूरी नहीं कहा जा सकता। केवल हिन्दी में लिखी पुस्तकों की सूची यहाँ दी जा रही है—

- | | |
|---|---|
| १. ऋग्वेद का सुबोध भाष्य (चार भाग) | ३५. योग के आसन |
| २. अथर्ववेद का सुबोध भाष्य (पांच भाग) | ३६. आसनों का चित्रपट |
| ३. यजुर्वेद का सुबोध भाष्य | ३७. योगसाधन की तैयारी |
| ४. सामवेद (अर्थ व स्पष्टीकरण) | ३८. सूर्य नमस्कार |
| ५. अथर्ववेद का सुबोध अनुवाद | ३९. सूर्य नमस्कारों का चित्रपट |
| ६. पुरुषार्थवोधिनी (गीता भाष्य) | ४०. सूर्य नमस्कार व्यायाम |
| ७. गो-ज्ञान-कोश (दो भाग) | ४१. वैदिक स्वराज्य की महिमा |
| ८. बाल्मीकि रामायण | ४२. वैदिक सर्वविद्या |
| ९. उपनिषद् भाष्य | ४३. वेद में चर्खा |
| १०. महाभारत | ४४. वेद में लोहे के कारखाने |
| ११. संस्कृत पाठमाला (२४ भाग) | ४५. मानवी आयुष्य |
| १२. वेद का स्वयंशिक्षक (दो भाग) | ४६. इन्द्रशक्ति का विकास |
| १३. ऋग्वेद संहिता | ४७. वेद में कृषि-विद्या |
| १४. यजुर्वेद संहिता | ४८. ऋग्वेद में रुद्र देवता |
| १५. सामवेद संहिता | ४९. वैदिक अग्नि विद्या |
| १६. अथर्ववेद संहिता | ५०. वैदिक चिकित्सा |
| १७. यजुर्वेद काण्ड संहिता | ५१. शतपथ बोधामृत |
| १८. यजुर्वेद तैत्तिरीय संहिता | ५२. यजुर्वेद संस्कार भाष्यम् |
| १९. यजुर्वेद मैत्रायणी संहिता | ५३. परमात्मा, जीवात्मा और विश्व |
| २०. यजुर्वेद काठक संहिता | ५४. वेदगीता और भगवद्गीता |
| २१. दैवत संहिता (तीन भाग) | ५५. वेद-रत्नाकर |
| २२. यजुर्वेद सर्वानुक्रम सूत्रम् | ५६. वैदिक राष्ट्रगीत |
| २३. यजुर्वेद वा० स० पादसूची | ७५. दीर्घायु किसे प्राप्त हो ? |
| २४. यजुर्वेद मैत्रायणीयमारण्यकम् | ५८. एकादशी का उपवास |
| २५. मरुदेवता मन्त्रसंग्रह समन्वय चरण सूची | ५९. पुरुष सूक्त |
| २६. ग्रामगेय | ६०. वेद काव्य-सुधा |
| २७. ऊहगान (दो भाग) | ६१. स्पिनोजा और उसका दर्शन |
| २८. वेद-परिचय (तीन भाग) | ६२. छत्रपति शिवाजीका महाराज जयसिंहको पत्र |
| २९. श्रीमद्भगवद्गीता लेखमाला | ६३. हिन्दी मुसलमानों के कारनामों का कच्चाचिट्ठा |
| ३०. भगवद्गीता श्लोकार्थ सूची | ६४. द्वूत और अद्वूत (दो भाग) |
| ३१. गीता का राजकीय तत्वालोचन | ६५. सन्ध्योपासना |
| ३२. श्रीमद्भगवद्गीता (श्लोक और अर्थ) | ६६. मंगलमूर्ति गणेश |
| ३३. वैदिक व्याख्यान माला (४८ भाग) | ६७. विष्णु सहस्रनाम |
| ३४. ब्रह्मचर्य | ६८. आयों का भगवाध्वज |